इकाई-1 प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की आधारभूत अवधारणा

इकाई की रूपरेखा -

1.0 उद्देश्य

1.1 परिचय

1.2 प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का अर्थ एवं परिभाषा

1.3 विशेषताएँ

1.4 प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की मूल धारणाएं

1.5 प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की उपयोगिता तथा महत्व

1.6 प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का क्षेत्र

1.7 व्यावसायिक प्रबन्ध में अर्थशास्त्र के उपयोग के पहलू

1.8 प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र एवं परम्परागत अर्थशास्त्र में अन्तर

1.9 प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का अन्य विषयों से सम्बन्ध

1.10 सारांश

1.11 शब्दावली

1.12 स्वपरख प्रश्न

1.13 संदर्भ ग्रन्थ

1.0 उद्देश्य

इस अध्याय को पढ़ने के पश्चात् आप समझ पायेंगे -

1 प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का अर्थ एवं परिभाषा

2 प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की मूल धारणायें

3 प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की प्रकृति, उपयोगिता एवं महत्व

4 प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का क्षेत्र

5 प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का अन्य विषयों से सम्बन्ध

1.1 परिचय

किसी भी तरह के व्यावसायिक अथवा औद्योगिक संगठन में तरह तरह के निर्णय लिये जाते है । उस संगठन की सफलता, उस निर्णय के सही होने पर निर्भर करती है । व्यावसायिक निर्णय सही हो इसके लिये यह आवश्यक है कि निर्णय लेने से पूर्व सभी विकल्पों पर विचार करके श्रेष्ठ विकल्प को चुना जाय । श्रेष्ठ विकल्प का चुनाव करने के लिये अर्थशास्त्र, प्रबन्ध विज्ञान तथा लेखाशास्त्र के सिद्धान्तों का वृहद् ज्ञान होना आवश्यक है, जो केवल प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में ही हो सकता है । अत: सही निर्णय के लिये प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का ज्ञान होना नितान्त आवश्यक है ।

वर्तमान युग में वाणिज्यक तथा औद्योगिक संगठन की समस्यायें पहले की तुलना में बहुत अधिक जटिल हो गई है । जहां पहले व्यावसायिक समस्याओं के समाधान तथा विश्लेषण में आर्थिक सिद्धान्तों का उपयोग सीमित था, वही वर्तमान में प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र के माध्यम से नवीन धारणाएँ, वैज्ञानिक विधियां, गणितीय पद्धतियों तथा संक्रिया विज्ञान का प्रचलन बढ़ता जा रहा है ।

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र तथा व्यावसायिक अर्थशास्त्र दो शब्द है जिनका एक दूसरे के स्थान पर उपयोग किया जाता रहा है । हाल ही के वर्षो में प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की लोकप्रियता में बढ़ोतरी हुई है और व्यावसायिक अर्थशास्त्र का स्थान प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र ने ले लिया है । प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र आधुनिक व्यवसायों के प्रभावपूर्ण एवं सुव्यवस्थित ढंग से प्रबन्धन के लिए एक शक्तिशाली संयन्त्र बन गया है जिससे प्रबन्धकों को सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्त होता है ।

1.2 प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का अर्थ एवं परिभाषा

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र को व्यावसायिक अर्थशास्त्र अथवा फर्मो का अर्थशास्त्र भी कहा जाता है । प्रबन्ध विज्ञान के विकास के साथ-साथ अब प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र शब्द का ही अधिक प्रयोग किया जाता है । प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र उन आर्थिक सिद्धान्तों, तर्को एवं प्रविधियों का अध्ययन है जिनका उपयोग व्यवसाय की व्यावहारिक समस्याओं के हल के लिए किया जाता है । अत: प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र आर्थिक ज्ञान अथवा आर्थिक विज्ञान का वह भाग है जिसका व्यवसाय-जगत की समस्याओं के विश्लेषण में विवेकपूर्ण व्यावसायिक निर्णय लेने में उपयोग किया जाता है । प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की कुछ प्रमुख परिभाषाएं निम्नलिखित हैं -

1 **प्रो- मेन्सफील्ड** के अनुसार " प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का सम्बन्ध विवेकपूर्ण प्रबन्धकीय निर्णयों के बनाने की समस्याओं में आर्थिक अवधारणाओं तथा आर्थिक विश्लेषण को लागू करने से है । "

2 **हेन्स मोट एवं पॉल** के अनुसार, "प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र निर्णय लेने में प्रयुक्त किया जाने वाला अर्थशास्त्र है । यह निरपेक्ष सिद्धान्त और प्रबन्धकीय व्यवहार के बीच खाई पाटने वाली अर्थशास्त्र की एक विशेष शाखा है । '

3 **स्पेन्सर एवं सीगलमेन** के अनुसार, "प्रबन्ध को निर्णय लेने और भावी नियोजन में सुविधा प्रदान करने के लिए आर्थिक सिद्धान्त का व्यावसायिक व्यवहार के साथ एकीकरण ही व्यावसायिक अर्थशास्त्र है । "

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र ज्ञान की वह शाखा है जिसमें आर्थिक सिद्धान्तों का व्यवसाय-प्रबन्ध के साथ एकीकरण किया गया है । प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र फर्थ में संसाधन आवंटन समस्या पर ध्यान केन्द्रित करता है । यह आर्थिक विश्लेषण के तरीकों एवं अस्त्रों का फर्म की समस्याओं के नियोजन प्रक्रिया तथा निर्णयन का अध्ययन करता है । इस प्रकार प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र फर्मो के निर्णय कारकों, व्यष्टि अर्थशास्त्र सिद्धान्तों तथा निर्णय विज्ञानों से विभिन्न प्रविधियों का सार

है जिनकी सहायता से व्यावसायिक प्रबन्धक अपने व्यावसायिक जगत की समस्याओं का समाधान खोजते हैं ।

1.3 विशेषतायें

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की विभिन्न परिभाषाओं के आधार पर इसकी अग्रलिखित विशेषतायें स्पष्ट होती हैं-

1 **व्यष्टि अर्थशास्त्र -** प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की प्रकृति, व्यष्टि अर्थशास्त्र की जैसी होती है। इसके अन्तर्गत एक फर्म की समस्याओं का अध्ययन किया जाता है ।

2 **वर्णनात्मक -** प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र वर्णनात्मक न होकर निर्धारक होती है । यह आर्थिक सिद्धान्तों एवं व्यावसायिक व्यवहारों के बीच एक सेतु का कार्य करता है । इसके अन्तर्गत नीति निर्धारण, निर्णयन तथा भावी नियोजन में आर्थिक सिद्धान्तों तथा आर्थिक विश्लेषण के प्रयोग का अध्ययन किया जाता है ।

3 **फर्म का सिद्धान्त -** प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र के अन्तर्गत 'फर्म के सिद्धान्त से सम्बन्धित अवधारणाओं और सिद्धान्तों का प्रयोग किया जाता है । इस सिद्धान्त के अन्तर्गत मांग एवं पूर्ति का विश्लेषण, लागत एवं आगम का विश्लेषण, साम्य उत्पादन-मात्रा तथा कीमत का निर्धारण, लाभ अधिकतम करना आदि का अध्ययन किया जाता है । वितरण के लाभ सिद्धान्त का अध्ययन भी किया जाता है ।

4 **समष्टि अर्थशास्त्र का प्रयोग -** प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में समष्टि अर्थशास्त्र का प्रयोग जाता है । इसके अध्ययन से व्यवसाय - प्रबन्धक को उस वातावरण की जानकारी प्राप्त होती है । जिसके अन्तर्गत उसकी फर्म को कार्य करना पड़ता है । एक व्यक्तिगत फर्म सम्पूर्ण आर्थिक प्रणाली का एक सूक्ष्म रूप होती है । अत: प्रबन्धक को बाह्य तत्वों जैसे व्यापार चक्र, राष्ट्रीय आय लेखांकन, सरकार की विदेश व्यापार-नीति, मूल्य नीति, श्रम नीति आदि के अनुरूप समायोजन करना होता है । क्योंकि इन तत्वों पर उसका नियंत्रण नहीं होता है । लेकिन इनका व्यवसाय पर प्रभाव अवश्य पड़ता है ।

5 **सेतु का कार्य -** हम यह अच्छी तरह से जानते है कि अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों व व्यवहार के मध्य अथाह समुद्र होता है, इस दूरी को पाटने के लिए सेतु की आवश्यकता पड़ती है । अर्थशास्त्र के सिद्धान्त हमें विभिन्न सिद्धान्तों को बताते हैं, परन्तु इन सिद्धान्तों का प्रबन्धकीय कार्यो में किस तरह से उपयोग हो सकता है, इसका ज्ञान प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र से होता है ।

6 **सिद्धान्तों के प्रयोग की विधि से अवगत कराना -** अर्थशास्त्र का ज्ञान केवल सिद्धान्तों की जानकारी प्रदान करता है, इन सिद्धान्तों का प्रयोग व्यावसायिक परिस्थितियों में किस प्रकार किया जाय इसकी श्रेष्ठ तकनीक के बारे में ज्ञान प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र से ही होता है । किन परिस्थितियों में एक फर्म को किस प्रकार अथवा किस विधि से निर्णय लेकर अपनी योजना प्रारम्भ करनी चाहिए, यह ज्ञान प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का अध्ययन क्षेत्र है ।

7 **निर्देशात्मक प्रकृति -** प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का ज्ञान व्यावहारिक पहलू प्रस्तुत करता है, अर्थात् निर्देशन प्रदान करता है न कि वर्णात्मक पहलू । प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र के द्वारा आर्थिक सिद्धान्तों को किस प्रकार व्यावसायिक प्रतिष्ठान में लागू किया जाय इसका ज्ञान होता है । जैसे मांग का नियम यह बताता है कि किसी वस्तु के मूल्य में गिरावट आने से वस्तु की मांग बढ़ती है, एवं वस्तु के मूल्य में वृद्धि होने पर उस वस्तु की मांग घटती है । अर्थशास्त्र इस बारे में कुछ भी जानकारी नहीं प्रदान करता है कि यह परिस्थिति अच्छी है या खराब, जबकि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र इस परिस्थिति के अच्छे अथवा बुरे परिणामों का विश्लेषण प्रस्तुत करके प्रबन्धकों के सामने प्रस्तुत करता है । व्यवहार में प्रबन्धकों को इस तरह का निर्देश मिलने पर ही, लाभकारी निर्णय लेने में सफलता मिलती है ।

8 **अधिक व्यावहारिक उपयोगिता -** प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों द्वारा व्यावसायिक समस्याओं का विश्लेषण करने से व्यवसाय के निर्णय और उसकी नीतियों का निर्धारण अधिक लाभकारी बन जाता है, अत: प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की व्यावहारिक उपयोगिता अधिक है ।

9 **प्रगतिशील विषय -** प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र के सिद्धान्त अन्य अर्थशास्त्र से उन्नत एवं प्रगतिशील है क्योंकि प्रबन्धकीय निर्णय लेने एवं उन्हें व्यवसाय में लागू करने, समस्याओं को समझने आदि कार्यो में कई आधुनिक उपकरणों, मॉडल्स बीज गणितीय सूत्रों, कम्प्यूटर आदि का प्रचुर मात्रा में उपयोग किया जाता है ।

10 नवीन विषय - प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र विषय का विकास मुख्यत: f}तीय विश्व युद्ध के बाद हुआ है । हमारे देश में तो आजादी के पश्चात् इस विषय का प्रयोग बढ़ा है । अत: यह विषय विकासशील तथा नवीन है, जो अपने विकास के प्रारम्भिक चरण में है, अत: नये-नये सिद्धान्तों की खोज हो रही है ।

1.4 प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की मूल धारणाएं

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की अधिकांश मूल धारणाएं अर्थशास्त्र से ली गई हैं । य।पि इनके प्रयोग की प्रक्रिया में अनेक संशोधन होते रहे हैं तथा इनमें से अधिकांश धारणाएं एक-दूसरे से संबंधित हैं । ये प्रबन्धन को वैज्ञानिक निर्णय-निर्माण और व्यावसायिक आयोजन की प्रक्रिया में अत्यधिक सहायक होती हैं तथा प्रबंधकीय अर्थशास्त्र को आधार प्रदान करती हैं । इनमें से प्रमुख धारणाएं निम्न हैं:-

1 व्यावसायिक उद्देश्य

फर्म के लाभ को अधिकतम करना प्रबंधन का एक-सूत्री उद्देश्य होता है । आधुनिक पूंजीवाद के विकास के फर्म का स्वामित्व व्यक्तिगत स्वामित्व के बदले अनेक शेयर धारकों के बीच बंटा होता है । विकसित अर्थव्यवस्थाओं के अन्दर बड़ी-बड़ी कम्पनियां उत्पादन पर अच्छी पकड़ रखती हैं तथा इनका प्रबन्धन कम्पनी के प्रचालनों को

नियंत्रित करता है क्योंकि इनका स्वामित्व बहु संख्या शेयर धारकों के हाथ में होता है । अत: फर्म का प्राथमिक उद्देश्य दीर्घकाल में भी अधिकतम लाभ प्राप्त करना है ।

2 दुर्लभता और चुनाव की धारणा

दुर्लभता और चुनाव की धारणा निर्णय-निर्माण की प्रक्रिया में मूल स्थान रखती है । अर्थशास्त्र दुर्लभ साधनों के वैकल्पिक प्रयोगों के आवंटन का अध्ययन है । दुर्लभता की समस्या इसलिए उत्पन्न होती है क्योंकि मानवीय आवश्यकताएं असीमित हैं और उनको पूरा करने के. साधन समिति हैं । इस प्रकार प्रबंधकीय निर्णय-निर्माण के लिए दुर्लभता और चुनाव, परस्पर संबंधी धारणा है, जैसे निवेश संसाधन तो सीमित होते हैं, अत: निवेश-निर्णय करते समय वैकल्पिक निवेश प्रोजेक्टों के बीच चुनाव करना होगा । इस सन्दर्भ में निर्णय-निर्माण का उद्देश्य इन संसाधनों के उपयोग को न्यूनतम करना या उपयोग किए गए संसाधनों से प्राप्त लाभ को अधिकतम करना होता है ।

3 संसाधनों का आवंटन

निवेश करते समय, कच्चे माल की खरीद के समय तथा श्रम को रोजगार देते समय प्रबन्धन का ध्यान संसाधनों के आवंटन पर होता है । चूंकि समाज के संसाधन सीमित होते हैं, अत: फर्म को इसके लिए कीमत चुकानी पड़ती है । इस संबंध में तीन प्रकार के निर्णय लेने पड़ते हैं ।

(क) उपलब्ध संसाधनों से कौन-सी वस्तु और सेवाएं उत्पादित की जाएं ?

(ख) विभिन्न प्रकार की वस्तुएं और सेवाएं उत्पादित करने के लिए उपलब्ध संसाधनों का किस तरह से संयोग बनाया जाए ?

(ग) ये वस्तु और सेवाएं किनके लिए उत्पादित की जाए

4 अवसर लागत की धारणा

अवसर लागत वह लागत है जो एक की बजाय दूसरी वस्तु को लेने में अवसर छिन जाने या वैकल्पिक त्याग में अथवा एक के स्थान पर दूसरी साधन-सेवा का प्रयोग करने में आती है । क्योंकि साधन दुर्लभ हैं, इसलिए एक साथ सब वस्तुओं का उत्पादन करने के लिए उनका उपयोग नहीं किया जा सकता । अत: यदि एक वस्तु के उत्पादन में उन्हें प्रयोग करना है, तो अन्य प्रयोगों से उनको हटा लेना होगा । इस प्रकार एक की लागत दूसरे की लागत का वैकल्पिक त्याग है ।

5 ह्रासमान मान सीमान्त प्रतिफल का नियम

ह्रासमान प्रतिफल का नियम 'उतना ही सार्वभौमिक है जितना जीवन का नियम । घटते सीमान्त प्रतिफल नियम उस स्थिति में प्रकट होता है जब हम साधनों के किसी संयोग में अन्य साधनों (जैसे-भूमि,श्रम) की अपेक्षा एक साधन (जैसे पूंजी) का अनुपात बढ़ाते हैं, तो एक बिन्दु के बाद उस साधन का सीमान्त और औसत उत्पादन घटता जाएगा । उदाहरणार्थ, यदि अतिरिक्त मशीनें लगाकर एक प्लांट बढ़ा दिया जाए तो वह संभावना कठिन हो जाती है । उद्यमीय नियंत्रण और देखभाल शिथिल हो जाती है और घटता प्रतिफल शुरू हो जाता है या फिर प्रशिक्षित श्रम या कच्चे माल की कमी हो सकती है

जिससे उत्पादन घट जाता है । वास्तव में, कोई दो साधन पूर्ण स्थानापन्न नहीं होते । यही कारण है कि घटते प्रतिफल का नियम सब उद्योगों पर लागू होता है।

6 सीमान्त एवं वृद्धिशील सिद्धान्त

व्यावसायिक प्रबन्धन के क्षेत्र में सीमान्त धारणा को वृद्धिशील सिद्धान्त से स्थानापन्न किया जा सकता है । वृद्धिशील धारणा सीमान्त धारणा की अपेक्षा अधिक लोचशील है। वृद्धिशील सिद्धान्त के अन्तर्गत आय और लागत जैसे आर्थिक चारों पर वैकल्पिक निर्णयों के प्रभाव का अध्ययन किया जाता है । यह कीमतों, वस्तुओं, प्रक्रियाओं, निवेशों या निर्णयों के अन्य पहलुओं में परिवर्तनों के परिणामस्वरूप कुल लागत तथा कुल आय में हुए परिवर्तनों को बताता है । वृद्धिशील विश्लेषण के दो पहलू हैं, वृद्धिशील लागत और वृद्धिशील आय । निवेश, उत्पादन-स्तर आदि में परिवर्तन अथवा किसी निर्णय के फलस्वरूप कुल लागत में हुए परिवर्तन को वृद्धिशील लागत कहते हैं । दूसरी ओर, उत्पादन-स्तर, कीमत आदि में परिवर्तन के परिणामस्वरूप कुल आय में हुए परिवर्तन को वृद्धिशील आय कहते हैं । निर्णय लेते समय प्रबंधक का उद्देश्य यह रहता है कि वृद्धिशील आय, वृद्धिशील लागत से अधिक हो ।

7 सम-सीमान्त धारणा

रस्म-सीमान्त धारणा, अर्थशास्त्र की अति प्रचलित और प्रसिद्ध धारणा है । चूँकि संसाधन सीमित होते हैं, अत: एक मूल प्रश्न यह है कि संसाधनों का इष्टतम आवंटन कैसे किया जाए ? यह धारणा संसाधनों के आवंटन में इष्टतम स्थिति के निर्धारण में अति महत्वपूर्ण है । इस धारणा के अनुसार, किसी उत्पादन साधन का उपयोग विभिन्न क्रियाओं के इस अनुपात में होना चाहिए कि साधन की अंतिम इकाई द्वारा बढ़ा हुआ मूल्य इसके सभी उपयोगों में समान हो ताकि इष्टतम स्तर प्राप्त किया जा सके ।

इस धारणा की तीन मान्यताएं हैं: (i) संसाधन दिए हुए हैं, (ii) संसाधनों का वैकल्पिक उपयोग होता है, तथा (iii) घटती सीमान्त उपयोगिता 7 प्रतिफल का नियम काम कर रहा है ।

यदि सीमान्त वस्तु का मूल्य एक क्रिया की तुलना में दूसरी क्रिया में अधिक हो तो वह इष्टतम आवंटन की स्थिति नहीं होगी । अत: फर्म के लिए साधनों को कीमतों की क्रियाओं से ऊंची कीमतों की क्रियाओं की ओर ले जाना लाभदायक होगा जिससे सभी वस्तुओं की कुल कीमत बढ़ेगी ।

8 समय सापेक्ष की धारणा

अर्थशास्त्री अपने विश्लेषण में फलनात्मक समय अवधियों की अल्पकाल और दीर्घकाल धारणाओं का व्यापक प्रयोग करते हैं। अल्पकाल और दीर्घकाल का यह समय सापेक्ष व्यावसायिक निर्णय-निर्माण में भी अति महत्वपूर्ण है । निर्णय-निर्माण में अल्पकालीन और दीर्घकालीन विचारों के बीच सही संतुलन बनाए रखने की समस्या महत्वपूर्ण है । जैसा होन्स, मोट एवं पॉल ने कहा है: "कोई भी निर्णय लेते समय आगम या आय और लागत पर पड़ने वाले अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन दोनों ही प्रभावों को ध्यान में

रखा जाना चाहिए तथा अल्पकालीन और दीर्घकालीन प्रभावों के बीच सही संतुलन कायम रखा जाना चाहिए । " विशेषकर, प्रबंधन के लिए निर्णय से लागत और आय पर दीर्घकालीन प्रभावों का मूल्यांकन आवश्यक होता है । अत: एक विवेकपूर्ण, आर्थिक निर्णय वही होगा जिसमें आगमों और लागतों पर निर्णय के अल्पकालीन और दीर्घकालीन दोनों प्रभावों का विचार किया गया हो ।

9 कटौती की धारणा

कटौती की धारण समय-सापेक्ष की धारणा का बडा रूप है । मुद्रा का समय-मूल्य तीन कारणों से होता है: (1) मुद्रा की अर्जन शक्ति, (2) स्फीति या अवस्फीति, और (3) अनिश्चितता ।

मुद्रा में अर्जन-शक्ति होती है, जिसे मुद्रा की अवसर लागत द्वारा व्यक्त किया जाता है। अत: इसे बैंक में जमा करने पर ब्याज तो कमाया ही जा सकता है । मुद्रा के इसी गुण के कारण आज की मुद्रा आने वाले कल की अधिक मुद्रा के बराबर होती है ।

स्फीति के कारण भी आज का एक रूपया भविष्य के रूपए से अधिक मूल्यवान है । स्फीति के दौरान ये सभी घटक एक दिशा में काम करना शुरू कर देते हैं । फलस्वरूप आज की मुद्रा, भविष्य की समान मुद्रा से अधिक मूल्यवान होती है । दूसरी ओर, अवस्फीति के दौरान गिरती कीमतों के कारण भविष्य में मुद्रा का मूल्य गिरता चला जाता है । इसी तरह भविष्य अज्ञात, अनिश्चित और अमापनीय है और इसमें अत्यधिक जोखिम है । आज की मुद्रा निश्चित है परन्तु इसे भविष्य में देने का वादा अनिश्चित है ।

10 बर्हिभाव

सीमांत निजी व सामाजिक लागतों एवं प्रतिफलों (लाभों) के बीच अन्तर बहिर्भाव या बाह्य प्रभाव या बाह्य मितव्ययिताएं कहलाती हैं । बहिर्भाव धनात्मक और ऋणात्मक होते हैं । यदि निजी लागतों से सामाजिक लागतें अधिक होती हैं तो यह ऋणात्मक बहिर्भाव होते हैं और यदि निजी लाभों से सामाजिक लाभ अधिक होते हैं तो यह धानात्मक बहिर्भाव कहलाते हैं । वास्तव में, बहिर्भाव मार्किट अपूर्णताएँ होती हैं जहां वस्तु की सेवा या असेवा के लिए मार्किट कोई कीमत प्रदान नहीं करती है । इन बहिर्भावों से साधनों का कुवितरण होता है जिससे उत्पादन इष्टतम स्तर से कम रह जाता है । इस प्रकार बाह्य प्रभावों के कारण अधिकतम सामाजिक कल्याण नहीं हो पाता । बाह्य मितव्ययिताओं तथा अमितव्ययिताओं के पाए जाने से ही निजी उत्पादन तथा सामाजिक उत्पादन में भिन्नता होती है जिससे सामाजिक और निजी लागतों तथा लाभों में अन्तर पाया जाता है ।

11 जोखिम और अनिश्चितता

व्यावसायिक निर्णय-निर्माण और आयोजन भविष्य से संबंधित होते हैं । भविष्य अज्ञात, अनिश्चित और अमापनीय है । अत: इसमें अत्यधिक जोखिम है । भविष्य की अनिश्चितता लागतों और लागत के अनुमानों को प्रभावित करती है जिससे निर्णय के नतीजों में जोखिम और अनिश्चितता पाई जाती है। साथ ही प्रतियोगिताओं की क्रियाओं

और प्रतिक्रियाओं संबंधी अनिश्चितता, उपभोक्ताओं' का परिवर्तनशील चुनाव और अप्रत्याशित वातावरण-संबंधी परिवर्तन, जैसी सरकारी नीतियों में परिवर्तन, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक परिदृश्य आदि अनिश्चितता के इन सभी तत्वों पर विचार करना एक सफल प्रबंधकीय निर्णय के लिए आवश्यक शर्त है । अत: निश्चितता के माप की समस्या प्रमुख है ।

1.5 प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की उपयोगिता तथा महत्व

वर्तमान युग में प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की उपयोगिता तथा महत्व को निम्न, प्रकार समझा जा सकता है ।

1 **आर्थिक मामलों में सलाह -** आर्थिक मामलों में उपयोगी सलाह देकर यह प्रबन्धकों को भावी नियोजन व निर्णय में सहायता प्रदान करता है ।

2 **अनिश्चितताओं में कमी -** प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र भविष्य की अनिश्चितताओं को कम करके जोखिम में कमी करता है । यह व्यवसाय में सफल पूर्वानुमानों के द्वारा प्रबन्धकों को उचित निर्णय लेने में मदद करता है ।

3 **विश्वसनीय पूर्वानुमान -** प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री मूल्यों, विक्रय, पूंजी व मांग तालिकाओं का पूर्वानुमान करके भावी नियोजन के लिए आवश्यक सामग्री उपलब्ध करते हैं । बाजार अनुसन्धान द्वारा उत्पादन में महत्वपूर्ण परिवर्तन किये जा सकते हैं ।

4 **मितव्ययितापूर्ण संचालन -** प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री फर्म के विभिन्न क्षेत्रों में आर्थिक विश्लेषण करके विभिन्न क्षेत्रों में बचत को बढ़ावा दे सकता है । प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री फर्म की आंतरिक व बाहरी परिस्थितियों का विश्लेषण करके उत्पादन व वितरण में सामंजस्य स्थापित कर लागत में कमी करके भी मितव्ययिता को बढ़ा सकता है ।

5 **फर्म की प्रतिस्प्रर्द्धात्मक शक्ति में वृद्धि -** फर्म के विश्वसनीय पूर्वानुमान, मितव्ययतापूर्ण संचालन व लागतों में कमी के द्वारा फर्म की प्रतिस्पर्द्धा शक्ति बढ जाती है । यह फर्म अन्य फर्मो से किसी भी तथ्य के सम्बन्ध में मुकाबला कर सकती है ।

6 **लाभ अर्जन क्षमता में वृद्धि -** प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री किसी भी तथ्य व समस्याओं के सम्बन्ध में उपयोगी सलाह देकर फर्म की लाभ अर्जन शक्ति में वृद्धि कर सकता है । फर्म की स्थिति सु–ढ़ होती है ।

7 **सरकारी नीतियों का क्रियान्वयन -** आजकल व्यापार में सरकारी हस्तक्षेप बढ़ता जा रहा है । प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री फर्म की नीतियों को सरकार के अनुसार परिवर्तित करके या सरकार द्वारा अपने अनुसार नीतियां बनाकर फर्म को सरकारी हस्तक्षेप से बचा सकता है ।

8 **बाहरी परिस्थितियों से तालमेल -** प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र द्वारा बाहरी परिस्थितियों से तालमेल रखने में सहायता मिलती है । इसके द्वारा फर्म अपनी नीतियों में मौद्रिक नीति, राजकोषीय नीति मूल्य नीति आदि का प्रयोग कर सकने में सफल होती है ।

1.6 प्रबन्धकी अर्थशास्त्र की प्रकृति

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की प्रकृति का अध्ययन करने के लिए हमें देखना है कि यह विज्ञान है अथवा कला अथवा दोनों है । यदि विज्ञान है तो यह वास्तविक विज्ञान है अथवा आदर्श विज्ञान ।

किसी भी विषय के सुव्यवस्थित ज्ञान को विज्ञान कहते हैं जिसके अन्तर्गत कारण एवं परिणाम के बीच सम्बन्ध का अध्ययन किया जाता है । विज्ञान वास्तविक एवं आदर्श दो प्रकार का होता है । वास्तविक विज्ञान वस्तु स्थिति का अध्ययन करता है अर्थात् क्या है ? का अध्ययन ही वास्तविक विज्ञान कहलाता है । इसके विपरीत आदर्श विज्ञान के अन्तर्गत आदर्श अर्थात् क्या होना चाहिए ? का अध्ययन किया जाता है । प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में व्यावसायिक फर्म की आर्थिक क्रियाओं का सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों पहलुओं से अध्ययन किया जाता है । यह, यह दर्शाता है कि फर्म की समस्याओं के हल करने में आर्थिक सिद्धान्तों का प्रयोग किस प्रकार किया जाये ।

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र कला भी है कला का किसी कार्य को करने की सर्वोत्तम विधि से आशय होता है । प्रत्येक व्यावसायिक फर्म के साधन सीमित होते हैं तथा इनके वैकल्पिक प्रयोगों में सर्वश्रेष्ठ का चयन करता है तथा व्यावसायिक अनिश्चितता एव अस्थिरता के वातावरण में प्रबन्धक द्वारा निर्णय लेने तथा भावी नियोजन की प्रक्रिया को सरल बनाता है ।

1.7 प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का क्षेत्र

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र एक नवीनतम विषय है । इस विषय के क्षेत्र के सम्बन्ध में विभिन्न लेखकों में मतभेद हैं। कुछ विद्वान लेखक उत्पादन प्रबन्ध के रेखीय कार्यक्रम बनाना और संक्रिया अनुसंधान, सामग्री प्रतिरूप, खेलों का सिद्धान्त आदि को प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र के अन्तर्गत सम्मिलित करते हैं तथा अन्य कुछ विद्वान इस मत से सहमत नहीं है । फिर भी प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र के क्षेत्र के अन्तर्गत निम्नलिखित पहलुओं को सम्मिलित करने में अधिकांश विद्वान सहमत हैं ।

1 **फर्म का सिद्धान्त** -इस सिद्धान्त के अन्तर्गत फर्म का मॉडल, फर्म के उद्देश्य, फर्म का सिद्धान्त तथा फर्म की कार्य-प्रणाली का अध्ययन किया जाता है ।

2 **मांग विश्लेषण एवं पूर्वानुमान -** मांग विश्लेषण प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का एक महत्वपूर्ण भाग है । अधिकांश प्रबन्धकीय निर्णय और व्यावसायिक नियोजन की कुशलता मांग के सही पूर्वानुमान पर निर्भर करती है । इसके अन्तर्गत मांग का नियम, मांग वक्र, मांग की लोच, मांग के निर्धारक तत्व, मांग के प्रकार तथा मांग क़े पूर्वानुमान की विवेचना की जाती है ।

3 **लागत और उत्पादन विश्लेषण -** प्रभावपूर्ण लाभ नियोजन, नियंत्रण और सुदृढ़ प्रबन्धकीय व्यवहार के लिए लागत विश्लेषण आवश्यक है । लागत विश्लेषण से अनुमानित लागत में परिवर्तन लाने वाले तत्वों का पता लगता है । उत्पादन विश्लेषण उत्पादन की भौतिक इकाइयों में किया जाता है । इस भाग के अन्तर्गत लागत की

अवधारणा, लागत वक्र, लागत और सीमान्त विश्लेषण, लागत वर्गीकरण और लागत-उत्पादन सम्बन्ध पैमाने की मितव्ययिताऐं और अमितव्ययिताऐं, उत्पादन वर्गीकरण और लागत-उत्पादन सम्बन्ध, पैमाने की मितव्ययिताएं और अमितव्ययिताएं, उत्पादन प्रकार्य और रेखीय कार्यक्रम की विवेचना की जाती है ।

4 **प्रतिस्पर्धा -** विभिन्न प्रतियोगी दशाओं से एक व्यावसायिक फर्म के निर्णय प्रभावित होते हैं । इसके अन्तर्गत बाजार की विभिन्न प्रतियोगी दशाओं का अध्ययन किया जाता है ।

5 **मूल्य प्रणालियां और नीतियां -** मूल्य निर्धारण प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का एक महत्वपूर्ण पहलू है । एक व्यावसायिक फर्म की सफलता उसकी सही मूल्य नीति पर निर्भर करती है । इसके अन्तर्गत विभिन्न प्रतियोगी दशाओं में मूल्य निर्धारण व्यावसायिक फर्मो की मूल्य नीतियों, मूल्य निर्धारण की वैकल्पिक पद्धतियों, मूल्य विभेद नीति, उत्पादन-श्रेणी मूल्य निर्धारण और मूल्यों के पूर्वानुमान का अध्ययन किया जाता है ।

6 **लाभ प्रबन्ध** - प्रत्येक व्यवसाय का दीर्घकालीन उद्देश्य लाभ कमाना होता है । प्रत्येक व्यवसाय की सफलता उसके लाभों से आंकी जाती है । लाभ कुल लागतों एवं कुल आगमों का अन्तर होता है । इनमें अनिश्चितता पायी जाती है । अत: प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र के अन्तर्गत लाभों प्रभावित करने वाले सभी आन्तरिक और बाह्य तत्वों पर विचार करके इनकी सही भविष्यवाणी करने के उस किये जाते हैं । इसके अन्तर्गत लाभ की प्रकृति और उसकी माप, समुचित लाभ-नीति का चुनाव, लाभ-नियोजन और लाभ नियंत्रण की प्रविधियों जैसे सन्तुलन स्तर विश्लेषण तथा लागत नियंत्रण का अध्ययन किया जाता है ।

7 **पूंजी बजटन -** पूंजी बजटन पूंजीगत व्ययों के नियोजन और उन पर समुचित नियंत्रण से सम्बन्ध रखता है । पूंजी विनियोगों के लिए धन की आवश्यकता होती है, इनसे विनियोजित पूंजी को सरलता से वापिस नहीं लिया जा सकता है और ये व्यवसाय के लाभों को एक लम्बी अवधि तक प्रभावित करते है । अत: इनमें जोखिम एवं अनिश्चितता अधिक पायी जाती है । इसके अन्तर्गत पूंजी की लागत, प्रत्याय दरों की गणना और परियोजनाओं का चुनाव आदि पहलुओं का अध्ययन किया जाता है ।

8 **विक्रय प्रोत्साहन एवं व्यूह-रचना -** एक व्यावसायिक प्रबन्धक को विक्रय-व्यूह-रचना के प्रति भी पर्याप्त ध्यान देना होता है । विक्रय लागतें विक्रय व्यूह रचना पर निर्भर करती है । विक्रय व्यूह रचना पर ही विक्रय की मात्रा निर्भर करती है । विक्रय प्रोत्साहन पर कितना व्यय किया जाए, विज्ञापन की मात्रा, आकार एवं प्रकार क्या हो, यह सब प्रबन्धक को देखना होता है । प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में विक्रय लागतों, विक्रय प्रोत्साहन योजनाओं एवं विक्रय व्यूह रचना व व्यवस्था का अध्ययन करना होता है ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का विषय मांग,लागत मूल्य, लाभ और पूंजी के सम्बन्ध में अनिश्चितताओं पर आर्थिक सिद्धान्तों और अवधारणाओं का करना है ।

1.8 व्यावसायिक प्रबन्ध में अर्थशास्त्र के उपयोग के पहलू

मैसर्स स्पेन्सर और सीगिलमैन के मतानुसार व्यावसायिक प्रबन्धक में अर्थशास्त्र के उपयोग के निम्न पहलू होते हैं -

1 **परम्परागत सैद्धान्तिक धारणाओं का समाधान प्रस्तुत करना -** इसके अन्तर्गत परम्परागत सैद्धान्तिक धारणाओं एवं वास्तविक व्यावसायिक आचरणों और परिस्थिति के बीच समाधान प्रस्तुत किया जाता है । प्राय: व्यवसाय कुछ मान्यताओं पर आधारित है और उन्हीं के आधार पर निष्कर्ष निकाले जाते हैं । लेकिन इन मान्यताओं के कारण फर्म का सिद्धान्त अवास्तविक बन जाता है । अत: आवश्यकता इस बात की होती है कि सरल मान्यताओं पर आधारित आर्थिक सिद्धान्तों का वास्तविक व्यावसायिक स्थिति के साथ समाधान प्रस्तुत किया जा सके ।

2 **आर्थिक मात्राओं की भविष्यवाणी**-प्रत्येक प्रबन्धक को अपना कार्य के वातावरण में करना पड़ता है । वह लाभ, मांग, लागत, पूंजी, मूल्य, उत्पादन पर भावी तथा निर्णयन सम्बन्धी कार्य संभव होते हैं ।

3 **आर्थिक सम्बन्धों का अनुमान लगाना -** आर्थिक सश्वश्वों के अनुमानों का पूर्वानुमान के लिए किया जाता है जो कि आय लोच, लागत, उत्पादन सम्बन्ध, मूल्य लोच आदि द्वारा सम्भव हो सकता

4 **बाह्य शक्तियों को समझना -** प्रबन्धक को इन बाहरी शक्तियों, जैसे चक्र, राष्ट्रीय आय में परिवर्तन, लाईसेन्सिग नीति, कर नीति, मूल्य नियंत्रण नीति आदि को समझना आवश्यक होता है, क्योंकि प्रबन्धक को इन परिस्थितियों में व्यवसाय का समायोजन करना पड़ता है ।

5 **व्यापारिक नीतियों का निर्धारण-** प्रबन्धक को निर्णय कार्य एवं में व्यापारिक नीतियों को निर्धारित करना पड़ता है और उन्हीं के आधार पर वह लाभ, पूंजी, लागत, मूल्य सम्बन्धी योजनायें बनाता है ।

1.9 प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र एवं परम्परागत अर्थशास्त्र में अन्तर

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र परम्परागत अर्थशास्त्र की ही एक विशिष्ट शाखा है, किन्तु फिर भी यह परम्परागत अर्थशास्त्र से अनेक दृष्टिकोण से भिन्न है । इस अन्तर को निम्न तरह से स्पष्ट किया जा सकता है -

1 परम्परागत अर्थशास्त्र एक व्यापक विषय है, प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र परम्परागत अर्थशास्त्र की एक शाखा मात्र है, अत: प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का क्षेत्र सीमित है ।

2 परम्परागत अर्थशास्त्र में आर्थिक सिद्धान्तों का केवल विवेचन किया जाता है, जबकि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में आर्थिक सिद्धान्तों का व्यावसायिक समस्याओं के समाधान के लिए प्रयोग किया जाता है। इस तरह से परम्परागत अर्थशास्त्र सैद्धान्तिक है, जबकि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र व्यावहारिक है ।

3 परम्परागत अर्थशास्त्र में मांग व पूर्ति का विश्लेषण सम्पूर्ण अर्थशास्त्र में मांग व पूर्ति का विश्लेषण सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के सन्दर्भ में किया जाता है, जबकि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में मांग व पूर्ति का विश्लेषण केवल एक फर्म अथवा संगठन के सम्बन्ध में होता है ।

4 परम्परागत अर्थशास्त्र एक पुराना विषय है, जबकि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र एक नवीन विषय है ।

5 परम्परागत अर्थशास्त्र की मान्यताएं काल्पनिक होती है, जबकि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की मान्यताएं व्यावहारिक होती है ।

6 परम्परागत अर्थशास्त्र में लगान, ब्याज, राष्ट्रीय आय तथा व्यापार चक्र का अध्ययन किया जाता है, जबकि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में इनका अध्ययन नहीं किया जाता है ।

7 परम्परागत अर्थशास्त्र में व्यक्ति, समाज, फर्म तथा राष्ट्र के आर्थिक क्रियाकलापों का अध्ययन किया जाता है जबकि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में केवल फर्म की आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है ।

8 परम्परागत अर्थशास्त्र में व्यष्टि व समष्टि अर्थशास्त्र दोनों का अध्ययन किया जाता है, जबकि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में केवल व्यष्टि अर्थशास्त्र का अध्ययन किया जाता है तथा समष्टि अर्थशास्त्र के उस भाग का ही अध्ययन किया जाता है जो फर्म को प्रभावित करता है ।

9 परम्परागत अर्थशास्त्र वर्णनात्मक विषय से अधिक सम्बन्धित है, जबकि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र निर्देशात्मक विषय अधिक होता है ।

10 परम्परागत अर्थशास्त्र में सिद्धान्तों का केवल विश्लेषण किया जाता है, जबकि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में आर्थिक सिद्धान्तों के विश्लेषण के साथ-साथ, उनका फर्म की समस्याओं के समाधान, फर्म के नियोजन एवं निर्णयन में प्रयोग किया जाता है ।

11 परम्परागत अर्थशास्त्र में वितरण के सभी सिद्धान्त तथा लगान, मजदूरी, ब्याज एवं लाभ का अध्ययन होता है, जबकि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में वितरण के केवल एक सिद्धान्त यथा लाभ का अध्ययन किया जाता आर्थिक सिद्धान्त दो या दो से अधिक आर्थिक चरों के फलनात्मक सम्बन्ध व्यक्त करते है, जो कुछ दी हुई शर्तो पर आधारित होते हैं । व्यवसाय की समस्याओं में व्यावसायिक निर्णयन में सम्बन्धित आर्थिक सिद्धान्तों का उपयोग तीन तरीकों से सहायता करते हैं -

   1 इन सिद्धान्तों से विभिन्न आर्थिक अवधारणायें (लागत, कीमत, मांग आदि) जिनका व्यावसायिक विश्लेषण में उपयोग किया जाता है, स्पष्ट की जाती है ।

   2 यह सम्बन्धित दरों को निश्चित करती है तथा सम्बन्धित आकड़ों को विशिष्टता प्रदान करते है ।

   3 दो या अधिक आर्थिक चरों के बीच सम्बन्ध का अध्ययन सही निर्णय लेने में स्थिरता प्रदान करते है ।

इस प्रकार आर्थिक सिद्धान्तों के उपयोग से व्यावसायिक समस्याओं में मार्गदर्शन ही प्राप्त नहीं होता है बल्कि निर्णयन प्रक्रिया मजबूत एवं सही बनती है जिससे सही निर्णयन संभव होते है ।

1.10 प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का अन्य विषयों से सम्बन्ध

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र एक ऐसा नवीन विकासशील विषय है जिसका पूर्णता प्रदान करने के लिए अनेक विषयों का सहयोग लिया जाता है, जिससे विशुद्ध आर्थिक सिद्धान्तों को फर्म के व्यावहारिक जीवन में प्रयुक्त किया जा सके। ये विषय व्यष्टि अर्थशास्त्र, समष्टि अर्थशास्त्र, गणित, सांख्यिकी, संक्रिया विज्ञान लेखाशास्त्र, प्रबन्ध शास्त्र आदि हैं। प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का अन्य विषयों से जो सम्बन्ध है उसे निम्न प्रकार समझा जा सकता है

1 **प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र एवं व्यष्टि अर्थशास्त्र में आपसी सम्बन्ध -** व्यष्टि अर्थशास्त्र ही प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का मुख्य आधार है । प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में मूल्य सिद्धान्त एवं फर्म के सिद्धान्त ही अध्ययन का विषय है जो कि व्यष्टि अर्थशास्त्र से लिया गया है । मुख्य रूप से व्यष्टि अर्थशास्त्र के निम्न विषयों का अध्ययन प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में कुछ आवश्यक समायोजनों के पश्चात् किया जाता है -

(a) मांग का नियम
(b) मांग की लोच
(c) सीमान्त आगम तथा सीमान्त लागत
(d) मांग एवं लागत विश्लेषण
(e) उत्पादन की मात्रा एवं मूल्य निर्धारण से सम्बन्धित सिद्धान्त
(f) बाजार के विभिन्न रूप
(g) तटस्थता वक्र विश्लेषण
(h) उत्पादन मॉडल
(i) मांग का पूर्वानुमान ।

1 **प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र एवं समष्टि अर्थशास्त्र में सम्बन्ध -** समष्टि अर्थशास्त्र का प्रयोग फर्म पर बाह्य परिस्थितियों के पड़ने वाले प्रभावों का विश्लेषण, अध्ययन एवं समायोजन करने में उपयोगी सिद्ध होता है । समष्टि अर्थशास्त्र के निम्न घटकों का प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में व्यापक प्रयोग किया जाता है-

a) व्यापार चक्र
b) मौद्रिक नीति
c) कर नीति
d) प्रशुल्क नीति
e) रोजगार प्रगति
f) उपभोग एवं विनियोग के सिद्धान्त
g) राष्ट्रीय आय
h) आयात-निर्यात नीति
i) लाइसेसिंग नीति ।

2 **प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का सार्वजनिक वित्त से सम्बन्ध -** वर्तमान युग में सरकार फर्म के क्रियाकलापों को बहुत अधिक प्रभावित करती है और यह हस्तक्षेप दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है । सरकारी हस्तक्षेप का फर्म पर प्रतिकूल असर नहीं पड़े, इसके लिए प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में सार्वजनिक वित्त के सिद्धान्त का प्रयोग किया जाता है । ये सार्वजनिक वित्त के सिद्धान्त अग्र हैं -

(a) सरकारी कर नीति

(b) सरकारी मूल्य नियंत्रण नीति

(c) सरकारी औद्योगिक, व्यापारिक तथा वाणिज्यिक नीति

(d) बैंकिंग नीति

(e) न्यूनतम मजदूरी नीति

(f) शुल्क नीति ।

5 **प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र एवं गणित -** प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र के निष्कर्षो को अधिक शुद्ध बनाने में गणित का प्रयोग बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है । गणित के सिद्धान्तों की सहायता से प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र, आर्थिक सम्बन्धों को अधिक शुद्धता से माप सकता है एवं पूर्वानुमान अधिक शुद्ध हो सकते हैं, नियोजन सत्यता के अधिक निकट होगा तथा निर्णय सही होने की संभावना बढ़ जायेगी । मांग पूर्वानुमान, आदा-प्रदा विश्लेषण, उत्पादन फलन क्षेत्रों में गणित का प्रयोग बढता जा रहा है ।

6 **प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र एवं सांख्यिकी -** सांख्यिकी का प्रयोग प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में बढ़ता जा रहा है । सांख्यिकी का सम्भाव्यता सिद्धान्त, महांक जड़ता नियम, सह-सम्बन्ध, प्रतीपगमन आदि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में बहुत अधिक प्रयोग में लिये जाते है । सांख्यिकी के सिद्धान्तों की सहायता से प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र के निर्णय अधिक व्यावहारिक एवं उपयोगी होते हैं । सांख्यिकी विधियों की सहायता से लगाये गये पूर्वानुमान अधिक शुद्ध होते हैं ।

7 **प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र एवं संक्रिया विज्ञान -** प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में निर्णय लेते समय संक्रिया विज्ञान का प्रयोग दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है । प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में फर्म के अनुकूलतम आकार का निर्धारण, साधनों के चयन की समस्या, वैकल्पिक उत्पादन विधियों, लागत न्यूनीकरण एवं लाभ अधिकतम करने के लिए निम्न संक्रिया विज्ञान की तकनीकों का प्रयोग किया जाता है -

a) खेल सिद्धान्त

b) इन्वेन्टरी मॉडल्स

c) उत्पादन फलन

d) कतार सिद्धान्त

e) रेखीय प्रोग्रामिंग ।

7 प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र एवं लेखाशास्त्र - लेखाशास्त्र के द्वारा ही प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री को फर्म के विभिन्न क्रियाकलापों की संख्यात्मक जानकारी मिलती है, जिसको वह नियोजन, निर्णय तथा नियंत्रण के लिए प्रयुक्त करता है । लेखाशास्त्र के माध्यम से ही उसे फर्म के विक्रय, मांग, पूर्ति, उत्पादन तथा लागत के समंक उपलब्ध होते हैं ।

8 प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र एवं लागत लेखांकन - प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में लागत लेखों का बहुत अधिक प्रयोग होता है । लागत लेखों की सहायता से प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री लागतों का विश्लेषण कर उसको न्यूनतम रखने का प्रयास करता है ।

9 प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र एवं प्रबन्ध - प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र प्रबन्धक के प्रयोग के लिए ही होता है, अत: प्रबन्ध के विभिन्न सिद्धान्तों का प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में व्यापक प्रयोग किया जाता है ।

1.11 सारांश

आधुनिक विश्व की बढ़ती जटिलताओं और विषम आर्थिक समस्याओं के समाधान में अर्थशास्त्र के निरपेक्ष सिद्धान्तों का व्यावहारिक प्रयोग निरन्तर लोकप्रिय होता जा रहा है जहां पहले व्यावसायिक क्षेत्रों में प्रबन्धकीय समस्याओं के विश्लेषण और समाधान में आर्थिक सिद्धान्तों का प्रयोग सीमित था वहां अब अर्थशास्त्र की नवीन अवधारणाओं, वैज्ञानिक विधियों और आर्थिक विश्लेषण की गणितीय पद्धतियों के विकास से प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का जन्म हुआ है । अत: अब प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र, अर्थशास्त्र की एक विशिष्ट शाखा के रूप में आर्थिक सिद्धान्तों एवं व्यावसायिक व्यवहारों का ऐसा एकीकरण है जो प्रबन्धकों को निर्णय लेने और भावी योजनाऐं बनाने में सुविधा प्रदान करता है । प्रबन्धकों को व्यावसायिक जटिल समस्याओं के समाधान का व्यावहारिक हल प्रदान कर उनकी आशाओं और आकांक्षाओं की पूर्ति करता है ।

1.12 शब्दावली

1 **समष्टि अर्थशास्त्र -** समष्टि आर्थिक सिद्धान्त अर्थशास्त्र का वह भाग है जो अर्थव्यवस्था के कुल औसत तथा कुल समूहों का अध्ययन करता है ।

2 **व्यष्टि अर्थशास्त्र -** व्यष्टि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध छोटी इकाइयों से है यह उपभोक्ताओं, उत्पादकों तथा बाजार के व्यवहार से सम्बन्धित है ।

3 **प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र -** प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र आर्थिक ज्ञान या आर्थिक विज्ञान का वह भाग है जिसका व्यवसाय जगत की समस्याओं के विश्लेषण में विवेकपूर्ण व्यावसायिक निर्णय लेने में उपयोग किया जाता है ।

4 **कर्म का सिद्धान्त -** इस सिद्धान्त के अन्तर्गत फर्म का मॉडल, फर्म के उद्देश्य, फर्म का सिद्धान्त तथा फर्म की कार्य प्रणाली का अध्ययन किया जाता है ।

1.13 स्वपरख प्रश्न

1 प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की परिभाषा दीजिए तथा इसकी विशेषतायें बताइये

2 प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र से आप क्या समझते है ? प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की प्रकृति एवं क्षेत्र का वर्णन कीजिए ।

3 प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र परम्परागत अर्थशास्त्र से किस प्रकार भिन्न है इसका अन्य विषयों से सम्बन्ध स्पष्ट कीजिए ?

4 प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का अर्थ बताते हुए इसकी विषय सामग्री का वर्णन कीजिए ।

1.14 सन्दर्भ ग्रन्थ

1 डी.एन. द्विवेदी, 'प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र', विकास पब्लिकेशन हाऊस, नई दिल्ली

2 शर्मा, केजरीवाल, 'प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र', साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा

3 एम.एल. झिंगन, 'प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र, वृन्दा पब्लिकेशन्स प्रा. लि., नई दिल्ली

4 सिंह, शर्मा, चौधरी, प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र, रमेश बुक डिपो, जयपुर

5 एम.डी. अग्रवाल, प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र, श्री महावीर बुक डिपो पब्लिशर्स, नई दिल्ली

6 Managerial Economics, G.S. Gupta.

7 Managerial Economics, Joel Dean.

इकाई- 2 प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का परिचय

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 परिचय

2.2 प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री की व्यवसाय में भूमिका

2.3 प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री के दायित्व

2.4 फर्म के स्थान एवं आकार का अर्थशास्त्र

2.5 उद्योग अथवा फर्म के स्थान निर्धारण को प्रभावित करने वाले तत्व

2.6 फर्म का आकार

2.7 फर्म के आकार को मापने के प्रमाप

2.8 अनुकूलतम आकार की फर्म

2.9 फर्म के अनुकूलतम आकार को निर्धारित करने वाले तत्व

2.10 सारांश

2.11 शब्दावली

2.12 स्वपरख प्रश्न

2.13 सन्दर्भ ग्रन्थ

2.0 उद्देश्य

इस अध्याय को पढने के पश्चात् आप समझ पायेंगे ।

1 प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री की व्यवसाय में भूमिका एवं दायित्व

2 फर्म के स्थान निर्धारण के सिद्धान्त

3 फर्म के स्थान निर्धारण को प्रभावित करने वाले तत्व

4 फर्म के आकार को निर्धारित करने वाले तत्व

5 अनुकूलतम आकार की फर्म का अर्थ, विशेषताऐं एवं प्रभावित करने वाले तत्व

2.1 परिचय

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र एक ऐसा विषय है जो व्यावसायिक प्रबन्धकों को निर्णय लेने तथा भावी नियोजन में सहायता पहुँचाता हैं । इस विषय के विशेषज्ञों को प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री कहा जाता है । आज सभी विकसित तथा विकासशील देशों में बडी-बडी औद्योगिक कम्पनियों अथवा निगमों में, जो वैज्ञानिक प्रबन्ध को अपनाये हुए है, प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री को नियुक्त किया जाता हैं । इन निगमों के प्रबन्धकों को सही निर्णय लेने अथवा भावी नियोजन करने में प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री अपनी विशिष्ट योग्यता तथा परिष्कृत अर्थशास्त्रीय विधियों के द्वारा बहुमूल्य सेवा प्रदान करते है ।

2.2 प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री की व्यवसाय में भूमिका

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री का प्रमुख कार्य अनिश्चितताओं का पूर्वानुमान लगा कर प्रबन्धकों को सही निर्णय लेने तथा भावी नियोजन करने में सहायता पहुँचाना होता है । एक व्यवसाय को दो तरह के तत्व प्रभावित करते है-प्रथम - बाह्य तत्व एवं द्वितीय - आन्तरिक तत्व बाह्य तत्वों पर फर्म के प्रबन्धकों का नियन्त्रण नही होता है क्योंकि इनका उद्गम फर्म के बाहर होता है । ये तत्व व्यावसायिक वातावरण का निर्माण करते हैं । आन्तरिक तत्व किसी भी फर्म के अन्दर होते है, ये फर्म की व्यावसायिक क्रियाओं अथवा कार्यक्षेत्र में होते हैं अत: इन पर फर्म के प्रबन्धकों का नियंत्रण होता है । प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री व्यावसायिक वातावरण के अध्ययन तथा इस वातावरण के साथ फर्म को अच्छी तरह समायोजित करने में प्रबन्धकों को सहायता पहुँचाता है तथा फर्म की व्यावसायिक क्रियाओं के सफल संचालन एवं निश्चित लक्ष्य की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करता हैं । प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री प्रबन्धकों के निर्णय-कार्य तथा नियोजन में निम्न प्रकार से सहायक होता है ।

(क) वातावरण सम्बन्धी अध्ययन अथवा बाह्य तत्वों का विश्लेषण

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री व्यावसायिक वातावरण अथवा बाह्य तत्वों यथा राष्ट्रीय आय, रोजगार, उत्पादन की मात्रा, व्यापार चक, सरकारी नीति, अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृतियों आदि का अध्यय) एवं विश्लेषण करके प्रबन्धकों को अनेक महत्वपूर्ण निर्णय करने में सहायता पहुँचाता हैं जैसे :

1 राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की वर्तमान प्रवृतियां क्या
2 व्यापार चक की कौनसी अवस्था निकट भविष्य में घटने वाली है ।
3 किन-किन क्षेत्रो में बाजार तथा ग्राहक सम्बन्धी अवसर शीघ्रतापूर्वक बढने अथवा घटने वाले है ।
4 कच्चे माल की उपलब्धि तथा मूल्य एवं निर्मित माल की मांग मूल्यों की कैसी सम्भावनाएँ है ।
5 ईधन की भावी पूर्ति की क्या सम्भावनाऐं हैं ?
6 क्या साख की मात्रा में वृद्धि या कमी होने वाली है ? इसका वस्तुओं की मॉग पर कैसा प्रभाव पडेगा?
7 बाजार में प्रतियोगिता के घटने या बढने की क्या सम्भावना है ?
8 सरकार की भावी नीतियाँ एवं नियन्त्रण कैसे होने की सम्भावना ?

(ख) व्यावसायिक क्रियाओं का विश्लेषण

एक फर्म की आन्तरिक क्रियाऐं व्यावसायिक क्रियाओं के नाम से जानी जाती हैं । व्यावसायिक क्रियाओं के संचालन से सम्बन्धित अनेक समस्याओं को हल करने में प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री प्रबन्धकों की सहायता करता है । उदाहरणार्थ वस्तु के मूल्य निर्धारण, स्थापित क्षमता के उपयोग, विनियोग, फर्म की क्रियाओं के विस्तार अथवा

संकुचन आदि से सम्बन्धित समस्याओं के हल करने में प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है ।

1 फर्म के लिए अगले वर्ष के नियोजित लाभ की उचित मात्रा कितनी होगी ?
2 इस लाभ की प्राप्ति के लिए फर्म को कितना उत्पादन एवं विकट करना होगा ?
3 अगले तीन माह,छह माह अथवा एक वर्ष के लिए सबसे उपयुक्त उत्पादन एवं माल तालिकाओं सम्बन्धी नीतियां क्या होगी ?
4 फर्म को मजदूरी एवं मूल्य नीतियों में कब और कैसा परिवर्तन करना चाहिए?
5 फर्म के पास अगले एक माह, तीन अथवा छ: माह में रोकड़ उपलब्धियां कितनी होगी तथा उनका विनियोजन कैसे किया जाये ?

(ग) विशिष्ट कार्य

उपर्युक्त कार्यो के अतिरिक्त प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री व्यावसायिक प्रबन्धकों, सरकार, प्रबन्ध सलाहकारों तथा अन्य व्यक्तियों एवं संस्थाओं के लिए अनेक विशिष्ट कार्य भी करता है

1 विक्रय पूर्वानुमान लगाना ।
2 बाजार सर्वेक्षण करना ।
3 पूँजी परियोजनाओं का विश्लेषण करना ।
4 प्रतियोगी फर्मो की क्रियाओं का विश्लेषण करना ।
5 विनियोग विश्लेषण एवं पूर्वानुमान करना ।
6 कच्चे माल, विदेशी विनियोग, प्रतिभूतियों में विनियोजन, व्यापार जन-सम्पर्क आदि के सम्बन्ध में सलाह देना ।

(घ) आर्थिक सूचना प्रदान करना

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री का एक कार्य सामान्य आर्थिक सूचना प्रबन्धको को उनकी रूचि के अनुसार प्रदान करना है । उदाहरणार्थ वह प्रतियोगी फर्मो की वस्तुओं के मूल्य एवं उत्पादन, कर दरो, आयात शुल्क, निर्यात शुल्क आदि के सम्बन्ध में आर्थिक सूचनाएं प्रदान कर सकता है । सामान्यतया इनके सम्बन्ध में प्रकाशित सामग्री बहुत उपलब्ध रहती हैं । फर्म के लिए आवश्यकता इस बात की है कि वह किसी ऐसे व्यक्ति को नियुक्त कर ले जो इन्हे अच्छी तरह से समझता हो । यह कार्य प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री सरलतापूर्वक कर सकता है ।

2.3 प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री के दायित्व

एक प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री उपर्युक्त कार्य कुशलतापूर्वक करके प्रबन्धकों को निर्णय लेने तथा भावी नियोजन करने में तभी अधिक सहायक सिद्ध हो सकता है जब वह अपने दायित्वों को अच्छी तरह से समझे । यहां प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री के प्रमुख दायित्वों का वर्णन किया गया है ।

1 विनियोजित पूंजी पर समुचित लाभ बनाये रखना - प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री का सर्वप्रथम दायित्व यह है कि वह यह समझे कि उसके व्यवसाय का प्रमुख उद्देश्य विनियोजित

पूंजी पर लाभ कमाना होता है उसका प्रमुख कार्य फर्म की लाभ कमाने की क्षमता बढ़ाने में सहायता पहुंचाना है ।

2 **सफल पूर्वानुमान करना -** प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री का दूसरा दायित्व यह है कि वह प्रबन्धकों को भविष्य के सम्बन्ध में निर्णय एवं भावी नियोजन करने हेतु सफल पूर्वानुमान प्रस्तुत करें । प्रबन्ध के अधिकांश निर्णय एवं योजनाएँ भविष्य से सम्बन्धित होती है तथा भविष्य बहुत अनिश्चित होता है । उसे पूर्वानुमान अच्छी तरह सोच समझ कर, सर्वोत्तम उपलब्ध आर्थिक सूचनाओं एवं विश्लेषणों के आधार पर लगाने चाहिए । वह प्रबन्धकों का विश्वास तब ही प्राप्त कर सकता है जब उसके पूर्वानुमान व्यवहार में सही उतरें ।

3 **आर्थिक सूचना के स्त्रोतों और विशेषज्ञों से सम्पर्क-** एक प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री को उन व्यक्तियों तथा समंक स्त्रोतों के साथ भी निकट सम्पर्क रखना चाहिए जो प्रबन्ध के अन्य सदस्यों को तुरन्त उपलब्ध नहीं होते है । उसको संदर्भ सामग्री एवं स्त्रोतों की तो पूर्ण जानकारी होनी ही चाहिए तथा इसके साथ-साथ उसका ऐसे व्यक्तियों सें सम्पर्क होना चाहिए जो उसके कार्य से सम्बन्धित विशेष क्षेत्रो के विशेषज्ञ हों ।

4 **फर्म में उसकी स्थिति -** प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री को अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने के लिये यह आवश्यक है कि प्रबन्ध टोली में अपने कार्यो द्वारा महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर ले । यदि प्रबन्ध टोली में उसकी सलाह एवं सेवाओं की निरन्तर मांग तथा उपयोग किया जाता है तो वह प्रभावशील ढंग से कार्य कर सकता है ।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि व्यावसायिक प्रबन्धकों को निर्णय लेने तथा भावी नियोजन करने में प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री अपनी शिक्षा, प्रशिक्षण तथा अनुभव के आधार पर अत्यधिक सहायता पहुँचा सकता है परन्तु यह कार्य कुशलतापूर्वक करने के लिये आवश्यक है कि वह अपने दायित्वों को समझे तथा प्रबन्ध टोली के साथ मिलकर कार्य करे ।

2.4 फर्म के स्थान एवं आकार का अर्थशास्त्र

जब एक साहसी द्वारा किसी विशेष प्रकार की औद्योगिक इकाई की स्थापना का निर्णय ले लिया जाता है, तब उसके सामने महत्वपूर्ण समस्या उद्योग के स्थान चयन की आती है । एक साहसी अपनी फर्म अथवा इकाई की स्थापना कहाँ करें ? यह एक बहुत ही महत्वपूर्ण प्रश्न हैं क्योंकि स्थान का चुनाव फर्म की लागतों को प्रभावित करता है तथा लागतें फर्म के लाभ एवं सफलता को प्रभावित करती है ।फर्म का अपने उत्पादन स्थल का चुनाव अनायास ही नहीं करना चाहिए बल्कि बहुत, सोच समझ कर करना चाहिए: क्योंकि किसी एक स्थान पर औधोगिक इकाई की स्थापना करने के बाद उसका स्थान परिवर्तित करना अनेक बार असम्भव तथा बहुत महँगा अथवा फर्म को नष्ट करने वाला होता है । अत: फर्म को अपने स्थान का चुनाव अत्यधिक सोच समझ कर करना चाहिए ।

स्थान निर्धारण के सिद्धान्त

स्थान-निर्धारण का सिद्धान्त उन तत्वों की व्याख्या करता है जो किसी उद्योग विशेष को स्थापित करने के लिए अनुकूलतम स्थान बतलाते है । औद्योगिक स्थानीयकरण की सैद्धांतिक के क्षेत्र में अल्फ्रेड वेबर तथा सार्जेन्ट प्लोरेन्स का योगदान अत्यधिक महत्वपूर्ण है ।

अल्फ्रेड वेबर का स्थानीयकरण का सिद्धान्त

अल्फ्रेड वेबर का स्थानीयकरण का सिद्धान्त अच्छे वेबर का स्थानीयकरण का सिद्धान्त विश्व-प्रसिद्ध हैं । वेबर ने सन् 1909 में जर्मन भाषा में अपनी विश्व-प्रसिद्ध कृति 'थ्योरी ऑफ लोकेशन' प्रकाशित की । इसका अंग्रेजी अनुवाद 1929 में प्रकाशित हुआ । वेबर ने निगमन रीति से सामान्य विश्लेषण से विशिष्ट की ओर जाकर स्थानीयकरण के कारकों का विश्लेषण किया । वेबर का सिद्धान्त निम्न तीन मान्यताओं पर आधारित है :

1 यातायात की दरों का सभी –ष्टियों सें सरल, समान और सजातीय होना ।

2 कच्चे माल की लागत का समान होना परन्तु उसके वितरण में असमानता का पाया जाना ।

3 श्रमिकों की पूर्ति स्थिर लागत पर असीमित रहती है और वस्तुओं के उपभोग केन्द्र तथा श्रम के पूर्ति केन्द्र पूर्व निश्चित होते हैं ।

उपर्युक्त मान्यताओं को आधार मान कर वेबर ने स्थानीयकरण के कारकों 'को दो वर्गो में बांटा जो 1. प्रमुख कारक, तथा 2. सहायक कारक, के नाम से जाने जाते है । इन प्रमुख तथा सहायक कारकों को निम्न बिन्दुओं से देखा जा सकता है ।

I. क्षेत्रीय या प्रमुख कारक

1 **यातायात अथवा परिवहन लागत-** परिवहन लागत दो तत्त्वों पर निर्भर करती है- 1. परिवहन किये जाने वाले माल का भार, एवं 2. परिवहन दूरी । परिवहन लागत तत्त्व के अनुसार एक उद्योग वहाँ केन्द्रित होगा जहाँ कच्चे माल को उसके उत्पादन क्षेत्रों से कारखाने तक ले जाने तथा निर्मित माल को कारखानों से बिकी केन्द्रों तक पहुंचाने की लागत न्यूनतम हो । परिवहन लागत को न्यूनतम करने के लिए एक उद्योग के कच्चे माल के क्षेत्रों के निकट स्थापित हो सकता है अथवा उपभोक्ता केन्द्रों के निकट । कौन सा उद्योग कच्चे माल के केन्द्र के तथा कौन सा उद्योग उपभोक्ता केन्द्रों के पास स्थापित होगा, यह कच्चे माल की किस्म तथा उत्पादन प्रकिया पर निर्भर करता है ।

2 **श्रम लागत -** क्षेत्रीय कारकों में परिवहन लागत के बाद दूसरा घटक श्रम-लागत है कभी कभी उद्योग परिवहन लागत के अनुकूलतम स्थान पर न होकर अन्य क्षेत्रो में केन्द्रित हो जाता है । यह तभी सम्भव होता है जब श्रम लागत में बचत, परिवहन लागत में वृद्धि की तुलना में अधिक हो । यह तब होता है जब एक विशेष प्रकार का श्रम अपने स्थान से गतिशील न हो । अत: नये स्थापित होने

वाले उद्योग उन क्षेत्रों की ओर आकर्षित होने लगते है ताकि वे सस्ती श्रम लागत का लाभ उठा सकें ।

II. गौण कारक अथवा सहायक कारक

सहायक अथवा गौण कारक वे होते है जो विशेष क्षेत्रो में उधोगों के वितरण का केन्द्रीयकरण तथा विकेन्द्रीकरण की रीतियों द्वारा प्रभाव डालते है ।

परिवहन की अच्छी व्यवस्था, बैंकिंग एवं साख संस्थाओं की स्थापना, मशीनों की मरम्मत आदि के लिए वर्कशॉप की सुविधा, विज्ञापन संस्थाओं की स्थापना आदि से अनेक बाह्य बचते प्राप्त होती है तथा ये उद्योगों के केन्द्रीयकरण को प्रोत्साहित करती है, इन कारकों को केन्द्रीयकरण वाले घटक कहते है । किसी स्थान पर अधिक कर, भीड़-भाड़ भूमि की कीमतों में बहुत अधिक वृद्धि आदि तत्वों के कारण उद्योग की उत्पादन लागतें बहुत बढ जाती है । ऐसी दशा में उद्योगों में विकेन्द्रीकरण की प्रवृति प्रारम्भ हो जाती हैं इन्हे विकेन्द्रीयकरण वाले घटक कहते है ।

सार्जेण्ट पलोरेन्स का औद्योगिक स्थानीयकरण का सिद्धांत

सार्जेण्ट फ्लोरेन्स ने अपना सिद्धान्त आगमन प्रणाली पर आधारित करते हुए विकसित किया है । सार्जेण्ट फ्लोरेन्स ने उत्पादन गणना तथा व्यवसाय गणना रवे उपलब्ध समंको की सहायता से स्थानीयकरण की प्रवृति की गणना की है । उन्होनें स्थानीयकरण का परम्परागत अर्थ स्वीकार नहीं किया जिसमें भौगोलिक क्षेत्र तथा उद्योग के मध्य सम्बन्ध माना जाता है । उसके अनुसार किसी क्षेत्र का उद्योग से सम्बन्ध होना उतना ही महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना कि उस क्षेत्र में कुल कार्यशील जनसंख्या का उद्योग से संबंध होना महत्वपूर्ण है ।सार्जेण्ट फ्लोरेन्स ने औद्योगिक स्थानीयकरण को स्पष्ट करने के लिए दो नई धारणाओं का प्रयोग किया है जो क्रमश (1) स्थान निर्धारण घटक, तथा (2) स्थानीयकरण गुणक है ।

(1) स्थान-निर्धारण घटक - यह एक उद्योग के एक स्थान विशेष पर केन्द्रित होने का निर्देशांक है । इस निर्देशांक को दो विधियो से प्राप्त किया जा सकता है: (i) एक उद्योग में लगे एक क्षेत्र के श्रमिकों की उस उद्योग में लगे सम्पूर्ण देश के श्रमिकों की प्रतिशत में उस क्षेत्र से श्रमिकों की उस उद्योग में लगे सम्पूर्ण देश के औद्योगिक श्रमिकों की प्रतिशत से भाग देकर यह निर्देशांक ज्ञात किया जा सकता है । तथा (ii) उस क्षेत्र के समस्त श्रमिकों से एक विशेष उद्योग में लगे श्रमिकों की प्रतिशत में उस उद्योग में लगे श्रमिकों की सम्पूर्ण देश के औद्योगिक श्रमिकों की प्रतिशत का भाग देकर यह निर्देशांक ज्ञात किया जा सकता है ।

(2) स्थानीयकरण का गुणक- स्थानीयकरण का गुणक एक उद्योग के केन्द्रित होने की प्रवृति बताता है । इसका तात्पर्य देश में कही पर भी किसी उद्योग के केन्द्रित होने से होता है । यदि प्रत्येक क्षेत्र के श्रमिकों की संख्या प्रतिशत के रूप में दी हुई हो और किसी विशिष्ट उद्योग में लगे श्रमिकों का वितरण भी क्षेत्रो के अनुसार प्रतिशतों में दिया गया हो तो दोनो प्रतिशतों के धनात्मक विचलनों के योग में 100 का भाग देकर स्थानीयकरण गुणक ज्ञात किया जा सकता है । यदि यह

गुणक शून्य है तो उद्योग का वितरण समान होगा और यदि गुणक+1 के पास होगा तो उद्योग का वितरण बहुत अधिक असमान होगा ।

2.5 उद्योग अथवा फर्म के स्थान निर्धारण को प्रभावित करने वाले तत्व

प्राकृतिक कारण :

(1) **कच्चे माल की उपलब्धि -** जिस स्थान पर कच्चा माल सरलता से पर्याप्त मात्रा में सस्ता मिल जाता है वहां सम्बन्धित उद्योग स्थापित हो जाते है । कच्चा माल दो प्रकार का होता है । प्रथम सर्व प्राप्य एवं द्वितीय, स्थानीयकृत । सर्वप्राप्य माल में मिट्टी एवं जल आते है जो सभी क्षेत्रो में उपलब्ध होते है । स्थानीयकृत माल में वे माल आते है जो किन्ही विशेष क्षेत्रो में उपलब्ध होते- जैसे खनिज लोहा, तांबा, गन्ना, जूट आदि ।

(2) **शक्ति के साधनो की उपलब्धि-** कोयला, पेट्रोलियम, जल विद्युत एवं अणुशक्ति से औद्योगिक शक्ति प्राप्त होती है । कोयले पर परिवहन लागत अधिक बैठती हैं और साथ ही साथ असुविधा भी रहती है । इसीलिए जिन उद्योगों में कोयले का उपयोग आवश्यक होता है और उपयोग भी अधिक मात्रा में होता है । तो वे उद्योग प्राय: कोयला उत्पादन क्षेत्रो में ही स्थापित किये जाते है ।

आजकल विद्युत शक्ति जो, कि जल विद्युत शक्ति, अणु-शक्ति अथवा ताप विद्युत होती है, को तार की लाइनें बिछाकर दूर-दूर तक पहुंचाई जाने के कारण शक्ति के साधनो का स्थानीय महत्त्व कम होता जा रहा है उद्योगों में विकेन्द्रीकरण की प्रवृति दिखाई दे रही है।

(3) **अनुकूल जलवायु -** जलवायु दो प्रकार से उद्योग की स्थापना को प्रभावित करती है । प्रथम, जलवायु की अनुकूलता का उद्योग पर प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव पड़ता है । जैसे बम्बई की, नम जलवायु के कारण वहां पर सूती वस्त्र उद्योग केन्द्रित हो गया इसी प्रकार पंजाब की शुष्क जलवायु के कारण ही ऊनी वस्त्र उद्योग वहां पर केन्द्रित हो गया । आजकल कृत्रिम प्रकार से भी कारखानों का वातावरण नम एवं शुष्क रखा जा सकता है, पर इस व्यवस्था पर स्थापना एवं संचालन व्यय काफी होने से अपेक्षाकृत लागत अधिक आती है । द्वितीय, जलवायु श्रम की कार्यक्षमता को प्रभावित कर उद्योग-धन्धों की स्थापना को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती हैं श्रम प्रधान में श्रमिक काफी बजी संख्या में काम करते है । अत्यधिक ठण्डी व अत्यधिक गर्म जलवायु कठिन परिश्रम करने में बाधा डालती है । और श्रमिक की कार्यकुशलता गिर जाती है जो प्रत्यक्ष रूप से लागत का बढा देती है ।

(4) **मीठा एवं स्वच्छ जल -** कुछ उद्योगों की सफलता मीठे एवं स्वच्छ जल की पर्याप्त उपलब्धि पर भी निर्भर रहती है । पश्चिमी बंगाल में जूट उद्योग के हुगली नदी के

दोनो और स्थापित होने का यही कारण है कि हुगली नदी से जूट धोने के लिए पर्याप्त मात्रा में स्वच्छ जल मिलता रहता है ।

आर्थिक कारण :

(1) **श्रम की उपलब्धि-** औद्योगिक स्थानीयकरण में श्रम का महत्व अपेक्षाकृत कम हैं किसी स्थान विशेष पर उद्योग स्थापित हो जाने पर वही श्रमिक आकर्षित होकर स्वयं पहुंचने लमाते है और श्रम में गुणात्मक सुधार भी सम्मद होते है ।परन्तु यह सत्य है कि सस्ते, स्थायी एवं कुशल श्रमिकों की पूर्ति औद्योगिक स्थानीयकरण को प्रभावित करती हैं ।

(2) **पूंजी की उपलब्धि -** गलाकाट प्रतिस्पर्द्धा में टिकने के लिए आधुनिकतम एवं पर्याप्त मशीनों की सहायता से उत्पादन चलाना श्रेयस्कर होता हैं । बड़े पैमाने के उत्पादन की अर्थव्यवस्था में भूमि, कच्चा माल, मशीनें, कल-पुर्जे, भवन सस्ते एवं कुशल श्रमिकों की निरन्तर व्यवस्था स्थापना एवं संचालन व्यय के लिए पर्याप्त मात्रा में वित्त की आवश्यकता पडती हैं । यही कारण है कि औद्योगिक विकास प्राय: उन्हीं क्षेत्रो में अधिक होता हैं जहां पूंजी पर्याप्त मात्रा में, कम दरों पर सरलता से उपलब्ध होती है ।

(3) **बाजार की निकटता -** औद्योगिक इकाइयों के वितरण के सम्बन्ध में शाही आयोग ने अपने विचार प्रकट करते हुए अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि निर्णयात्मक प्राकृतिक साधनों की अनुपस्थिति में उद्योग-धन्धे बाजार के निकटवर्ती क्षेत्रो में स्थापित हो जाते है । कुछ उद्योग ऐसे होते है जिनमें टूटफूट अधिक होती है अथवा समय एवं दूरी के साथ-साथ उनकी मात्रा व अच्छाई गिरती चली जाती है । ऐसे उद्योग साधारणत: बाजार के निकटवर्ती क्षेत्रो में ही स्थापित करना लाभकारी होता है ।

(4) **परिवहन एवं संचार साधनो की प्रगति -** कारखाने तक मशीनें, कल-पुर्जे, कच्चा माल, ईधन, श्रमिक आदि लाने एवं निर्मित माल को बिना समय खोये शीघ्रातिशीघ्र कम लागत पर सुविधापूर्वक उपभोग केन्द्रों तक पहुंचाने के लिये परिवहन एवं संचार साधनों का पर्याप्त विकास आवश्यक है ।

(5) **राज्य द्वारा प्रोत्साहन -** 1947 से पहले विदेशी सरकार ने भारत के औद्योगिक विकास में सदैव बाधाएँ उपस्थित की थी । जमशेदपुर में लोहे व इस्पात उद्योग की स्थापना के मार्ग में अंग्रेजों द्वारा अनेक बाधाएं खड़ी की गई थी । देश स्वतन्त्र होने के उपरान्त स्वदेशी सरकार ने देश के योजना-बद्ध औद्योगिक विकास की ओर ध्यान दिया है ।

(6) **सहायक उद्योगों की स्थापना -** जिन स्थानों पर प्रमुख उद्योग की स्थापना के साथ-साथ सम्बन्धित सहायक उद्योग स्थापित करने की सुविधा भी उपलब्ध रहती है तो उन स्थानो पर उस उद्योग को स्थापित करना अधिक लाभकारी होता है जैसे लोहा-इस्पात उद्योग वाले क्षेत्रो में व्यर्थ माल से सीमेंट बनाने के लिए चूना-पत्थर आदि कच्चे माल मिलना ।

(7) प्राविधिक सुविधाएं - प्राविधिक ज्ञान के अभाव में भारत औद्योगिक दृष्टि से काफी दिनों तक पिछड़ा रहा । आज राजस्थान का औद्योगिक विकास, प्राविधिक ज्ञान के अभाव में, अन्य राज्यों के समान नही हो पाया है । भारत के स्वतंत्र होने के पश्चात् औद्योगीकरण ने जो तेज गति पकड़ी है उसका श्रेय विदेशों से उपलब्ध प्राविधिक ज्ञान एवं वित्तीय सुविधाओं को भी है ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है किसी स्थान पर किसी उद्योग विशेष की स्थापना का कोई एक कारण नहीं होता है । अनेक कारण सामूहिक रूप से स्थानीयकरण की प्रवृति को प्रोत्साहन देते है ।

2.6 फर्म का आकार

एक औद्योगिक अथवा व्यावसायिक फर्म की सफलता, कार्यकुशलता एवं लाभदायकता उसके आकार पर निर्भर करती हैं । अत: एक साहसी को फर्म के प्रवर्तन के समय उसके आकार का ठीक प्रकार से निर्धारण करना चाहिए । फर्म का आकार पैमाने के नियमों तथा श्रम विभाजन से प्रत्यक्ष सम्बन्धित है । इसीलिए अर्थशास्त्री अनुकूलतम आकार के निर्धारण में लगे रहते है । वास्तव में एक फर्म का आकार बडा होगा अथवा छोटा यह फर्म को उपलब्ध वित्त तथा फर्म के प्रबन्ध पर निर्भर करता है । यद्यपि प्रारम्भिक आकार छोटा भी हो तो भावी विकास के लिए पर्याप्त स्थान रखा जाना चाहिए ।

फर्म के आकार को निर्धारित करने वाले घटक

1 **उद्योग की प्रकृति -** औद्योगिक इकाई अथवा फर्म सम्पूर्ण उद्योग का एक छोटा सा भाग होती है । अत: उद्योग की प्रकृति उसके आकार को प्रभावित करती है । कुछ उद्योग सामान्यतया केवल बड़े पैमाने पर ही संचालित किये जा सकते है । जबकि कुछ उद्योगों का संचालन छोटे पैमाने पर भी मितव्ययितापूर्वक किया जा सकता है । उदाहरण के लिये जलयान उद्योग, हवाई जहाज निर्माण उद्योग, भारी मशीन निर्माण उद्योग आदि उद्योगों का संचालन बड़े पैमाने पर ही सम्भव होता है । अत: इन उद्योगों में फर्म का आकार बडा होता है । इसके विपरीत उपभोक्ता वस्तु उद्योग जैसे बिस्कुट उद्योग, साबुन उद्योग, सौंदर्य सामग्री निर्माण उद्योग आदि का संचालन छोटे पैमाने पर संभव होता है । अत: इन उद्योगों में फर्म का आकार छोटा होता है ।

2 **बाजार का विस्तार -** यदि किसी वस्तु का बाजार बहुत विस्तृत है तब यह संभावना रहती है कि फर्म अधिक मात्रा में वस्तुओं का उत्पादन एवं विक्रय करेंगी अत: उसका आकार बहुत बडा होगा ।

3 **जोखिम -** सामान्यतया प्रत्येक व्यवसाय में जोखिम अवश्य होती है । किसी व्यवसाय में यह कम तथा किसी व्यवसाय में यह अधिक होती है ।जोखिम तथा फर्म के आकार में प्राय: सुनिश्चित सम्बन्ध होता है । जिन व्यवसायों में जोखिम बहुत अधिक होती है उन व्यवसायों में लगी फर्मो का आकार बडा होता है, क्योंकि बड़ी फर्में ही अधिक जोखिम उठा सकती हैं ।

4 **पूंजीगत आवश्यकतायें -** जिन व्यावसायिक इकाइयों में मशीनों, भवनों, भूमि आदि पर अधिक विनियोजन करना पडता है, उनका आकार सामान्यतया अधिक बडा होता है । जिन व्यवसायों में पूँजी की कम आवश्यकता होती है वहां फर्मो का आकार छोटा होता है । पूंजी की सुलभता भी फर्म के आकार को प्रभावित करती है ।

5 **साहसी की योग्यता व क्षमता -** साहसी की स्वयं की योग्यता तथा क्षमता भी उसके द्वारा स्थापित की जाने वाली फर्म के आकार का निर्धारण करती है । सामान्यतया अधिक योग्य व अधिक क्षमता वाले साहसी बड़ी फर्मो की स्थापना करते है ।

6 **प्रबन्धकों की योग्यता -** साहसी फर्म की स्थापना करते है तथा उनकी जोखिम उठाते है। यह आवश्यक नहीं कि वे ही फर्म का प्रबन्ध भी करें पेशेवर प्रबन्धकों द्वारा प्रबन्ध किया जाता है ।

अत: प्रबन्धकों की योग्यता व क्षमता भी फर्म के आकार का निर्धारण करती है प्रबन्धक अपनी योग्यता व क्षमता के अनुरूप ही फर्म का आकार रखना चाहते है ।

7 **सरकारी नीति एवं नियंत्रण -** सरकार की नीति एवं नियंत्रण भी फर्म के जाकर का निर्धारण करते है । कुछ उद्योगों की स्थापना के लिए लाइसेन्स लेने, पूँजी निर्गमन नियंत्रक स्वीकृति लेने आदि की आवश्यकता होती है । कुछ उद्योग लाइसेन्स व्यवस्था से मुक्त होते है ।

8 **आर्थिक शक्तियां -** किसी फर्म का आकार बाजार में प्रतियोगिता की स्थिति, वस्तु की मांग, वर्तमान उत्पादन स्तर व पूर्ति आदि तत्वों से भी प्रभावित होता है । सामान्यतया पूर्व स्थापित इकाइयों से प्रतिस्पर्द्धा में टिकने के लिए अधिक बड़े आकार की फर्में स्थापित की जाती है ।

9 **शक्ति की उपलब्धि -** किसी औद्योगिक इकाई के संचालन के लिए कौनसी शक्ति उपलब्ध है, जैसे कोयला, डीजल, विद्युत आदि । शक्ति का स्वरूप फर्म के आकार को प्रभावित करता है । सामान्यतया स्वयं के शक्ति के साधनों पर आधारित औद्योगिक फर्म का आकार बड़ा होता है तथा सार्वजनिक निकायों से उपलब्ध विद्युत की पूर्ति पर आधारित फर्मो का आकार छोटा होता है ।

10 **स्वचालन व मशीनीकरण -** जिन उद्योगों में स्वचालन व मशीनीकरण बहुत, अधिक हो गया है, उन उद्योगों में लगी फर्मो का आकार बड़ा होता है तथा जहां मानव श्रम का अधिक उपयोग होता है तथा मशीनों का कम वहां फर्में छोटी होती है ।

2.7 फर्म के आकार को मापने के प्रमाप

एक औद्योगिक इकाई के आकार को मापने के लिए अनेक प्रमापों का उपयोग किया जाता है जिन्हें हम नीचे के चित्र से देख सकते हैं -

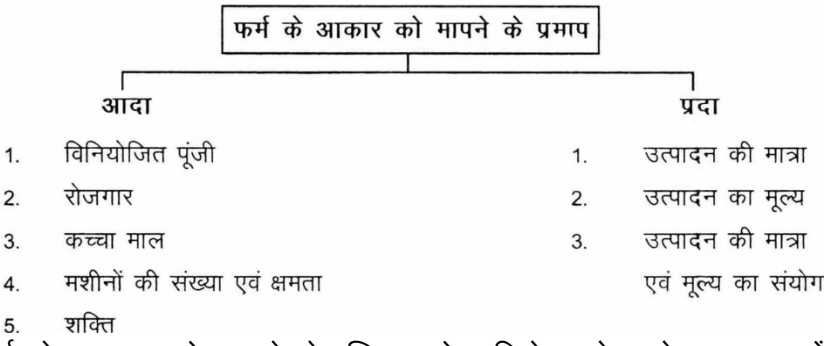

फर्म के आकार को मापने के लिए प्रयोग किये जाने वाले कुछ प्रमापों का यहां :_संक्षिप्त वर्णन किया जा रहा है %

1 **विनियोजित पूंजी -** एक फर्म का आकार सामान्यतया उसमें विनियोजित पूंजी की मात्रा पर निर्भर करता है । विनियोजित पूंजी में फर्म की चुकता पूंजी, रोके गये लाभ तथा ऋण पूँजी को सम्मिलित किया जाता है । यह माप दण्ड बहुत सरल एवं उपयोगी है बहुत सी फर्मो में पुस्तकों में विनियोजित पूंजी बहुत कम दिखाई जाती है जबकि वास्तविक पूंजी अधिक होती है ।

2 **रोजगार -** एक औद्योगिक इकाई के आकार की जानकारी श्रमिको की संख्या से भी होती है । सामान्यतया बड़े आकार की इकाई में श्रमिकों की संख्या अधिक होती है तथा छोटे आकार की इकाइयों में कम । परन्तु आज के औद्योगिक तथा स्वचालन के युग में श्रमिकों की संख्या में आकार की सही जानकारी उपलब्ध नहीं होती है ।

3 **कच्चा माल -** उत्पादन तकनीक दी हुई होने पर जो फर्म अधिक कच्चा माल उपयोग में लाती है वह अधिक माल निर्मित करती है तथा उसका आकार तुलनात्मक रूप से उतना ही बड़ा होता है ।

4 **मशीनों की संख्या व क्षमता -** जिस इकाई में अधिक बड़ी अथवा अधिक संख्या में मशीनें लगी हुई होती है वह फर्म सामान्यतया बड़ी होती है तथा जिस फर्म में कम मशीनें लगी होती हैं, उसका आकार छोटा होता है ।

5 **शक्ति के उपभोग की मात्रा -** औद्योगिक इकाइयों का संचालन किसी औद्योगिक शक्ति अथवा ईधन से होता है । जब विभिन्न औद्योगिक इकाइयों में एक ही शक्ति का उपयोग होता है तो शक्ति के उपयोग की मात्रा से भी औद्योगिक इकाई के आकार का ज्ञान हो सकता है । -

6 **उत्पादन की मात्रा -** जब विभिन्न औद्योगिक इकाइयां समान किस्म अथवा प्रमाप की वस्तुएं उत्पन्न करती हैं तो इन इकाइयों के उत्पादन की भौतिक मात्रा के आधार पर उनके आकार का निर्धारण किया जा सकता है ।

7 **उत्पादन का मूल्य -** जब विभिन्न औद्योगिक इकाइयां समान किस्म अथवा प्रमाप की वस्तुएं नहीं बनाती है तब उत्पादन की मात्रा नहीं बल्कि उत्पादन के मूल्य के आधार पर फर्मो के आकार की यही जानकारी प्राप्त हो सकती है ।

8 **प्रबन्ध व्यवस्था की जटिलता -** किसी फर्म की प्रबन्ध व्यवस्था के आधार पर भी उसके आकार की जानकारी प्राप्त हो सकती है । सामान्यतया छोटे आकार की फर्मो की प्रबन्ध व्यवस्था सरल होती है जबकि बड़े आकार की फर्मो की व्यवस्था जटिल होती है । सामान्यतया बड़ी फर्में प्रबन्ध की आधुनिक विधियों का प्रयोग करती हुई होती है जबकि छोटी फर्में परम्परागत प्रबन्ध विधियों का प्रयोग करती हुई होती है ।

2.8 अनुकूलतम आकार की फर्म

एक औद्योगिक इकाई अथवा फर्म का आकार अनुकूलतम होना चाहिए । अनुकूलतम आकार की फर्म सर्वोत्तम अथवा आदर्श फर्म कही जा सकती है । अनुकलतम आकार वह आकार है जिसमें फर्म के उत्पादन साधन का अधिकतम कुशलता से उपयोग किया जा सकता हैं तथा न्यूनतम औसत लागत पर अधिकतम उत्पादन प्राप्त किया जा सकता है ।

प्रो. ई.ए.जी रोबिन्स के अनुसार, " अनुकूलतम फर्म से हमारा तात्पर्य एक ऐसी फर्म से है जिसमें तकनीकी तथा संगठन की योग्यता की वर्तमान दशा के कारण प्रति इकाई औसत उत्पादन लागत निम्नतम हो तथा वे सभी लागत व्यय जिन्हें दीर्घकाल में पूरा कर लेना चाहिए, सम्मिलित हो ।

प्रो. ए. बीकम के अनुसार, " एक आदर्श संसार में सब फर्मो को उस समय तक बढ़ने देना चाहिए जब तक कि वे अन्य उत्पादनों की तुलना में कम औसत लागत पर उत्पादन न करने लगे ।

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि अनुकूलतम आकार की इकाई वह होती है जिसमें प्रति इकाई औसत उत्पादन लागत सबसे कम होती है । प्रत्येक उद्योगपति जानबूझकर अनुकूलतम आकार की इकाई की स्थापना करना चाहता है, क्योंकि ऐसी औद्योगिक इकाई में उत्पादन साधनों का सर्वोत्तम उपयोग होता है जिससे उद्योगपति को भी अधिक लाभ प्राप्त होता है ।

अनुकूलतम आकार की इकाई की विशेषताएं - अनुकूलतम आकार की औद्योगिक इकाई की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित होती है

1 औसत लागत न्यूनतम होती है । यह तभी होता है जब वह सर्वाधिक कुशलता से कार्य कर रही हो ।

2 लाभ अधिकतम होने से अनुकूलतम इकाई का कोई सम्बन्ध नहीं होता है ।

3 अनुकूलतम आकार की इकाई की औसत लागतों में समस्त अल्पकालोन एवं दीर्घकालीन लागतों को सम्मिलित करने पर न्यूनतम होनी चाहिए ।

4 अनुकूलतम आकार की इकाई पूर्ण प्रतिस्पर्द्धा के बाजार में स्थापित हो सकती है अन्य किसी बाजार में नहीं ।।

5 अनुकूलतम आकार का विचार स्थायी विचार नहीं है, यह उत्पादन की तकनीक तथा संगठन की योग्यता के साथ-साथ परिवर्तित होता रहता है ।

2.9 अनुकूलतम आकार को निर्धारित करने वाले तत्व

औद्योगिक इकाईयों के अनुकूलतम आकार को निर्धारित करने वाले तत्वों को प्रो.ई.ए.जी. रॉबिन्स ने पांच वर्गो में बांटा है । इनका संक्षिप्त वर्णन नीचे किया जा रहा है :

1 **तकनीकी कारक** -तकनीकी शक्तियां उत्पादन विधियों पर निर्भर करती है तथा ये फर्म के अनुकूलतम आकार को प्रभावित करती है । तकनीकी कारकों में श्रम विभाजन, विशिष्टिकरण प्रमापीकरण तथा यंत्रीकरण सम्मिलित होते हैं जिनके कारण उत्पादन क्रियाओं में मितव्ययिताए प्राप्त होती है ।

तकनीकी कारणों से जहां उत्पादन को एक निश्चित आकार से कम पर चलाना अमितव्ययितापूर्ण होता है वैसे ही अधिकतम आकार पर चलाना ही श्रेष्ठ होता है ।

2 **प्रबंधकीय कारक** -प्रबन्ध की इकाई बडी होने पर प्रबन्ध सम्बन्धी मितव्ययिताएं प्राप्त होती है । बड़े आकार की औद्योगिक इकाई में प्रबंधकीय कार्यो को कई भागों में बांट कर विशेषज्ञों की सेवाएं प्राप्त की जा सकती है । प्रबन्धकीय कार्यो के विभाजन से विशिष्टता के कारण प्रबन्धकीय बचत प्राप्त होती है उत्पादन नियोजन अधिक अच्छा होता है । विशेषज्ञों के साथ-साथ प्रबन्धकीय कार्यो में आधुनिक यंत्रों का प्रयोग भी संभव होता है । इनमें प्रबन्धकीय व्यय प्रति इकाई कम होते हैं ।

3 **वित्तीय कारक** - प्रत्येक औद्योगिक अथवा व्यावसायिक इकाई के लिए वित्त जीवन-रक्त होता है । सामान्यता एक इकाई का आकार पूंजी की मात्रा पर निर्भर करता है । फर्म का आकार भी पूंजी प्राप्ति को प्रभावित करता है । सामान्यतया बड़ी फर्में आसान शर्तो पर विभिन्न स्रोतों से वित्त प्राप्त कर सकती है । बड़ी इकाइयों को सरकार तथा वित्तीय संस्थाएं भी आसानी से वित्त उधार दे देती है । अत: वित्तीय शक्तियों बड़े आकार की औद्योगिक इकाइयों के पक्ष में होती है । किसी इकाई का अनुकूलतम वित्तीय स्वरूप क्या होगा, यह उद्योग की प्रकृति पर निर्भर करता है । अनुकूलतम वित्तीय इकाई का निर्धारण संगठन के प्रकार पर भी निर्भर करता है ।

4 **विपणन सम्बन्धी कारक** -औद्योगिक इकाई का आकार उसके द्वारा निर्मित वस्तु के बाजार पर निर्भर करता है । अत: विपणन सम्बन्धी कारक औद्योगिक इकाई के आकार को अत्यधिक रूप से प्रभावित करते हैं प्रारंभ में विक्रय संगठन के आकार की वृद्धि से क्रय-विक्रय में मितव्ययिताऐं प्राप्त होती हैं । परन्तु एक सीमा के बाद यह अधिक खर्चीला होने लगता है । इसी सीमा पर अनुकूलतम विपणन इकाई की स्थापना होती है ।

5 **जोखिम सम्बन्धी कारक** - आर्थिक व्यवसाय का अभिन्न अंग होती हैं जिनका किसी प्रकार का बीमा नहीं करवाया जा सकता है । वस्तु की मांग के परिवर्तनों से जोखिमें अधिक बढ़ जाती है । मागं में परिवर्तन स्थायी कारणों, चक्रीय कारणों अथवा अन्य कारणों से होता है । जो फर्म जोखिम सम्बन्धी कारकों के अनुसार अपने आपको समायोजित कर लेती है वह फर्म बड़ी फर्म होती है जो इनके अनुसार परिवर्तन नहीं

कर सकती है वह प्लेटे पैमाने की फर्म होती है । उपर्युक्त सभी तत्व फर्म के अनुकूलतम आकार को प्रभावित करते हैं और अनेक बार एक तत्व के कारण फर्म का आकार बढ़ाने पर मितव्ययिता प्राप्त होती है तो दूसरे कारणें से अमितल्मयिताएं प्राप्त हो सकती है ।

2.10 सारांश

इस व्यावसायिक प्रगति के युग में सर्वोच्च प्रबन्ध को जटिल आर्थिक समस्याओं के समाधान ढूंढने में प्रबन्धकीय अर्थशास्त्रियों के महत्व को पर्याप्त रूप से स्वीकार किया गया है यह प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री अपने विशेष ज्ञान एवं प्रबन्ध तकनीक के द्वारा उच्चधिकारियों को भावी नियोजन एवं आर्थिक निर्णयों में उपयोगी सहायता प्रदान करता है ।

व्यवसाय की सफलता बहुत कुछ व्यवसाय के स्थान या स्थिति पर भी निर्भर करती है उद्योग की स्थिति उत्पादन तथा वितरण लागतों को प्रभावित करती है । जिसका अन्ततः लाभ पर प्रभाव पड़ता है ।

प्रत्येक औद्योगिक संयंत्र या व्यवसाय का उद्देश्य न्यूनतम लागत पर अधिकतम उत्पादन कर अपने लाभ को अधिकतम करना होता है उसके लिए व्यवसाय का एक अनुकूल आकार होना भी जरूरी है ।

2.11 शब्दावली

1 स्थान-चयन - स्थान चयन के चुनाव का अभिप्राय उस क्रिया से है जिसके द्वारा किसी स्थान या क्षेत्र विशेष में औद्योगिक इकाई या संयंत्र की स्थापना की जाती है ।

2 अनुकूलतम आकार - व्यवसाय के पैमाने का वह स्तर जिस पर तकनीकी, प्रबन्धकीय, वित्तीय, विपणन एवं जोखिम आदि सभी तत्वों का अनुकूलतम संयोग हो जाये ।

3 स्थानीयकरण का गुणक - स्थानीयकरण का तक एक उद्योग के केन्द्रित होने की प्रवृति बताता है इसका तात्पर्य देश में कहीं पर भी किसी उद्योग के केन्द्रित होने से होता है ।

2.12 स्वपरख प्रश्न

1 प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री की व्यवसाय में भूमिका एवं दायित्व बताइये ।

2 किसी नई औद्योगिक इकाई के स्थान निर्धारण में (किन तत्वों को ध्यान में रखेंगे ।

3 फर्म के अनुकूलतम आकार का अर्थ बताते हुए इसे निर्धारित करने वाले तत्व बताइये ।

4 स्थान निर्धारण के महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का उल्लेख कीजिए ।

2.13 सन्दर्भ ग्रन्थ

1 डी.एन. द्विवेदी, 'प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र', विकास पब्लिकेशन हाऊस, नई दिल्ली

2 शर्मा, केजरीवाल, 'प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र', साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा

3 एम.एल. झिंगन, 'प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र, वृन्दा पब्लिकेशन्स प्रा. लि., नई दिल्ली

4 सिंह, शर्मा, चौधरी, 'प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र, रमेश बुक डिपो, जयपुर
5 एम.डी. अग्रवाल, 'प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र', श्री महावीर बुक डिपो पब्लिशर्स, नई दिल्ली

इकाई-3 माँग विश्लेषण

इकाई की रूपरेखा -

3.1 प्रस्तावना

3.2 मांग का अर्थ एवं परिभाषा

3.3 मांग एवं आवश्यकता में अन्तर

3.4 मांग का नियम

3.5 मांग के नियम का अपवाद

3.6 मांग का विस्तार व संकुचन

3.7 मांग में वृद्धि व कमी

3.8 मांग के प्रकार

3.9 अभ्यास प्रश्न

3.1 प्रस्तावना Introduction

सम्पूर्ण अर्थशास्त्र प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप में मांग से अवश्य प्रभावित है । वर्तमान परिवेश में यदि यह कहा जाए कि सम्पूर्ण अर्थशास्त्र मांग एवं पूर्ति के चारों ओर चक्कर लगा रहा, है, तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी । अत: मांग के बिना उपभोग तथा बाजार का अध्ययन नहीं किया जी सकता है ।

उपभोग समस्त आर्थिक क्रियाओं का आधार स्तम्भ है । व्यक्ति अपनी विविध आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वस्तुओं एवं सेवाओं की मांग करते हैं । लेकिन मांग किसे कहते हैं ? एक वस्तु की कीमत और मांग के बीच क्या संबंध हैं ? मांग का विस्तार व संकुचन एवं मांग में वृद्धि व कमी में क्या अन्तर है 7 मांग को प्रभावित करने वाले तत्व कौन से है ? आदि कुछ ऐसे प्रश्न है, जिनका उत्तर हमनें इस अध्याय में देने का प्रयास किया है ।

3.2 मांग का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Demand)

सामान्यत: मांग बाजार में मांगी जाने वाली उस मात्रा की अभिव्यक्ति करती है जो किसी निश्चित कीमत एवं निश्चित समयावधि के अन्दर मांगी जाती है । व्यावहारिक जीवन में उपभोक्ता मांग के स्थान पर कई पर्यायवाची शब्द प्रयोग में लाता है, जैसे - इच्छा, प्रभावपूर्ण, आवश्यकता आदि, जबकि वास्तव में इनका अर्थ भिन्न होता है । अर्थशास्त्र में इनका प्रयोग विभिन्न अर्थ में होता है जैसे :-

1 **मांग एक प्रभावपूर्ण इच्छा है** (**Demand is an effective desire**) :- ***प्रो पैन्सन के अनुसार " मांग एक प्रभावपूर्ण इच्छा है एक इच्छा को प्रभावपूर्ण इच्छा केवल तनी माना जाता है जबकि उसमें निम्न तत्व हो-*** (i) किसी वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा

करना, (ii) इच्छा पूर्ति के लिए साधन (रूपया) का होना, (iii) साधन को व्यय करने की तत्परता का होना । इस प्रकार कोई भी इच्छा तब तक मांग नहीं बन सकती जब तक वह इन शर्तों को पूरा न करती हो ।

2 **मांग एक निश्चित कीमत पर मांगी गई वस्तु की मात्रा है (Demand Is The Quantity of a Commodity Demanded at a Particular Price)** :- ***प्रो. मिल*** *का कहना है कि मांग सदैव मूल्य के साथ ही व्यक्त की जानी चाहिए । उनके शब्दों में* ***मांग किसी वस्तु की वह मात्रा है जिसे एक व्यक्ति/उपभोक्ता एक दिये हुए मूल्य पर खरीदने के ठीक तैयार होता है***

3 **मांग किसी समय विशेष पर वस्तु की मांगी गई मात्रा है** (**Demand is the Quantity Demanded of a Commodity at a Particular Time**) :- प्रो. बेन्हम ने मांग का संबंध कीमत के साथ-साथ समय से भी जोड़ा है । उनके शब्दों में " एक दिये हुए समय पर किसी वस्तु की मांग उस वस्तु की वह मात्रा है जो किसी समय विशेष पर उस मूल्य दर खरीदी जाती है ।"

इस प्रकार उपरोक्त वर्णन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मांग वह प्रभावपूर्ण इच्छा होती है जो उपभोक्ता अथवा बाजार द्वारा निश्चित कीमत एवं निश्चित समयावधि के अन्तर्गत मांगी जाती है । (Demand is an Effective Desire at a Certain Price And at a Certain Time)

3.3 आवश्यकता तथा माँग में अन्तर (Distinction between Wants and Demand)

आवश्यकता में प्रमुख रूप से तीन बातें पाई जाती है यथा - (i) किसी वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा करना, (ii) इच्छा पूर्ति के लिए साधन (रूपया) का होना तथा (iii) साधन को व्यय करने की तत्परता होना । जबकि मांग में इन बातों के अतिरिक्त दो अन्य तत्वों यथा - (i) निश्चित कीमत एवं (ii) निश्चित समयावधि का होना आवश्यक है ।

3.4 मांग का नियम (Law of Demand)

मांग का नियम वस्तु की कीमत एवं मांग के संबंध को स्पष्ट करता है । सामान्यत: वस्तु की कीमत में वृद्धि होने पर उसकी मांग कम हो जाती है और कीमत में कमी होने पर उसकी मांग में वृद्धि हो जाती है । कीमत एवं मांग के इस विपरीत संबंध को ही मांग के नियम की संज्ञा दी जाती है । मांग के नियम को विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने अग्रांकित रूप में परिभाषित किया है :-

प्रो मार्शल के अनुसार " वस्तु की जितनी अधिक मात्रा बेचने के लिये होती है, उसे उतने ही कम मात्रा पर बेचना पड़ता है जिससे कि ग्राहक मिल सके । दूसरे शब्दों में वस्तु की मांगी जाने वाली मात्रा कीमत के गिरने के साथ बढ़ती है, और कीमत के बढ़ने के साथ घटती है । "

प्रो सैम्युलसन के अनुसार, " अन्य बातों के समान रहने पर जब किसी वस्तु का मूल्य बढ़ जाता है तो उसकी मांग कम हो जाती है अर्थात कम मूल्य पर अधिक वस्तु खरीदते है और अधिक मूल्य पर कम वस्तु खरीदते हैं । उपरोक्त अर्थ एवं परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अन्य बातों के समान रहने पर वस्तु की कीमत में वृद्धि होने पर उपभोक्ताओं द्वारा वस्तुओं की मांग कम एवं नीची कीमत पर उपभोक्ता बाजार की ओर आकर्षित होकर और अधिक वस्तुओं की मांग करता है । अर्थात् मांग का नियम कीमत व मांग में विपरीत सम्बन्ध की व्याख्या करता है ।

मांग के नियम की मान्यताएं. शर्त. सीमाएं

मांग के नियम की व्याख्या के अन्तर्गत 'अन्य बाते समान रहने पर' एक महत्वपूर्ण वाक्यांश आया है । यह वाक्यांश, मांग के नियम की उन मान्यताओं, शर्तों एवं सीमाओं को स्पष्ट करता है जिनका पूरा होना इस नियम के लागू होने के लिये आवश्यक है । अर्थात् मांग का नियम तभी लागू होगा जब कि अग्रांकित मान्यताएं, सीमाएं, शर्त अथवा अन्य बाते समान रहे -

1. उपभोक्ता की आय में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होना चाहिए ।
2. सम्बन्धित वस्तुओं की कीमतों में भी किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होना चाहिए अर्थात् वह यथास्थिर रहे ।
3. उपभोक्ता की रूचि, स्वभाव, फैशन एवं मौसम में परिवर्तन नहीं होना चाहिए ।
4. भविष्य में कीमतों में परिवर्तन होने की आशंका नहीं होनी चाहिए ।
5. प्रतिष्ठामूलक,दुर्लभ एवं मूल्यवान वस्तुओं के सम्बन्ध में यह नियम लागू नहीं होता है।
6. किसी अन्य स्थानापन्न वस्तु का विकास नहीं होना चाहिये अर्थात् ग्राहक को उसका ज्ञान नहीं होना चाहिए ।

मांग के नियम की उपरोक्त व्याख्या को अग्रांकित तालिका एवं रेखाचित्र द्वारा पू अधिक स्पष्ट रूप से समझाया जा सकता है :-

तालिका द्वारा स्पष्टीकरण

क्रम संख्या	कीमत (रुपये में)	मांग मात्रा (इकाइयों में)
1	5	100
2	4	200
3	3	300
4	2	400
5	1	500

उपरोक्त तालिका के कलोकन से यह स्पष्ट हो रहा है कि वस्तु की एवं उपभोक्ता द्वारा मांगी गई इकाईयों की मात्रा में विपरीत संबंध परिलक्षित हो रहा है अर्थात् जब 5,4,3,2 व 1 रुपये हे तो मागी गई इकाईयों की संख्या क्रमश: 1००,200,3००,4०० एवं 500 रही है ।

रेखा चित्र द्वारा स्पष्टीकरण

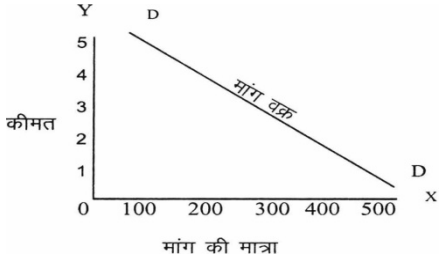

उपरोक्त रेखाचित्र के अध्ययन से यह दृष्टिगत हो रहा है DD मांग रेखा बायें, से दायी ओर नीचे गिरती हुई है जो कीमत व मांग में विपरीत संबंध को इंगित कर रही है ।

उपरोक्त मांग के नियम की व्याख्या के पश्चात् यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि कीमत व मांग में विपरीत सम्बन्ध क्यों होता है ? अर्थात् मांग वक्र बाएं से दायी ओर नीचे। क्यों गिरता हुआ होता है, जिसका उत्तर अग्रांकित रूप में दिया जा रहा है ।

कीमत व मांग में विपरीत सम्बन्ध क्यों होता है ? अथवा मांग वक्र ।बाएं से दायी ओर नीचे गिरता हुआ क्यों होता है ?

वस्तु की कीमत और मांग की मात्रा में विपरीत संबंध के परिणाम स्वरूप ही मांग वक्र रेखा नीचे की ओर झुकती हुई होती है । परन्तु प्रश्न यह उठता है कि व्यक्ति अथवा उपभोक्ता कम कीमत पर ही वस्तु की अधिक मात्रा क्यों खरीदता है एवं ऊंची कीमत पर वस्तु की कम मात्रा क्यों खरीदता है । कीमत एवं मांग में विपरीत सम्बन्ध के निम्नलिखित कारण है :-

1. **सीमांत उपयोगिता हास्य नियम के कारण :-** सीमांत उपयोगिता - नियम का तात्पर्य एक उपभोक्ता जैसे-जैसे किसी वस्तु का उपभोग करता जाता है, वैसे-वैसे उस वस्तु से उपभोक्ता को कम उपयोगिता प्राप्त होती जाती है । प्रो. मार्शल के अनुसार, एक किसी वस्तु से प्राप्त उपयोगिता से अधिक मूल्य देने को तत्पर नहीं होता है । चूँकि मांग का नियम सीमांत उपयोगिता हास नियम पर आधारित है, अर्थात् उपभोक्ता ऊंची कीमत पर वस्तु से कम उपयोगिता प्राप्त होने के कारण से वह कम वस्तुओं की मांग करता है व इसके विपरीत नीची लागत पर अधिक उपयोगिता प्राप्त होने की वजह से वह अधिक वस्तुओं की मांग करता है ।

   इस प्रकार सीमांत उपयोगिता हास नियम के कारण कीमत व मांग में विपरीत संबंध होता है, अर्थात् मांग वक्र बाएं से दायी ओर नीचे गिरता हुआ होता है ।

2. **प्रतिस्थापन प्रभाव के कारण :-** प्रतिस्थापन का तात्पर्य एक वस्तु के स्थान पर दूसरी वस्तु का उपयोग किया जा सकता है, जैसे चाय के स्थान पर काँफी का प्रयोग करना। जब एक वस्तु की कीमत में वृद्धि होती है एवं दूसरी वस्तु की कीमत स्थिर रहती है तो उपभोक्ता पहली वस्तु का उपभोग कम करके दूसरी वस्तु के उपभोग में वृद्धि कर देता है, अर्थात् चाय की कीमत में वृद्धि होने तथा कॉफी की कीमत स्थिर होने पर उपभोक्ता चाय के स्थान पर काँफी का प्रयोग अधिक करेगा । इस प्रकार प्रतिस्थापन प्रभाव के कारण भी कीमत व मांग में विपरीत सम्बन्ध होता है ।

3. **आय प्रभाव के कारण :-** किसी वस्तु की कीमत में कमी होने पर उपभोक्ता को जो आय में वृद्धि (अप्रत्यक्ष आय) होती है उससे उपभोक्ता न केवल दूसरी वस्तुओं की मांग में वृद्धि करेगा वरन् जिस वस्तु की कीमतों में कमी हुई है, उसकी मात्रा में वृद्धि करने का प्रयास करता है । इस प्रकार आय प्रभाव के कारण भी कीमत व मांग में विपरीत संबंध होता है, अर्थात् मांग वक्र बाएं से दायी ओर नीचे गिरता हुआ होता है ।
4. **उपभोक्ता की प्रवृत्ति के कारण :-** सामान्यत: उपभोक्ता की प्रवृत्ति के कारण भी कीमत व मांग में विपरीत संबंध होता है । अर्थात् ऊँची कीमत पर उपभोक्ता कम वस्तुओं की मांग करता है एवं नीची कीमत पर उपभोक्ता बाजार की ओर आकर्षित होकर ओर अधिक वस्तुओं की मांग करता है । वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि होने से उपभोक्ताओं को इन वस्तुओं से कम उपयोगिता प्राप्त होने की वजह से उस वस्तु की मांग कम करता है । इसके विपरीत नीची कीमत होने पर वस्तु की मांग अधिक करता है । इस प्रकार कीमत व मांग में विपरीत संबंध होता है ।
5. **क्रेताओं की संख्या में परिवर्तन -** जब किसी वस्तु की कीमत पहले से कम हो जाती है तो कुछ ऐसे व्यक्ति भी इस वस्तु को क्रय करने में समर्थ हो जाते है जो कि इस वस्तु को उसके पूर्व की कीमत पर नहीं खरीद सकते थे । परिणाम स्वरूप, उस वस्तु की मांग में वृद्धि हो जाती है तथा जब वस्तु की कीमत में वृद्धि हो जाती है, तब बहुत से उपभोक्ता उस वस्तु को क्रय करने में असमर्थ हो जाते है और उस वस्तु का उपभोग कम कर देते है । अत: कीमत में वृद्धि के साथ उस वस्तु की मांग में कमी हो जाती है ।

3.5 "मांग के नियम का अपवाद " (Exception to the Law of Demand)

सामान्यत: कीमत व मांग में विपरीत संबंध पाया जाता है । किन्तु किन्ही परिस्थितियों अथवा अवस्थाओं में कीमत व मांग में विपरीत संबंध न होकर सीधा संबंध होता है अर्थात् वस्तु की कीमत में वृद्धि होने से मांग में वृद्धि एवं कीमत में कमी होने से मांग में कमी होती है । इस प्रकार कीमत व मांग में सीधे अथवा प्रत्यक्ष संबंध को मांग के नियम के अपवाद की संज्ञा दी. जाती है । इसे अग्रांकित तालिका एवं रेखाचित्र द्वारा ओर अधिक स्पष्ट रूप से समझाया जा सकता है :-

कीमत (रुपये में)	मांग मात्रा (इकाइयों में)
5	100
4	200
3	300
2	400
5	500

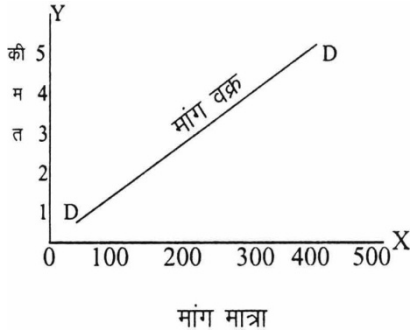

उपरोक्त तालिका एवं रेखाचित्र के अवलोकन से यह ज्ञात होता है कि तालिका से कीमत व मांग में सीधा संबंध परिलक्षित हो रहा है एवं रेखाचित्र से यह ज्ञात हो रहा है कि DD मांग रेखा बाएं से दायी ओर उपर उठती हुई दृष्टिगत हो रही है । अब प्रश्न यह उठता है कि किन परिस्थितियों में कीमत व मांग में सीधा संबंध होता है अर्थात् मांग वक्र बाएं से दायी ओर उपर उठता हुआ क्यों होता है ? इसका उत्तर अग्रांकित रूप में दिया जा रहा है ।

"किन परिस्थितियों में कीमत व मांग में सीधा सम्बन्ध होता है?

अथवा

"किन परिस्थितियों में मांग वक्र बाएं से दायी ओर ऊपर उठता हुआ होता है?

1. **भविष्य में कीमतों में परिवर्तन की आशंका हो :-** जब किसी वस्तु की कीमतों में वृद्धि हो लेकिन लोगों को यह आशंका हो कि भविष्य में और अधिक कीमतें बढ़ सकती है तो वे इस आशंका से वर्तमान में बढ़े मूल्यों पर वस्तु की मांग में वृद्धि करते है । इसके विपरीत यदि कीमतें घट रही हो और उपभोक्ताओं को ऐसा लगे कि भविष्य में कीमतें घट सकती है, तो वे वर्तमान में वस्तुओं की मांग घटा देगें । इस प्रकार भविष्य में कीमतों कमी या वृद्धि होने की आशंका हो तो कीमत व मांग में सीधा सम्बन्ध होगा।
2. **प्रतिष्ठामूलक मूल्यवान एवं दुर्लभ वस्तुओं के सम्बन्ध में :-** मांग का नियम प्रतिष्ठामूलक मूल्यवान एवं दुर्लभ वस्तुओं पर लागू नहीं होता । ऐसी वस्तुओं की मांग इनके मूल्यों में वृद्धि होने पर भी समान बनी रहती है क्योंकि उपरोक्त वस्तुएं धनी व्यक्तियों द्वारा क्रय की जाती है, जिन पर वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि होने का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है । अर्थात् प्रतिष्ठामूलक, मूल्यवान एवं दुर्लभ वस्तुओं के सम्बन्ध में कीमत व मांग में सीधा सम्बन्ध होता है ।
3. **उपभोक्ता की अज्ञानता व भ्रम की स्थिति :-** सामान्यत: उपभोक्ताओं की यह सोच होती है कि अधिक एवं ऊंचे मूल्यों वाली वस्तु कम मूल्य वाली वस्तु की अपेक्षा अधिक अच्छी होती है । इस प्रकार उपभोक्ता की अज्ञानता व भ्रम की स्थिति में कीमत व मांग में सीधा सम्बन्ध होता है अर्थात् मांग वक्र बाएं से दायी ओर ऊपर उठता हुआ होता है ।
4. **गिफिन का विरोधाभास नियम :-** मांग के नियम का महत्वपूर्ण अपवाद गिफिन का विरोधाभास नियम है । गिफिन के अनुसार " किसी वस्तु की कीमत में कमी होने से उपभोक्ता को जो अप्रत्यक्ष आय प्राप्त होती है उसे वह उसी वस्तु की माँग पर व्यय नहीं करके महंगी अथवा श्रेष्ठ वस्तुओं की मांग में वृद्धि करके व्यय करता है । " गिफिन ने यह माना कि सामान्यत: निकृष्ट/ घटिया वस्तुओं की कीमतों में ही कमी होती है । इस प्रकार गिफिन के विरोधाभास नियम के कारण भी कीमत मांग में सीधा सम्बन्ध होता है अर्थात् मांग वक्र बाएं से दायी ओर ऊपर उठता हुआ होता है ।

5. **अनिवार्य वस्तुओं के सम्बन्ध में :-** अनिवार्य वस्तुओं के सम्बन्ध में मांग का नियम लागू नहीं होता है क्योंकि अनिवार्य वस्तुओं की कीमतों मे चाहे कितनी ही वृद्धि क्यों न हो जाए तो भी उपभोक्ता इन वस्तुओं की मांग मे कमी करने में सफल नहीं हो पाता है । अर्थात् ऊंची कीमतों पर भी वह अधिक मांग करता है जैसे-नमक, जीवनदायी दवाईयां ।
6. **आपातकालीन स्थिति :-** मांग का नियम असाधारण परिस्थितियों जैसे अकाल, बाढ़, युद्ध, कर्फ्यू आदि में भी लागू नहीं होता । यघपि ऐसी परिस्थितियों में लगभग सभी वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाते है, तथापि उनकी मांग में कमी होने के स्थान पर बढ़ जाती है । इस प्रकार आपातकालीन / संकटकालीन परिस्थितियों में भी कीमत व मांग में सीधा सम्बन्ध होता है अर्थात् मांग वक्र बाएं से दायी और ऊपर उठता हुआ है ।

3.6 मांग का विस्तार व संकुचन एवं मांग में वृद्धि व कमी (Expansion & Contraction and Increase & Decrease in Demand)

मांग एवं मांग के नियम को कई तत्व प्रभावित करते हैं यथा - कीमत, आय, आदत, रूचि, फैशन, मौसम, जनसंख्या, सरकारी नीति आदि । उपरोक्त पृष्ठभूमि के आधार पर मांग का विस्तार-संकुचन एवं मांग में वृद्धि कमी की व्याख्या अग्रांकित रूप में की जा रही है :-

मांग का विस्तार - संकुचन

अन्य बातों के समान रहने पर किसी वस्तु की कीमत में परिवर्तन होने पर यदि उपभोक्ताओं द्वारा उस वस्तु की अधिक मांग की जाती है तो उसे मांग का विस्तार एवं यदि उस वस्तु की कम मांग की जाती है तो उसे मांग का संकुचन की संज्ञा दी जाती है । मांग के विस्तार एवं संकुचन को अग्राकित उदाहरण एवं रेखाचित्र द्वारा और अधिक स्पष्ट रूप से समझाया जा सकता है :-

उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण

वस्तु की कीमत (रु.)	मांग मात्र (इकाइयों में)	विवरण / टिप्पणी
3	150	मांग का विस्तार
4	100	वर्तमान स्थिति
5	50	मांग का संकुचन

रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण

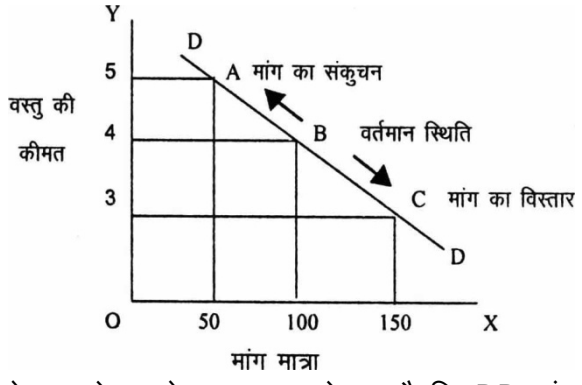

उपरोक्त रेखाचित्र के अवलोकन से यह स्पष्ट हो रहा है कि DD मांग वक्र के A बिन्दु से मांग का संकुचन, बिन्दु B से वर्तमान स्थिति एवं बिन्दु C से मांग का विस्तार को दर्शा रहा है ।

3.7 "मांग में वृद्धि एवं कमी' ' (Increase & Decrease in Demand)

जब किसी वस्तु की मांग में इसके मूल्य के अतिरिक्त अन्य किसी तत्व में परिवर्तन के परिणाम स्वरूप वृद्धि अथवा कमी होती है तो इसे मांग में वृद्धि अथवा मांग में कमी कहते है । जब ऐसे किसी तत्व में परिवर्तन के फलस्वरूप वस्तु की मांग बढ़ जाती है तो इसे मांग में वृद्धि कहते है और जब ऐसे तत्व में परिवर्तन के परिणामस्वरूप मांग कम हो जाती है तो इसे मांग में कमी कहते है । इस प्रकार मांग में वृद्धि व कमी के सम्बन्ध में वस्तु की कीमत स्थिर रहती है व यदि परिवर्तित होती भी है तो वह मांग पर अप्रभावी होती है । मांग में वृद्धि एवं मांग मे कमी को अग्रांकित उदाहरण एवं रेखाचित्र द्वारा दर्शाया जा सकता है :-

उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण

वस्तु की कीमत (रु.)	मांग मात्र (इकाइयों में)	विवरण / टिप्पणी
4	150	मांग में वृद्धि
4	100	वर्तमान स्थिति
4	50	मांग में कमी

रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण

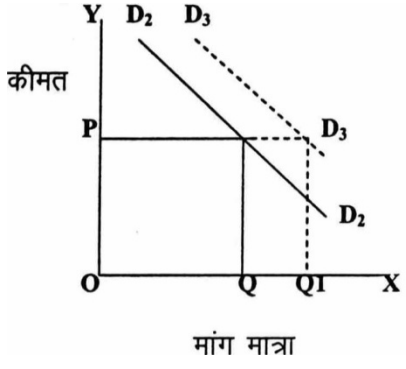

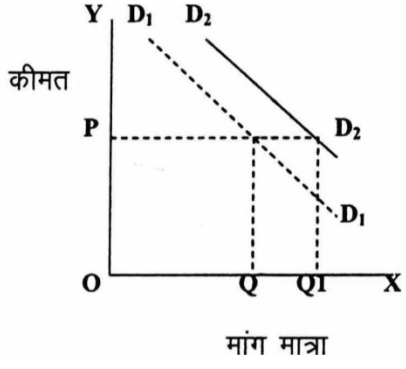

उपरोक्त रेखाचित्र A के अवलोकन से यह स्पष्ट रहा है मांग वक्र D_2D_2 से खिसक कर D_3D_3 को इंगित कर रहा है कि कीमत के स्थिर रहने पर भी मांग में वृद्धि हो रही है । ठीक उसी प्रकार रेखाचित्र छ के अवलोकन से यह ज्ञात हो रहा है कि मांग रेखा D_2D_2 से खिसक कर D_1D_1 दृष्टिगत हो रहा है जो कि मांग में कमी OQ 1 से OQ मात्रा के रूप में अवगत हो रहा है ।

3.8 मांग के प्रकार (Types of Demand)

किसी वस्तु या सेवा के लिए उपभोक्ता की मांग उस वस्तु के मूल्य पर निर्भर करती है या उपभोक्ता की आय पर निर्भर करता है, या उस वस्तु की पूरक एवं स्थानापन्न वस्तुओं के मूल्य पर निर्भर करती है । अत: उपरोक्त बातों को ध्यान में रखते हुए मांग के प्रकारों को अग्रांकित
रूप में वर्णन किया जा सकता

1 **मूल्य मांग :-** अन्य बातों के समान रहने पर किसी वस्तु की कीमत में परिवर्तन से उपभोक्ता द्वारा जो मांग की जाती है उसे मूल्य मांग अथवा कीमत मांग की संज्ञा दी जाती है । अन्य बातों के समान रहने पर का तात्पर्य मांग को प्रभावित करने वाले तत्वों यथा आय आदत, रूचि, फैशन यथा स्थिर रहे एवं केवल कीमत में परिवर्तन से मांग पर जो प्रभाव पड़े उसे मूल्य मांग कहते है । मूल्य मांग को अग्राकित रेखाचित्र द्वारा दर्शाया जा सकता है :-

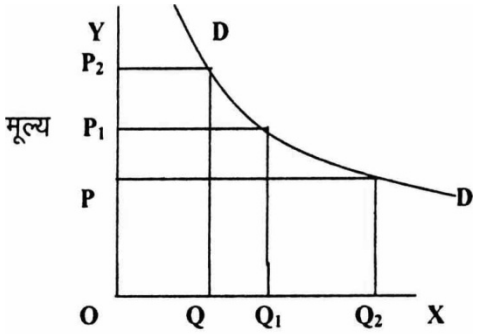

उपरोक्त रेखाचित्र के अध्ययन से यह स्पष्ट हो रहा है कि DD मांग बायीं से दायी ओर नीचे गिरता हुआ यह दर्शा रहा है कि कीमत में वृद्धि से मांग में कमी एवं कीमत में कड़ी से मांग में वृद्धि हो रही है जो मूल्य मांग को दर्शा रही है ।

2 **आय मागं -** उपभोक्ता अपनी विभिन्न आयों पर किसी वस्तु की कितनी मात्रा की मांग करता है । इसे परिभाषित करते समय यह मान लिया जाता है कि वस्तु की मांग पर केवल उपभोक्ता की आय का प्रभाव पड़ता है । इसके अतिरिक्त वस्तु की कीमत स्थानापन्न वस्तुओं के मूल्य, वस्तु की प्रकृति, उपभोक्ता की रूचि आदि का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है ।

उपभोक्ता की आय में परिवर्तन होने से उसके द्वारा मांगी जाने वाली वस्तुओं पर अलग-अलग प्रभाव पड़ता है अर्थात् आय में परिवर्तन से श्रेष्ठ वस्तुओं एंव निकृष्ट

वस्तुओं पर भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ता है जिसे अग्रांकित रूप में अध्ययन किया जा सकता है ।

(A) **श्रेष्ठ वस्तुएं :-** उपभोक्ता की आय एवं श्रेष्ठ वस्तुओं के मध्य सीधा सम्बन्ध होता है अर्थात् उपभोक्ता की आय में वृद्धि होने से श्रेष्ठ वस्तुओं की मांग में वृद्धि होती है एवं इसके विपरीत उपभोक्ता की आय में कमी होने से श्रेष्ट वस्तुओं की मांग कम की जाती है । इसे रेखाचित्र A-1 में दर्शाया गया है ।

(B) **निकृष्ट वस्तुएं :-** उपभोक्ता की आय एवं निकृष्ट वस्तुओं की मांग में विपरीत सम्बन्ध होता है अर्थात् उपभोक्ता की आय में वृद्धि होने से निकृष्ट वस्तुओं की मांग कम एवं उपभोक्ता की आय में कमी होने से निकृष्ट वस्तुओं की मांग में वृद्धि होती है । इसे रेखाचित्र A-2 में दर्शाया गया है ।

A - 1

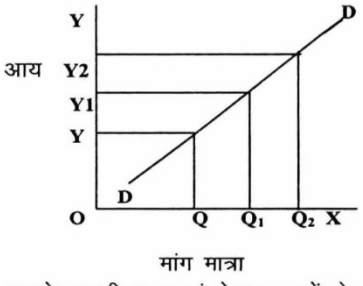

उपभोक्ता की आय एवं श्रेष्ठ वस्तुओं के मध्य सीधा सम्बन्ध

A - 2

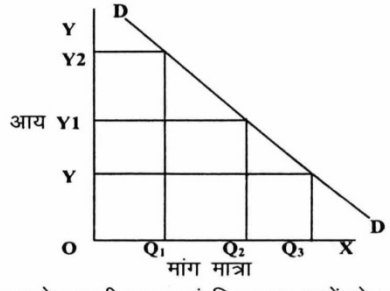

उपभोक्ता की आय एवं निकृष्ट वस्तुओं के मध्य विपरीत सम्बन्ध

3 तिरछी आड़ी या बच मांग :- अन्य बातों के समान रहने पर किसी एक वस्तु की कीमत में परिवर्तन होने से यदि दूसरी वस्तु की मांग पर जो प्रभाव पड़ता है उसे तिरछी, आड़ी या वज्र मांग की संज्ञा दी जाती है । एक वस्तु के मूल्य में परिवर्तन का दूसरी वस्तु की मांग पर जो प्रभाव पड़ता है उसका अध्ययन निम्नांकित शीर्षकों के रूप में किया जा सकता है :-

I. स्थानापन्न वस्तुएं :- स्थानापन्न वस्तुओं से तात्पर्य एक वस्तु के स्थान पर दूसरी वस्तु का उपभोग करना संभव हो । अर्थात एक वस्तु के स्थान पर दूसरी वस्तु का उपभोग किया जा सकता हो, जैसे चाय के स्थान पर कॉफी । इन वस्तुओं के संबंध में मांग में परिवर्तन इस प्रकार होता है कि यदि एक वस्तु की चाय की कीमत में वृद्धि हो जाएं तथा दूसरी स्थानापन्न वस्तु कॉफी की कीमत स्थिर रहे तो उपभोक्ता पहली वस्तु की मांग कम कर देगा और दूसरी स्थानापन्न वस्तु की मांग में वृद्धि कर देगा, जिसे अग्रांकित रेखाचित्र द्वारा दर्शाया जा सकता है:-

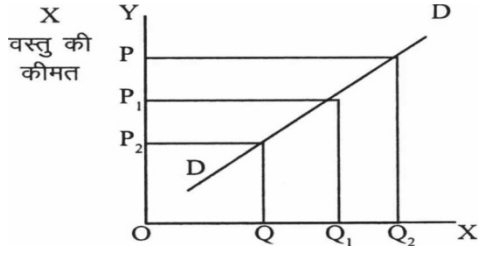

उपरोक्त रेखाचित्र के अध्ययन से यह स्पष्ट हो रहा है कि पु वस्तु की X में वृद्धि होने से Y वस्तु की मांग में वृद्धि हो रही है एवं X वस्तु की कीमत में कमी होने से Y वस्तु की मांग में कमी दृष्टिगत हो रही है अर्थात् X वस्तु की कीमत में परिवर्तन से Y वस्तु की मांग में जो परिवर्तन हो रहा है उसे तिरछी या आड़ी मांग को इंगित कर रही है।

II. पूरक वस्तुएं :- पूरक वस्तुओं का तात्पर्य एक वस्तु का उपयोग दूसरी वस्तु के बिना संभव नही होता है अर्थात् एक वस्तु का प्रयोग दूसरी वस्तु के उपयोग पर निर्भर करता है यथा-कार व पेट्रोल, पेन व स्याही आदि । पूरक वस्तुओं के अन्तर्गत एक वस्तु की कीमत (कार) में होने से दूसरी वस्तु (पेट्रोल) की मांग में कमी हो जाती है एवं उस वस्तु की कीमत (कार) में कमी से दूसरी वस्तु (पेट्रोल) की मांग में वृद्धि हो जाती है । जिसे अग्रांकित रेखाचित्र द्वारा दर्शाया जा सकता है ।

रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण

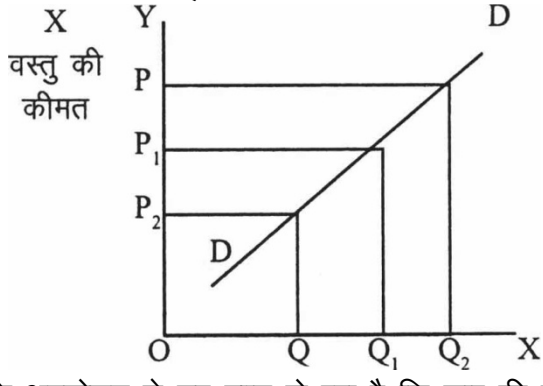

उपरोक्त रेखाचित्र के अवलोकन से यह ज्ञात हो रहा है कि कार की में परिवर्तन होने से पेट्रोल की मांग में भी परिवर्तन दृष्टिगत हो रहा है ।

III. संयुक्त मांग :- कभी एक उद्देश्य की पूर्ति के लिए एक साथ दो वस्तुओं की मांग की जाती है तो उसे संयुक्त मांग की संज्ञा दी जाती है । उदाहरण के तौर पर रोटी । मक्खन की मांग, क्रिकेट बेट व बॉल की मांग आदि ।

IV. व्युत्पन्न मांग - जब किसी वस्तु की मांग इसलिए की जाती है उस वस्तु की सहायता से किसी अन्य वस्तु का उत्पादन किया जाता है तो ऐसी मांग को व्यूत्पन्न ' कहते है जैसे - ईट तथा चूने की मांग व्यूत्पन्न मांग कहलाती है क्योंकि इनकी मांग, मकान आदि बनाने के लिए होती है ।

V. सामूहिक मांग - सामूहिक मांग का तात्पर्य ऐसी वस्तु की मांग से है, जिसे कई प्रयोग में लाया जा सकता है । जैसे बिजली, कोयला आदि मांग सामूहिक मांग कहलाती है क्योंकि इनका उपयोग कई प्रकार के कामों में लाया जा सकता है ।

3.9 अभ्यास प्रश्न

1 मांग के नियम की व्याख्या करते हुए स्पष्ट कीजिए कि मांग वक्र बायी से दायी ओर क्यों झुकता हैं ? (Discuss the Law of demand. Explain why the demand curue sleps from left to right?)

2 मांग का नियम क्या है? इस नियम की मान्यताएं लिखिए? (What is Law of demand? Write the assumptions of this Law.)

3 "दिये हुए मूल्य पर किसी वस्तु की मांग उस वस्तु की वह मात्रा होती है । जो किसी समय में उस मूल्य पर खरीदी जाती है' । (बेन्हम) इस कथन को चित्रों की सहायता से स्पष्ट कीजिए? ("The Demand of anything at a given price is the amount of it which will be bought per unit of timje at that price." (Bebhom) Explain with the help of diagram.

4 मांग वक्र से आप क्या समझते है ? मांग का नियम रेखाचित्र की सहायता से समझाइये । (What do you understand by Demand Curve? Explain with the help of Diagram the Law of Demand.)

5 मांग के विभिन्न प्रकारों की रेखाचित्रों द्वारा व्याख्या कीजिये ? (Describe the Various types of demand with the help of diagrams.)

6 मांग का विस्तार-संकुचन एवं मांग में कमी वृद्धि की व्याख्या कीजिये ? (Describe the Expansion-Carilraction and Increase-Decrease in Demand.)

इकाई-4 माँग की लोच

इकाई की रूपरेखा -

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 अर्थ एवं परिभाषा

4.3 मांग की लोच की श्रेणियाँ

44 मांग की मूल्य लोच को मापने की विधियाँ

4.5 मांग की मूल्य लोच को प्रभावित करने वाले तत्त्व

4.6 मांग की मूल्य लोच का महत्त्व तथा इसका व्यवहारिक एवं प्रबन्धकीय उपयोग

4.7 मांग की आय लोच

4.8 मांग की आय लोच की श्रेणियाँ

4.9 मांग की आय लोच का महत्त्व

4.10 मांग की आड़ी तिरछी लोच

4.11 सारांश

4.12 शब्दावली

4.13 अभ्यास प्रश्न

4.14 संदर्भ ग्रन्थ

4.0 उद्देश्य

मांग का नियम एक गुणात्मक कथन है जो हमें मूल्य व मांग के मध्य विपरीत सम्बन्ध की दिशा का ज्ञान करवाता है । जबकि माँग की लोच एक परिमाणात्मक कथन है जो किसी वस्तु के मूल्य में होने वाले प्रतिशत परिवर्तन के परिणामस्वरूप उसकी माँग में होने वाले प्रतिशत परिवर्तन की माप है । इस पाठ में माँग की लोच का सविस्तार वर्णन किया गया जो छात्रों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा ।

4.1. प्रस्तावना

अर्थशास्त्र में माँग का नियम एक महत्त्वपूर्ण नियम है जो कि वस्तु की कीमत में होने वाले परिवर्तन के परिणामस्वरूप उस वस्तु की माँग में होने वाले परिवर्तन (Direction of change) को बताता है । यह एक गुणात्मक कथन (Quantative Statement) है । इससे यह तो ज्ञात हो जाता है कि वस्तु की कीमत में कमी होने पर उस वस्तु की माँग में विस्तार होगा अथवा कीमत में वृद्धि होने पर उस वस्तु की माँग में संकुचन होगा । परन्तु नियम यह बताने में असमर्थ है माँग में कितना परिवर्तन होगा। किसी वस्तु की कीमत में होने वाले परिवर्तन के परिणामस्वरूप माँग में होने ताले आनुपातिक परिवर्तन की जानकारी जिस धारणा से होती है उसे माँग की लोच

(Elasticity of demand) कहा जाता है । अत: यह कहना उचित होगा कि माँग की लोच एक परिमाणात्मक कथन (Quantative Statement) है ।

4.2. माँग की लोच का अर्थ एवं परिभाषा

एक वस्तु की कीमत में होने वाले परिवर्तन के फलस्वरूप उस वस्तु का माँगी गई मात्रा में होने वाले परिवर्तन की माप को ही माँग की लोच कहा जाता है ।

मार्शल के अनुसार, "किसी बाजार में माँग की लोच अधिक या कम तब कही जाती है जब मूल्य में एक निश्चित कमी होने से माँग अधिक या कम बढ़ती है और मूल्य में एक निश्चित वृद्धि से उसकी माँग में अधिक या कम कमी होती है ।कोमा आधुनिक अर्थशास्त्री बोल्डिंग एवं श्रीमती जॉन रोबिन्सन ने माँग की मूल्य लोच को गणितीय में प्रकट किया है ।

श्रीमती जोन रोबिन्सन के अनुसार, " माँग की लोच किसी मूल्य या उत्पादन पर मूल्य में अल्प परिवर्तन के फलस्वरूप क्रय की गई मात्रा के आनुपातिक परिवर्तन को मूल्य के आनुपातिक परिवर्तन से भाग देने पर प्राप्त होती है ।" इसे निम्न सूत्र के रूप में व्यक्त किया जा सकता है

$$\text{माँग की लोच} = \frac{\text{माँग की मात्रा में आनुपातिक परिवर्तन}}{\text{मूल्य में आनुपातिक परितर्वन}}$$

अत: यह कहना उचित होगा कि माँग की मूल्य लोच किसी वस्तु के मूल्य में परिवर्तन के फलस्वरूप उसकी माँगी गई मात्रा में परिवर्तन की दर होती है ।

4.3. माँग की लोच की श्रेणियाँ

माँग की मूल्य सोच की निम्नलिखित पाँच श्रेणियाँ होती हैं :-

1 **पूर्णतया लोचदार माँग (Perfectly Elastic Demand) -** जब किसी वस्तु के मूल्य में बहुत सूक्ष्म या शून्य परिवर्तन होने के कारण उस वस्तु की माँग में अनन्त परिवर्तन हो जाए तो इसे पूर्णतया लोचदार माँग की श्रेणी कहा जाता है । गणित की भाषा में इसे ep=δ द्वारा व्यक्त किया जाता है । इस स्थिति में माँग रेखा OX रेखा के समानान्तर होती है । इसे निम्न चित्र द्वारा समझा जा सकता है :-

(A)

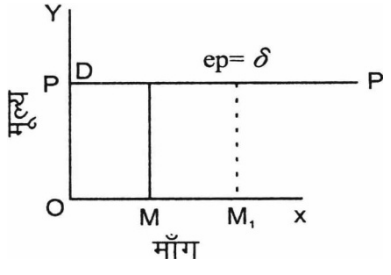

चित्र A में OP मूल्य पर माँगी गई मात्रा OM से OM_1.....n तक बढ़ती चली जाती है । पूर्णतया लोचदार माँग की श्रेणी एक काल्पनिक धारणा है जो व्यवहारिक जीवन में देखने को नहीं मिलती है ।

2 **अत्याधिक लोचदार माँग (Highly Elastic Demand)** जब किसी वस्तु के मूल्य में पर्याप्त परिवर्तन होने के कारण उस वस्तु की माँग में मूल्य परिवर्तन के अनुपात से अधिक परिवर्तन होता है तो उसे अत्यधिक माँग की लोच कहा जाता है । उदाहरणार्थ यदि मूल्य में 5% की कमी होने पर वस्तु की माँग 20% से बढ जाए तो यहाँ वस्तु की माँग की लोच अत्यधिक लोचदार कही जाएगी । इसे गणितीय भाषा में ep>1 द्वारा व्यक्त किया जाता है । प्राय: ऐसी वस्तुऐं जिनके एक से अधिक प्रयोग सम्भव होते हैं उन वस्तुओं की माँग की लोच अत्याधिक लोचदार पाई जाती है । इस स्थिति को नीचे के चित्र B द्वारा देखा जा सकता है :-

(B)

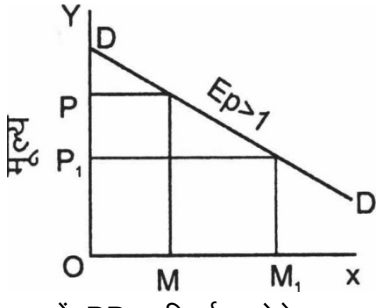

चित्र B में वस्तु के मूल्य में PP_1 परिवर्तन होने पर वस्तु की माँग में MM_1 परिवर्तन होता है, जो मूल्य के परिवर्तन के अनुपात से बहुत अधिक है ।

3 **इकाई लोचदार या लोचदार माँग (Unit Elastic or Elastic Demand) -** जब किसी वस्तु के मूल्य में पर्याप्त परिवर्तन होने पर उसकी माँग में उसी अनुपात में परिवर्तन होता है तो उसे लोचदार माँग कहा जाता है । उदाहरणार्थ यदि वस्तु के मूल्य में 10% परिवर्तन होता है तो उस वस्तु की माँग में भी 10% का ही परिवर्तन होना चाहिए । इस स्थिति में माँग रेखा का आकार 'आयतकार हाईपरबोला' जैसा होता है । इसे निम्न चित्र C द्वारा व्यक्त किया जा सकता है :-

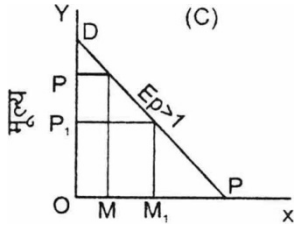

रेखाचित्र C में लोचदार माँग वक्र को दर्शाया गया है। वस्तु के मूल्य में परिवर्तन होने पर माँग में भी समानुपात MM_1 ही परिवर्तन हो रहा है ।

4 **बेलोचदार माँग या इकाई से कम लोचदार माँग (Inelastic Demand or Less than unit Elastic Demand)** जब किसी वस्तु के मूल्य में पर्याप्त परिवर्तन होने

पर उसकी माँग में अपेक्षाकृत कम परिवर्तन होता है तो उसे बेलोचदार माँग कहा जाता है । उदाहरणार्थ किसी वस्तु के मुल्य में 20% कमी होने पर उसकी माँग यदि 10% से ही बढ़ती है तो इसे बेलोचदार माँग कहा जात है । गणितीय रूप में इसे ep<1 द्वारा व्यक्त किया जाता है । बेलोचदार माँग की श्रेणी को निम्नचित्र D में दर्शाया गया है ।

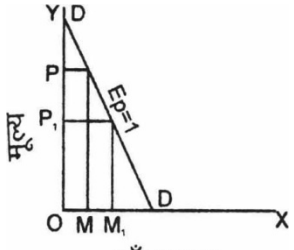

माँग मात्रा

चित्र D में बेलोचदार माँग के दर्शाया गया है । यहाँ वस्तु के मूल्य में अधिक PP_1 परिवर्तन हो रहा है जबकि माँग में कम परिवर्तन MM_1 हो रहा है ।

5 पूर्णतया बेलोचदार माँग (Perfectly Inelastic Demand) जब किसी वस्तु के मूल्य में पर्याप्त परिवर्तन होने के बावजूद उस वस्तु की माँग में शून्य या बहुत सूक्ष्म परिवर्तन होता है तो इसे पूर्णतया बेलोचदार माँग कहा जाता है । इस अवस्था में माँग रेखा DD,OY रेखा के समानान्तर अथवा एक लम्बवत् रेखा के रूप में होती है । गणितीय रूप में इसे ep=0 के रूप में दर्शाया जाता है । इस अवस्था को निम्न चित्र E द्वारा स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है ।

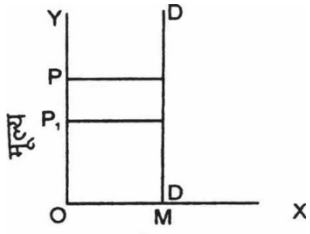

माँग मात्रा

चित्र E को देखने से ज्ञात होता है कि माँग रेखा DP एक एक लम्बवत् रेखा है । यहाँ वस्तु की कीमत में पर्याप्त परिवर्तन PP_1 हो रहा है जबकि माँग पूर्ववत् ही OM बनी हुई है । जोकि पूर्णतया बेलोचदार माँग को दर्शाती है । जिस प्रकार पूर्णतया लोचदार माँग की श्रेणी एक काल्पनिक धारणा है ठीक उसी प्रकार पूर्णतया बेलोचदार माँग भी एक काल्पनिक धारणा है ।

4.4 माँग की मूल्य सोच को मापने की विधियाँ

माँग की मूल्य लोच को मापने की प्रमुख विधियाँ निम्नलिखित है :-

1 प्रतिशत विधि (The Percentage Method)

2 कुल व्यय विधि (Total Outlay Method)

3 बिन्दु विधि (Point Method)

4 चाप विधि (The Arc Method)

1. **प्रतिशत विधि :** माँग की मूल्य लोच को मापने की प्रतिशत विधि को प्रतिपादित करने का श्रेय प्रो0 फ्लक्स को जाता है । इस विधिनुसार माँग की लोच को ज्ञात करने के लिए प्रो० फ्लक्स ने निम्न सूत्र दिया है -

$$\text{माँग की लोच} = \frac{\text{वस्तु की माँग में प्रतिशत परिवर्तन}}{\text{वस्तु के मूल्य में प्रतिशत परिवर्तन}}$$

अथवा

$$Ep = (-)\frac{\Delta Q}{\Delta P} \times \frac{P}{Q}$$

याहाँ ΔQ = वस्तु के मूल्य में परिवर्तन

ΔQ = वस्तु के मूल्य में परिवर्तन

P = वस्तु का पूर्व मूल्य

Q = वस्तु की पूर्व माँग

वस्तु के मूल्य तथा उसकी माँगी गई मात्रा में सदैव ऋणात्मक सम्बन्ध पाया जाता है यही कारण है कि माँग की मूल्य लोच का गुणांक सदैव ऋणात्मक होता है । माँग की लोच को ज्ञात करते समय इस ऋणात्मक चिन्ह की प्राय: उपेक्षा की जाती है ।

उदाहरण -

माना की एक वस्तु का मूल्य 5 रुपया है तथा उसकी माँग 1000 इकाईयाँ है । प्रथम अवस्था में यदि वस्तु का मूल्य घट कर 4 रूपया हो जाता है तथा वस्तु की माँग मात्रा बढ़ कर 1100 इकाईयाँ हो जाती है तो वस्तु की माँग की लोच होगी :

$$Ep = \frac{\Delta Q}{\Delta P} \times \frac{P}{Q} \quad \frac{100}{1} \times \quad \frac{5}{1000} = \quad \frac{500}{1000} = \quad \frac{1}{2} = ep < 1$$

अर्थात् माँग की लोच बेलोचदार या इकाई से कम है ।

यदि द्वितीय अवस्था में वस्तु का मूल्य 5 रुपया से बढ़कर 6 रूपया हो जाए तथा वस्तु की माँगी गई मात्रा 1000 से घटकर 800 इकाईयाँ रह जाए तो माँग की लोच होगी :-

$$Ep = \frac{\Delta Q}{\Delta P} \times \frac{P}{Q} \quad \frac{200}{1} \times \quad \frac{5}{1000} = \quad \frac{1000}{1000} = 1 = ep = 1$$

यदि तृतीय अवस्था में वस्तु का मूल्य 5 रूपया से घटकर 450 रूपया हो जाता है और वस्तु की माँगी गई मात्रा 1000 से बढ़कर 1200 इकाइयाँ हो जाती है तो माँग की लोच होगी :-

$$Ep = \frac{\Delta Q}{\Delta P} \times \frac{P}{Q} \quad \frac{200}{0-5} \times \quad \frac{5}{1000} = \quad \frac{1000}{500} = 2 = ep => 1$$

अर्थात् माँग की लोच अत्यधिक लोचदार अथवा इकाई से अधिक लोचदार माँग कहलायेगी ।

कुल व्यय विधि (Total Outlay Method) : इस विधि को प्रतिपादित करने का श्रेय प्रो. एल्फ्रेड मार्शल को जाता है । इस विधि में मार्शल ने वस्तु के मूल्य में परिवर्तन से पहले तथा परिवर्तन के बाद वस्तु पर होने वाले कुल व्यय में होने वाले परिवर्तन के आधार पर माँग की। लोच को मापने का प्रयास किया है । इस विधि द्वारा भी माँग की लोच इकाई से अधिक (ep>1), इकाई के बराबर (ep=1) तथा इकाई से कम (ep<1) होती है ।

मार्शल के अनुसार वस्तु की माँग की मूल्य लोच उस समय इकाई से अधिक होती है जबकि वस्तु के मूल्य में कमी होने पर कुल व्यय बढ़ जाए अथवा मूल्य में वृद्धि होने पर कुल व्यय में कमी हो जाए ।

वस्तु की माँग की मूल्य लोच उस समय इकाई के बराबर कही जाती है जबकि वस्तु के मूल्य में कमी अथवा वृद्धि होने पर भी कुल व्यय यथावत् बना रहता है ।

वस्तु की माँग की मूल्य लोच उस समय इकाई से कम लोचदार अथवा बेलोचदार कही जाती है जबकि वस्तु के मूल्य में वृद्धि होने पर कुल व्यय की राशि बढ़ जाए तथा मूल्य में, कमी होने पर कुल व्यय की राशि घट जाए ।

कुल व्यय विधि द्वारा माँग की मूल्य लोच की गणना को निम्न उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है । एक उपभोक्ता द्वारा किसी वस्तु पर विभिन्न मूल्य स्थितियों में किया जाने वाला कुल व्यय निम्न प्रकार से है।

	मूल्य इकाई (रु0)	माँगी गई मात्रा (इकाईयाँ)	कुल व्यय (रु.)	माँग की लोच
I.	10 8 6	60 100 150	600 800 900	इकाई से अधिक लोचदार माँग ep>1
II.	10 8 6	60 75 100	600 600 600	इकाई लोच Ep=1
III.	10 8 6	60 70 80	600 560 480	इकाई से कम लोचदार माँग Ep<1

तालिका को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि प्रथम अवस्था में वस्तु के मूल्य व कुल व्यय की राशि में विपरीत दिशा में परिवर्तन हो रहा है अत: माँग की लोच इकाई से अधिक लोचदार (ep<1) है । द्वितीय अवस्था में वस्तु के मूल्य में कमी अथवा वृद्धि होने पर भी कुल व्यय की राशि यथावत बनी हुई है । अत: माँग की लोच इकाई के बराबर लोचदार (ep=1) कही जाती है । तृतीय अवस्था में वस्तु के मूल्य तथा कुल व्यय में समान दिशा में परिवर्तन हो रहा है अर्थात् वस्तु के मूल्य में वृद्धि होने पर कुल व्यय की राशि भी बढ़ रही है वही मूल्य में कमी होने पर कुल व्यय भी घट रहे हैं ।

कुल व्यय विधि द्वारा माँग की लोच की माप को रेखाचित्र के माध्यम से भी स्पष्ट किया जा सकता है ।

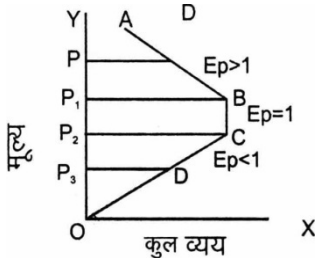

रेखाचित्र में OX अक्ष पर कुल व्यय तथा OY रेखा पर वस्तु का मूल्य दर्शाया गया है। चित्र में माँग की लोच की प्रमुख तीन श्रेणियों को ही दिखाया गया है । वस्तु का मूल्य जब OP. से घट कर OP_1 होता है तब कुल व्यय बढता है; अत: माँग की लोच इकाई से अधिक लोचदार होती है । जब मूल्य OP_1 से घटकर OP_2 हो जाता है तब कुल व्यय स्थिर रहता है अत: माँग की लोच लोचदार होती है और जब मूल्य OP_2 से OP_3 हो जाता है तब कुल व्यय भी घटता है । अत: माँग की लोच इकाई से कम लोचदार होती है ।

3. बिन्दु विधि (The Point Method) -

जब किसी वस्तु के मूल्य में बहुत सूक्ष्म या शून्य सा परिवर्तन होता है तब मूल्य परिवर्तन की दर बहुत कम होने के कारण माँग रेखा पर स्थित किसी बिन्दु पर माँग की लोच ज्ञात करना उपयुक्त रहता है । क्योंकि ऐसी दशा में माँग रेखा के विभिन्न बिन्दुओं पर माँग की लोच में भी अन्तर पाया जाता है । माँग रेखा के किसी बिन्दु पर माँग की लोच ज्ञात करने हेतु निम्न सूत्र का सहारा लिया जाता है ।

$$\text{माँग की लोच} = \frac{\text{माँग रेखा पर स्थित किसी बिन्दु से माँग रेखा का नीचे का भाग}}{\text{माँग रेखा पर स्थित किसी बिन्दु से माँग रेखा का ऊपर का भाग}}$$

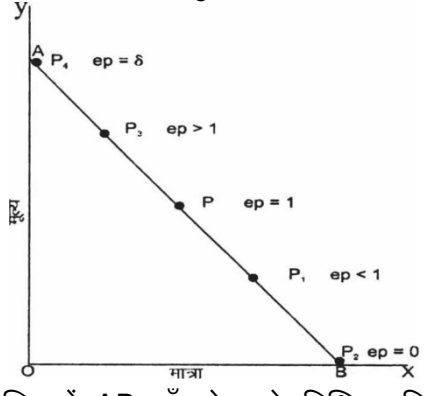

इस सूत्र के अनुसार रेखाचित्र में AB माँग रेखा के विभिन्न बिन्दुओं पर माँग की लोच को ज्ञात किया जा सकता है । चित्र में AB माँग रेखा पर स्थित P बिन्दु पर माँग की लोच ज्ञात करनी है । सूत्र के अनुसार PB माँग रेखा का नीचे के माँग तथा PA माँग रेखा का ऊपर का भाग है । P बिन्दु पर PB=PA भाग बराबर है अत: यहाँ

माँग की लोच बराबर अर्थात् ep=1 होगी । अब यदि हम P_1 बिन्दु पर माँग की लोच ज्ञात करना चाहते है तो वहाँ $P_1B<P_1A$ है अत: माँग की लोच इकाई से कम अर्थात् ep=1 होगी । इसी प्रकार यदि P_3 बिन्दु की माँग की लोच ज्ञात करते हैं तो यही $P_3B>P_3A$ है अत: माँग की लोच इकाई से अधिक अर्थात् ep>1 होगी । इसी प्रकार P_4 बिन्दु की माँग की लोच अनन्त अर्थात् ep=δ तथा P_2 बिन्दु पर माँग की शून्य अर्थात् ep=0 होगी ।

सूत्र द्वारा स्पष्टीकरण

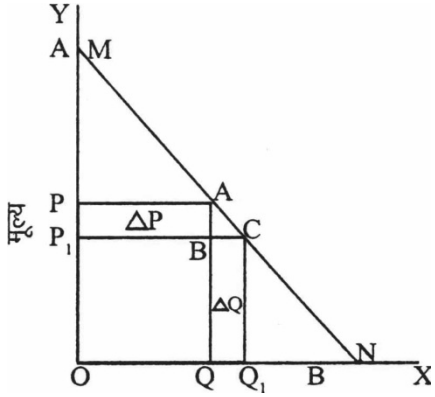

चित्र में एक सरल माँग रेखा MN है । इस माँग रेखा पर OP मूल्य पर वस्तु की OQ मात्रा माँगी जाती है । यदि वस्तु का मूल्य घटकर OP_1 हो जाता है तथा वस्तु की OQ_1 मात्रा माँगी जाने लगती है । माँग रेखा के MN के A बिन्दु पर माँग की लोच प्रारम्भिक सूत्र के अनुसार

$$ep = \frac{\Delta Q}{\Delta P} \times \frac{P}{Q} = \frac{\Delta Q}{\Delta P} \times \frac{OQ}{OQ} = \frac{BC}{\Delta Q} \quad \frac{OP}{\mathbf{OQ}}$$

चूँकि BC = QQ_1 तथा AB= PP_1 है । पूर्व समीकरण में BC के स्थान पर QQ_1 तथा AB के स्थान PP_1 लिखने पर ।

$$ep = \frac{\mathbf{Q}Q_1}{\Delta P} \times \frac{OP}{OQ} = \frac{\Delta Q}{\mathbf{PP_1}} \times \frac{AQ}{OQ} \; AQ = OP$$

चूँकि त्रिभुज AQN व ABC समरूप है अत: इनकी भुजाओं का अनुपात भी बराबर है। अर्थात् BC/ AB=ON/Aक्यू इस प्रकार ऊपर के समीकरण का रूप बदल कर QN/AQxQNAQ/OQ और चूँकि त्रिभुज AQN तथा MON समरूप है इसलिए A बिन्दु पर QN/OQ=OP/PM_1=NA/AM

$$\frac{\text{माँग रेखा का नीचे का भाग}}{\text{माँग रेखा का ऊपर का भाग}}$$

4 चाप विधि (The Arc Method)

जब किसी वस्तु के मूल्य में सूक्ष्म परिवर्तन न होकर पर्याप्त परिवर्तन होते है, तो माँग रेखा के किसी एक बिन्दु पर माँग की लोच ज्ञात करने के स्थान पर माँग रेखा के एक भाग (चाप) की लोच ज्ञात करना, अधिक उपयुक्त रहता है । इस विधि के अनुसार माँग की चाप लोच मापते समय मूल्य तथा माँग की मात्रा दोनों के बीच के

बिन्दु को लेकर माँग की लोच मापी जाती है । माँग चापें लोच ज्ञात करने के लिए निम्न सूत्र का प्रयोग किया जाता है :-

$$ep \frac{\mathbf{Q}Q_1}{Q+Q1} \times \frac{P-P}{P+P}$$

$$ep \frac{\mathbf{Q}Q_1}{Q+Q1} \times \frac{P-P}{P+P} \quad \textbf{अथवा} \quad \frac{\Delta Q_1}{Q+Q1} \times \frac{P-P}{P+P}$$

उदाहरणार्थ : माना कि एक वस्तु का प्रारम्भिक मूल्य 10 प्रति इकाई होने पर उसकी 60 इकाईयाँ माँगी जाती हैं । यदि वस्तु का मूल्य घट कर 5 रूपया प्रति इकाई हो जाए तो उसकी माँग बढ़ कर 100 इकाईयाँ हो जाती है तो इस विधि के अनुसार उसकी माँग की लोच निम्न होगी-

$$ep = \frac{\Delta Q_1}{\Delta \mathbf{P}} \times \frac{P-P_1}{Q+Q}$$

यहाँ P=20 रुपया ; Q = 60 इकाईयाँ

$\triangle P$ = 10-5-5

$\triangle Q$ = 60-100= (-40) इकाईयाँ

चूँकि $ep = \frac{-40}{5} \times \frac{10+5}{60+100}$

$ep = \frac{-8}{1} \times \frac{15}{160} = \frac{3}{4}$ = (-) 0.75

अर्थात् माँग की लोच इकाई से कम अथवा बेलोचदार है ।

4.5 माँग की मूल्य लोच को प्रभावित करने वाले तत्व

व्यवहारिक जगत में किसी वस्तु की मांग की मूल्य लोच को अनेक आर्थिक एवं गैर आर्थिक तत्व प्रभावित करते हैं, जो निम्नलिखित हैं -

1. **वस्तु विशेष की प्रकृति (Nature of the Commodity) :** सामान्यतया किसी वस्तु विशेष को उसकी प्रकृति के आधार पर विलासिता वस्तु, आरामदायक वस्तु तथा अनिवार्य वस्तु की श्रेणी में रखा जा सकता है । एक वस्तु विशेष की प्रकृति उसकी माँग की मूल्य लोच को सर्वाधिक प्रभावित करती है । प्राय विलासिता वस्तुओं की माँग की लोच अत्यधिक लोचदार (ep>1) होती है । जबकि आरामदायक वस्तुओं की माँग की लोच लोचदार (ep=1) होती है वहीं अनिवार्य वस्तुओं की माँग की लोच बेलोचदार (ep<1) होती है ।
2. **वस्तु के विविध प्रयोग (Different uses of Commodity) :** एक वस्तु, जिसके जितने अधिक प्रयोग होते है उसकी माँग की लोच भी उतनी ही लोचदार पाई जाती है। उदाहरणार्थ बिजली को अनेकानेक प्रयोगों में लाया जाना सम्भव होता है । जैसे रोशनी करने, प्रेस करने, कमरा गरम व ठण्डा करने इत्यादि । प्राय: यह देखा जाता है कि बिजली की दर बढ़ने पर इसका प्रयोग घटा दिया जाता है वहीं मूल्य दर घटने पर इसका प्रयोग बढ़ा दिया जाता है ।

3. **वस्तु विशेष के स्थानापन्नों की संख्या (No. of substitutes of the commodity) :** किसी वस्तु के बाजार में उपलब्ध स्थानापन्नों की संख्या भी उस वस्तु की माँग की लोच को प्रभावित करती है । प्राय: जिस वस्तु को जितने अधिक स्थानापन्न उपलब्ध होते हैं, उसकी माँग की लोच भी उतनी ही अधिक लोचदार (ep>1) होती है जबकि स्थानापन्नों की कम संख्या उसकी लोच को लोचदार (ep=1) या बेलोचदार (ep<1) बना देती है ।
4. **उपभोक्ता का आयस्तर (Income Level of Comsumer) :** सामान्यतया एक वस्तु की माँग की लोच पर उपभोक्ता की आय के स्तर का भी प्रभाव पडता है । प्राय: बहुत उच्च आय स्तर वाले व बहुत निम्न स्तर वाले उपभोक्ताओं के लिए किसी भी वस्तु की माँग की लोच, बेलोचदार पायी जाती है क्योंकि वे जिन वस्तुओं का उपयोग करते है वे अनिवार्य वस्तुओं की श्रेणी में आती है । जबकि मध्यम आय स्तर वाले उपभोक्ताओं के लिए वस्तु की माँग की लोच लोचदार (ep=1) पाई जाती है ।
5. **आय का वस्तु पर व्यय किया जाने वाला अनुपात (Proposition of Income spent on the Commodity) :** एक उपभोक्ता अपनी आय का जितना भाग, जिस वस्तु (पर व्यय करता है, उसका अनुपात भी किसी वस्तु की माँग की लोच को प्रभावित करता है । सामान्तया किसी वस्तु पर यदि उपभोक्ता अपनी आय का बड़ा भाग व्यय करता है तो उस वस्तु की माँग की लोच, लोचदार होती है जबकि आय का थोडा सा भाग व्यय किए जाने की स्थिति में माँग की लोच, बेलोचदार होती है । जैसे नमक अथवा माचिस आदि की माँग ।
6. **समय तत्व का प्रभाव (Influence of time element) :** समय तत्व भी किसी वस्तु की माँग को प्रभावित करता है । प्राय: अल्पकाल में किसी वस्तु की माँग की लोच, बेलोचदार पाई जाती है जबकि दीर्घकाल में लोचदार होती है । अल्पकाल में किसी वस्तु की माँग की लोच, बेलोचदार होने के पीछे यह कारण है कि उपभोक्ता अपनी माँग को उस वस्तु के मूल्य परिवर्तन के अनुरूप समायोजित नहीं कर सकता है जबकि दीर्घकाल में समायोजन आसान होता है ।
7. **वस्तु के प्रयोग के स्थगन की संभावना (Possibility of Postponement of the use of the Commodity) :** यदि किसी वस्तु के प्रयोग को उपभोक्ता द्वारा कुछ समय के लिए स्थगित किया जा सकता है तो ऐसी वस्तु की माँग की लोच, अधिक लोचदार होती है । जबकि प्रयोग को स्थगित न किए जाने की दशा में वस्तु की माँग की लोच, बेलोचदार होती है ।
8. **माँग की तीव्रता (Urgency of demand) :** जिस किसी वस्तु की माँग, जितनी अधिक तीव्र होती है उसकी माँग की लोच भी उतनी ही अधिक लोचदार होती है जबकि कम तीव्रता वाली वस्तुओं की माँग बेलोचदार होती है । ।

9. **सरकारी नीति (Government Policy) :** सरकारी नीतियों का भी प्रभाव किसी वस्तु की माँग की लोच को प्रभावित करता है । सरकार यदि वस्तु की क्रय पर प्रतिबन्ध लगा देती है तो उस वस्तु की माँग की लोच बेलोचदार होती है ।
10. **संयुक्त माँग (joint Demand) :** व्यवहार में अनेक वस्तुएँ ऐसी पाई जाती है जिनका प्रयोग अन्य वस्तुओं के साथ ही मिलकर हो सकता है । ऐसी वस्तुओं को संयुक्त कहा जाता है । जैसे पैन व स्याही, कार एवं पेट्रोल आदि । संयुक्त वस्तुओं की माँग की लोच भी वस्तुओं की माँग के साथ जुडी होती है अर्थात् एक वस्तु की माँग बढ़ने पर स्वत: ही दूसरी वस्तु । की माँग बढ़ जाती है ।
11. **मूल्य स्तर (Price Level) :** सामान्यतया उच्च मूल्य स्तर वाली वस्तुओं की माँग लोचदार (ep>1) पाई जाती है जबकि निम्न मूल्य स्तर वाली वस्तुओं की माँग बेलोचदार (ep<1) पाई जाती है ।
12. **वस्तु का टिकाऊपन (Durability of the commodity) :** टिकाऊ वस्तुओं की माँग प्राय: लोचदार पाई जाती है जबकि कम टिकाऊ वस्तुओं की माँग बेलोचदार होती है ।

4.6 माँग की मूल्य लोच का महत्व तथा इसका व्यावसायिक एवं प्रबन्धकीय उपयोग

वैश्वीकरण के इस युग में माँग की मूल्य लोच का व्यावसायिक एवं प्रबन्धकीय दोनों प्रकार के निर्णयों में महत्व बहुत ही बढ़ गया है । यह न केवल कई आर्थिक समस्याओं एवं नीतियों को समझने में सहायक है अपितु अन्य कई प्रबन्धकीय समस्याओं को हल करने में भी सहायता प्रदान करती है, विशेषकर वे समस्याएँ जिनका सम्बंध कीमत निर्णयों से होता है । इसके महत्व को निम्न प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है -

1. **मूल्य निर्धारण में महत्त्व (Significance in price determination) :** माँग की मूल्य लोच की धारणा निम्नलिखित स्थितियों में कीमत निर्धारण में सहायक सिद्ध होती है :-

(i) **एकाधिकार में कीमत निर्धारण (Price Determination under monopoly) :** एक एकाधिकारी अपने उत्पाद की कीमत को निर्धारित करते समय माँग की मूल्य लोच का सर्वाधिक ध्यान रखता है । यदि 1. उसके उत्पाद की माँग लोचदार है तो वह वस्तु की कीमत नीचे रखेगा ताकि कम कीमत पर अधिक वस्तु बेची जा सके । 2. यदि उत्पाद की माँग बेलोचदार है तो वह उसकी कीमत ऊँची निर्धारित करेगा । यहाँ कीमत को अधिक होने पर भी उसकी वस्तु की बिक्री तो कम होगी किन्तु कुल आय मे वृद्धि होगी।

(ii) **मूल्य विभेद (Price Discrimination) :** अनेक बार एकाधिकारी एक ही वस्तु को विभिन्न मूल्यों पर बेचने में सफल हो जाता है तो इसे मूल्य विभेद कहा जाता है । एक एकाधिकारी मूल्य विभेद की नीति उस समय अपनाता है जबकि उसकी वस्तु की

माँग लोच विभिन्न बाजारों में भिन्न-भिन्न होती हो । एकाधिकारी उन उपभोक्ताओं से वस्तु की कीमत ज्यादा लेगा जिनके लिए माँग की लोच बेलोचदार है इसके विपरीत, उन लोगों से वस्तु की कीमत कम वसूली जाएगी जिनके लिए माँग की लोच अधिक लोचदार होती है ।

(iii) **उत्पादन के साधनों का पुरुस्कार (Remunaration of the factors production) :** माँग की मूल्य लोच, साधन कीमत निर्धारण में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है । उत्पादन के प्रत्येक साधन का प्रतिफल उसकी सेवाओं की माँग की लोच पर निर्भर करता है । यदि उत्पादन के किसी साधन की माँग बेलोचदार है, तो उत्पादक उसके लिए कोई भी कीमत देने को तैयार होगा ।

(iv) **राशिपातन (Pumping) :** राशिपातन वह नीति है जिसमें कोई वस्तु विदेशी बाजार में तो ऊँचे मूल्यों पर बेची जाती है जबकि घरेलू बाजार में कम मूल्यों पर । राशिपातन उस स्थिति में ही सफल हो सकता है जबकि विदेशी बाजार में उस वस्तु की माँग लोचदार हो ।

2. सरकारी नीति निर्माण में महत्व (Importance in Government Policy formulation) : माँग की लोच की धारणा, निम्नाकिंत क्षेत्रों में, सरकारी नीतियों के निर्धारण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है :-

(i) **वित्त मन्त्री को लाभ (Advantage to finance ministry) :** किसी राष्ट्र के वित्त मन्त्री को कर निर्धारण करते समय माँग की लोच को ध्यान में रखना पड़ता है । 1. जिन वस्तुओं की माँग लोचदार होती है यदि उन पर अधिक कर लगाया जाता है तो सरकार को करों से होने वाली आय बढने के स्थान पर कम होगी । इसका कारण यह है कि अधिक कर लगने से वस्तुएँ मंहगी हो जाएगी और उसकी माँग घट जाएगी । 2. जिन वस्तुओं की माँग बेलोचदार है, उन पर वित्त मन्त्री अधिक कर लगा सकता है, अधिक कर लगने से उनकी कीमत तो तो बढेगी परन्तु माँग में विशेष कमी न होने से सरकार की आय में बढ़ोत्तरी होगी ।

(ii) **करों के भार का विवरण (Distribution of the Burden of Taxation) :** माँग की मूल्य लोच द्वारा यह भी निर्धारित किया जा सकता है कि अप्रत्यक्ष करों. जैसे बिक्री कर, उत्पादन कर आदि का उत्पादकों तथा उपभोक्ताओं पर कितना-कितना भार पड़ेगा। यदि किसी वस्तु की माँग बेलोचदार है तो एक उपभोक्ता पर अप्रत्यक्ष करों का अधिक भार पड़ेगा । इन करों के फलस्वरूप वस्तु की कीमत में वृद्धि होगी परन्तु माँग में कमी नहीं हो सकेगी । इस स्थिति में उत्पादक पर भार अपेक्षाकृत कम होगा । इसके विपरीत यदि वस्तु की माँग लोचदार है तो उपभोक्ता की प्रत्यक्ष करों का अपेक्षाकृत कम भार उठाना पडेगा ।

(iii) **मूल्य नियन्त्रण नीति (Price Control Policy) :** किसी वस्तु पर वैधानिक मूल्य निर्धारण (Statutory Price Control) करने से पूर्व, सरकार की वस्तु की माँग की लोच को ध्यान में रखना चाहिए । इसी प्रकार, कृषि पदार्थो के मूल्यों को

स्थिर रखने के लिए, सरकार को इन पदार्थो के माँग के स्तर तथा लोच गुणांक की जानकारी भी अवश्य होनी चाहिए ।

(iv) **विनिमय दर का निर्धारण (Fixing of rate of exchange) :** अपनी मुद्रा की उचित विनिमय दर को निर्धारित करते समय, सरकार को माँग की लोच की धारणा, के उपयुक्त सहायता लेनी चाहिए । अपनी मुद्रा का अतिमूल्यन (overvaluation) या अवमूल्यन (Devaluation) करते समय, सरकार को ऐसे निर्णय के प्रभाव का बड़ी सावधानी से अध्ययन करना चाहिए ।

(v) **उद्योगों की संरक्षण (Protection to industries) :** सरकार द्वारा किसी उद्योग को उस समय संरक्षण दिया जाता है जबकि वह यह महसूस करती है कि उद्योग विदेशी प्रतियोगिता का सामना नहीं कर सकता है । किसी भी उद्योग की संरक्षण या अन्य कोई वित्तीय सहायता देते समय, सरकार उस उद्योग द्वारा उत्पादित वस्तु की माँग की लोच को अवश्य ध्यान में रखती है । सामान्यतया उस उद्योग / उद्योगों को संरक्षण प्रदान किया जाता है जिनकी वस्तु की माँग लोचदार होती है ।

3. **माँग पूर्वानुमान (Demand forcasting) :** माँग की लोच तथा आडी या तिरछी लोच मूल्य नीति के लिए तो उपयोगी है किन्तु माँग की आय लोच का प्रयोग भविष्य में किसी वस्तु की माँग के पूर्वानुमान के लिए भी किया जा सकता है । अत: दीर्घकाल में उत्पादन नियोजन एवं प्रबन्ध, माँग की आय लोच की महत्वपूर्ण जानकारी पर निर्भर करता है, क्योंकि एक व्यवसायी इससे अपनी वस्तु की माँग पर परिवर्तनशील आय स्तरों के प्रभाव की जानकारी प्राप्त कर सकता है ।
4. **रेल भांडे की दरों का निर्धारण (Determination of Rail Freight Charges) :** यदि किसी स्थान के लिए रेल सेवाओं की माँग बेलोचदार अर्थात् वहाँ पर सड़क यातायात के रूप में कोई अन्य विकल्प उपलब्ध नहीं है तो ऐसे स्थानों के लिए रेले अधिक भाड़े को निर्धारित कर सकती है । इसके विपरीत यदि ट्रकों या अन्य यातायात के साधनों द्वारा वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थल पर ले जाया जा सकता है तो वहाँ के लिए रेलवे नीची भांडे की दरें निर्धारित करेगी ।
5. **अर्न्तराष्ट्रीय व्यापार में महत्व (Importance in International trade) :** अर्न्तराष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में भी माँग की लोच की धारणा का महत्व वर्तमान युग में बहुत बढ गया । एक देश को अर्न्तराष्ट्रीय व्यापार में उस समय मूल्य बढाना फायदेमन्द होता है जब उसके द्वारा निर्यात की जाने वाली वस्तु की माँग, आयातक देश में बेलोचदार हो । ऐसी दशा में वह देश निर्यात की जाने वाली वस्तु की अधिक कीमत वसूल सकता है । इसके विपरीत यदि निर्यात की जाने वाली वस्तु की माँग" लोचदार है तो वह उस वस्तु की कीमत को कम रख कर ज्यादा वस्तुऐं बेच सकता है।
6. **रोजगार पर प्रभाव (Effect on Employment) :** स्वचालित मशीनों का रोजगार पर पडने वाला प्रभाव मशीनों से बनाई जाने वाली वस्तुओं की माँग की मूल्य लोच पर

निर्भर करता है । इन मशीनों के प्रयोग के फलस्वरूप आरम्भ में बेरोजगारी बढती है तथा वस्तुओं की कीमत भी कम होती है । यदि इनके द्वारा निर्मित वस्तुओं की माँग की मूल्य लोच अधिक होगी तो कीमत के कम होने पर माँग में काफी वृद्धि होगी । माँग के बढने पर वस्तु का उत्पादन अधिक किया जाएगा । उत्पादन के बतने पर रोजगार बढेगा । इसके विपरीत यदि स्वचालित मशीनों द्वारा निर्मित वस्तुओं की माँग बेलोचदार है तो इनकी कीमत कम होने पर भी माँग में वृद्धि नहीं होगी तथा उत्पादन नहीं बढ़ेगा, फलस्वरूप रोजगार में वृद्धि नहीं होगी ।

7. **पूर्ति में परिवर्तन का प्रभाव (Effect on Change in supply) :** मूल्य पर पूर्ति के परिवर्तन का प्रभाव माँग की लोच पर निर्भर करता है । यदि वस्तु की माँग लोचदार है तो पूर्ति में वृद्धि वस्तु की मात्रा की पूर्ति में काफी बढ़ोत्तरी करेगी, किन्तु इसका मूल्य पर बहुत थोडा प्रभाव पड़ेगा अर्थात् मूल्य बहुत ज्यादा नहीं गिरेंगे । परन्तु यदि माँग बेलोचदार है तब पूर्ति में वृद्धि मूल्य में काफी कमी लाएगी ।

4.7 माँग की आय लोच

अन्य बातें अर्थात् वस्तु विशेष की कीमत, सम्बन्धित वस्तुओं की कीमतें तथा उपभोक्ताओं की रुचि इत्यादि के स्थिर रहने पर एक उपभोक्ता की आय में एक निश्चित प्रतिशत परिवर्तन होने से किसी वस्तु विशेष की माँग में जो प्रतिशत परिवर्तन आता है उसे माँग की आय लोच कहा जाता है ।

आय लोच का मापन (Measurement of Income Elasticity) : किसी वस्तु की माँग की आय लोच को निम्नलिखित सूत्र के माध्यम से मापा जा सकता है -

Ey = $\frac{\text{Proportionate change in Quantity Demanded}}{\text{Proportionate change in Income}}$

या $\frac{\text{वस्तु की माँगी गई मात्रा में आनुपातिक परिवर्तन}}{\text{आय में आनुपातिक परितर्वन}}$

या Ey= $Ey = \frac{\Delta Q}{Q} \times \frac{Y}{\Delta y} = \frac{Y}{\Delta Y} = \frac{Y}{Q} \times \frac{\Delta Q}{\Delta Q}$

यहीं Ey माँग की आय लोच $\triangle Y$ = आय में परिवर्तन

$\triangle Q$ = माँग की मात्रा में परितर्वतन Y = प्रारम्भिक आय

Q = प्रारम्भिक माँग

4.8 माँग की आय लोच की श्रेणियाँ (Degrees of Income Elasticity of Demand)

माँग की आय लोच तीन प्रकार की होती है :-

1. **धनात्मक आय लोच (Positive Income Elasticity of Demand) :** किसी भी वस्तु की माँग की आय लोच उस अवस्था में धनात्मक होती है जब उपभोक्ता की आय बढने के फलस्वरूप उस वस्तु की माँग बढ जाती है तथा आय में कमी होने पर माँग

कम हो जाती है । प्राय: सामान्य वस्तुओं (Normal Goods) की माँग, आय धनात्मक मानी जाती है । इसे चित्र सं0 द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है ।

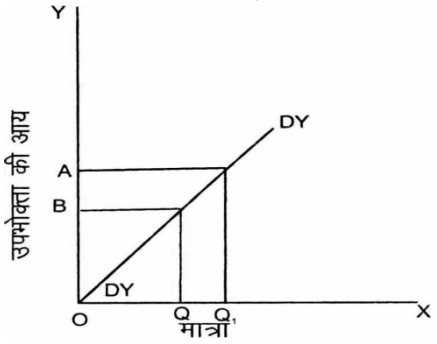

चित्र में OX अक्ष पर वस्तु की माँग तथा OY अक्ष पर उपभोक्ता की आय को दर्शाया गया है । DYDY रेखा वस्तु की माँग की धनात्मक आय लोच को प्रकट करती है । यह रेखा बाएँ से दाएँ ऊपर की ओर बढ़ रही है जोकि यह प्रदर्शित करती है कि उपभोक्ता, की आय बढ़ने के साथ-साथ वस्तु की माँग भी बढ़ रही है ।

2. **ऋणात्मक आय सोच (Negative Income Elasticity) :** किसी वस्तु की ऋणात्मक आय लोच उस अवस्था में होती है, जबकि उपभोक्ता की आय में वृद्धि होने पर उस वस्तु की माँग घट जाती हो तथा आय में कमी होने पर माँग बढ जाती है । प्राय: निकृष्ट कोटि (Inferior Goods) की वस्तुओं की आय लोच, ऋणात्मक मानी जाती है । इन वस्तुओं को गिफिन वस्तुऐं कहा जाता है जैसे घटिया अनाज, डालडा घी इत्यादि । इस स्थिति को नीचे के चित्र द्वारा समझा जा सकता है ।

   चित्र में OX पर वस्तु की माँग तथा OY रेखा पर उपभोक्ता की आय दिखाया गया है । DYDY माँग रेखा है जो कि बाएँ से दाएँ ऋणात्मक है । यदि उपभोक्ता की आय OA है तो वस्तु की माँग OQ है अब यदि उपभोक्ता की आय घट कर OB हो जाती है तो उस वस्तु की माँग भी बढ कर OQ हो जाती है ।

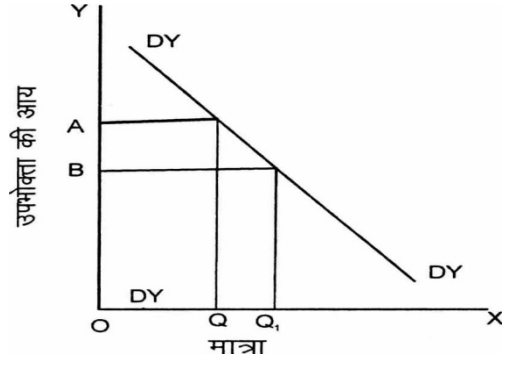

3. **शून्य आय लोच (Zero Income Elasticity of Demand) :** किसी वस्तु माँग की आय लोच उस समय शून्य होती है जब उस वस्तु के उपभोक्ता की आय में परिवर्तन अर्थात् कमी या वृद्धि होने पर भी वस्तु की माँग में कोई परिवर्तन नहीं होता है ।

रेखाचित्र सं0 DYDY कोई परिवर्तन नहीं होता है । रेखाचित्र में DYDY रेखा शून्य आय लोच को प्रकट कर रहा है, जोकि OY अक्ष के समानान्तर है । इससे यह प्रकट होता है कि उपभोक्ता की आय में परितर्वन होने के बावक वस्तु की माँग अपरिवर्तित रहती है ।

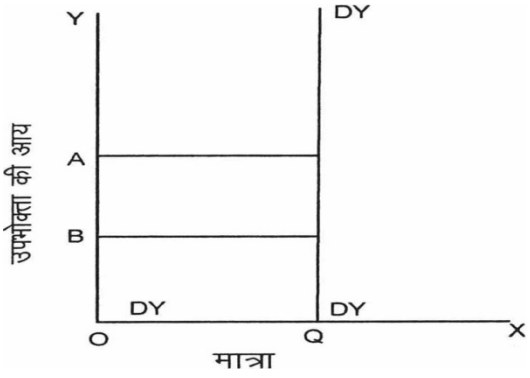

चि० में DYDY माँग रेखा है जोकि एक लम्बवत् रेखा है । अब यदि उपभोगता की आय OA है तो वस्तु की माँग OQ है । यदि उपभोक्ता की आय घट कर OA हो जाती है तो भी' वस्तु की माँग OQ ही बनी रहती है । प्राय: अनिवार्य वस्तुओं जैसे नमक, मिट्टी का तेल इत्यादि की आय की लोच शून्य होती है ।

4.9 माँग की आय लोच का महत्व

व्यवहारिक जगत में माँग की आय लोच का बहुत ही अधिक महत्त्व है । इसके माध्यम से व्यावसायिक प्रबन्धक यह अनुमान लगा सकते हैं कि उनके उद्योग में समृद्धि आने वाली है अथवा संकुचन होने वाला है । जिन उद्योगों की वस्तु की माँग की आय लोच इकाई अथवा इकाई से अधिक लोचदार होती है तो यह अनुमान लगाना सहज होता है कि परिवारों की आय में वृद्धि होने के साथ-साथ उद्योग द्वारा उत्पादित वस्तुओं की माँग में भी वृद्धि होगी; जबकि वस्तु की आय लोच ऋणात्मक होने की दशा में परिवारों की आय में वृद्धि होने पर भी वस्तु की माँग में संकुचन का भय बना रहता है ।

इसी प्रकार से माँग की आय लोच का प्रयोग आर्थिक नियोजकों (Economic Planners) द्वारा विभिन्न उद्योगों के उत्पादन लक्ष्यों के निर्धारण में भी किया जा सकता है ।

4.10 माँग की आडी अथवा तिरछी लोच

कुछ वस्तुओं की माँग स्वयं के मूल्यों के स्थिर रहने पर भी सम्बन्धित वस्तुओं के मूल्यों में परिवर्तन होने पर भी प्रभावित हो सकती है । सम्बन्धित वस्तुएँ दो प्रकार की हो सकती हैं : स्थानापन्न वस्तुएँ (Substitute Goods) तथा पूरक वस्तुएँ (Complementary Goods) यदि किसी एक वस्तु के स्थान पर कोई अन्य वस्तु प्रयोग में लाई जा सकती है, तो ऐसी वस्तु स्थानापन्न वस्तु कहलाती है जैसे चाय के

स्थान पर कॉफी का प्रयोग किया जा सकता है तो कॉफी चाय की स्थानापन्न वस्तु कहलायेगी । प्राय: यह देखा जाता है कि मूल वस्तु के मूल्यों में वृद्धि होने पर स्थापन वस्तुओं की माँग बढ़ जाती है । इसे ही आड़ी या तिरछी, लोच कहा जाता है । इसी प्रकार पूरक वस्तुऐं वे वस्तुऐं होती है जो मूल वस्तु के साथ-साथ प्रयोग में लाई जाती हैं । जैसे पैन व स्याही एवं कार व पेट्रोल । इन पूरक वस्तुओं की माँग भी मूल वस्तुओं के साथ जुडी रहती हैं । ऐसी अवस्था में मूल वस्तु की कीमत बढ़ जाने पर उस वस्तु की माँग कम होने के साथ-साथ पूरक वस्तुओं की माँग भी घट जाती है ।
माँग की स्थापन लोच का मापन निम्न सूत्र के माध्यम से सम्भव है :-

$$exy = \frac{\text{X वस्तु की माँग में प्रतिशत परिवर्तन}}{\text{Y वस्तु की कीमत में प्रतिशत परिवर्तन}}$$

माँग की आडी या तिरछी लोच की सम्बन्ध में निम्न तथ्य महत्वपूर्ण हैं :-

1. **धनात्मक तिरछी सोच (Positive Cross Elasticity) :** यदि तिरछी लोच धनात्मक है अर्थात् एक वस्तु (X) की माँग दूसरी वस्तु (Y) के मूल्यों के अनुसार प्रत्यक्ष रूप से उसी दिशा में परिवर्तित होती है, तो X तथा Y दो प्रतिरथानापन्न वस्तुएँ हैं । ऐसी दशा में X वस्तु की माँग Y वस्तु के मूल्यों में वृद्धि होन पर बढेगी तथा Y वस्तु के मूल्यों में कमी होने पर घटेगी । धनात्मक तिरछी लोच को निम्नलिखित रेखाचित्र में देखा जा सकता है । रेखाचित्र में DYDY वस्तु की X माँग रेखा है जो Y वस्तु के मूल्यों में वृद्धि के साथ-साथ X वस्तु की बढ़ती माँग को प्रदर्शित करती है ।

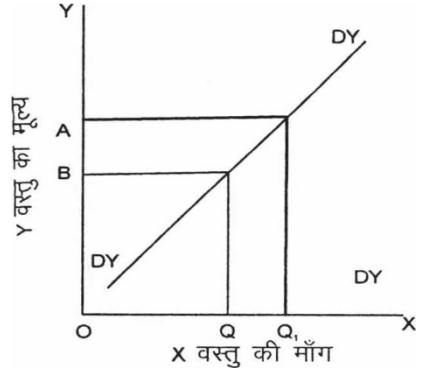

2. ऋणात्मक तिरछी लोच (Negative Cross Elastic Demand) : यदि तिरछी लोच ऋणात्मक है तो इसका तात्पर्य है कि एक वस्तु X की माँग दूसरी वस्तु (Y) के मूल्यों के परिवर्तन के विपरीत दिशा में परिवर्तित होती है, तो दोनों वस्तुएँ पूरक होगीं । पूरक वस्तुओं में मूल वस्तु के मूल्य बढ़ने पर दोनों वस्तुओं की माँग कम हो जाती है तथा मूल वस्तु के मूल्य कम होने पर दोनों वस्तुओं की माँग बढ़ जाती है ।
ऋणात्मक तिरछी लोच को निम्नलिखित रेखाचित्र में देखा जा सकता है ।

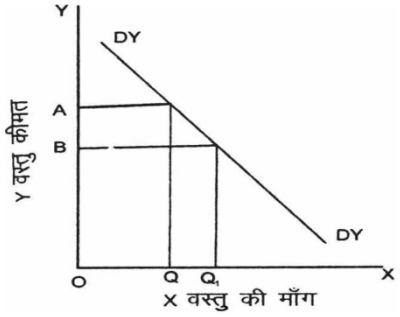

चित्र में DYDY माँग रेखा है जो यह दर्शाती है कि Y वस्तु का मूल्य कम होमे पर X वस्तु कई माँग भी बढ़ती है तथा Y वस्तु का मूल्य बढने पर X वस्तु की माँग घटती है ।

3. **शून्य तिरछी लोच (Zero Cross Elasticity) :** यदि तिरछी लोच शून्य होती है, तो दोनों वस्तुएँ एक दूसरे से सम्बन्धित नहीं होती है, वे वस्तुएँ स्वतन्त्र वस्तुएँ होती है । ऐसी वस्तुएँ न तो एक-दूसरे की स्थानापन्न है और न ही पूरक । एक वस्तु के मूल्यों में परिवर्तन का दूसरी वस्तु की माँग पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है । इस शून्य तिरछी लोच अवस्था को नीचे के चित्र में देखा जा सकता है ।

   रेखाचित्र में DYDY वस्तु X की माँग रेखा है । जो Y वस्तु के मूल्यों में होने वाले उतार-चढ़ावों से प्रभावित रहता है ।

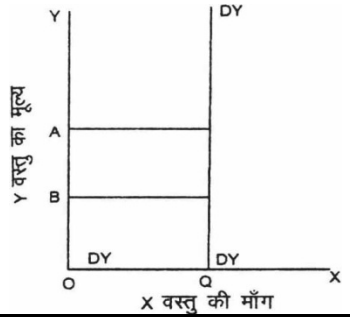

4.11 सारांश

माँग की लोच की धारणा का विस्तार से अध्ययन करने के उपरान्त सारांश रूप में यह कहना उचित होगा कि माँग की लोच की धारणा का वर्तमान व्यवहारिक जगत में समस्त व्यावसायिक एवं प्रबन्धकीय निर्णयों में बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है । इस धारणा से कोई भी प्रबन्धक यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि वस्तु के मूल्यों में कितना परिवर्तन किया जाए ताकि उसकी वस्तु की माँग कम से कम प्रभावित हो ।

4.12 शब्दावली

1. मांग की मूल्य सोच- किसी वस्तु के मूल्य में प्रतिशत परिवर्तन तथा उसकी माँग के प्रतिशत परिवर्तन की माप को मूल्य लोच कहते है ।
2. माँग की आय लोच- किसी उपभोक्ता की आय में प्रतिशत परिवर्तन के परिणामस्वरूप उस वस्तु की माँग में प्रतिशत परिवर्तन की माप आय लोच कहलाती है ।

3. राशिपातन- किसी वस्तु की विदेशी बाजार में नीची कीमत पर बेचने की नीति ही राशिपातन है ।
4. निवेश - धन का वह भाग जो और अधिक धन कमाने के उद्देश्य से विनियोग किया जाता है, निवेश कहलाता है ।
5. कीमत माँग का ऋणात्मक सम्बन्ध- किसी वस्तु के मूल्य में बढोतरी होने के फलस्वरूप उसकी माँग में आई गिरावट को ही कीमत-माँग का ऋणात्मक सम्बन्ध कहते है ।

4.13 अभ्यास प्रश्न

1. माँग की लोच से आप क्या समझते हैं?
2. माँग की आय लोच को मापने का सूत्र लिखिए ।
3. माँग की आडी 7 तिरछी लोच से क्या आशय है ?

लघुतरात्मक प्रश्न

4. माँग की लोच को प्रभावित करने वाले कोई 4 तत्व लिखिए ।
5. माँग की आय लोच को परिभाषित करते हुए इसके प्रकारों के नाम बताइए ।

निबन्धात्मक प्रश्न

6. माँग की लोच से आपका क्या आशय है ? इसको मापने की विभिन्न विधियों को विस्तार से समझाइए ।

4.14 संदर्भ ग्रन्थ

1. **आर्थिक विश्लेषण -** डा. एम.डी. अग्रवाल एवं डा. गोपालसिंह
2. **व्यावसायिक अर्थशास्त्र-** अग्रवाल एवं अग्रवाल

इकाई-5 मूल्य विश्लेषण

इकाई की रूपरेखा -

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 मूल्य निर्धारण का सामान्य
मांग पक्ष
पूर्ति पक्ष

5.3 मांग एव पूर्ति में परिवर्तन तथा साम्य मूल्य पर इसका प्रभाव

5.4 समय तत्व का पूर्ति पर प्रभाव
अति अल्पकाल
अल्पकाल
दीर्घकाल
अति दीर्घकाल

5.5 अल्पकाल एवं दीर्घकाल में अन्तर

5.6 दीर्घकालीन मूल्य और पैमाने के प्रतिफल.

5.7 बाजार मूल्य तथा सामान्य मूल्य में अन्तर

5.8 सारांश

5.9 शब्दावली

5.10 अभ्यास प्रश्न

5.11 सन्दर्भ ग्रन्थ

5.0 उद्देश्य

किसी वस्तु का मूल्य निर्धारण उसकी मांग व पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियों का परिणाम होता है । मूल्य निर्धारण के सामान्य सिद्धान्त को मूल्य विश्लेषण द्वारा समझा जा सकता है । इस पाठ द्वारा एक वस्तु के मूल्य निर्धारण की समस्त प्रक्रिया को समझा जा सकता है ।

5.1 प्रस्तावना

मूल्य विश्लेषण आर्थिक विश्लेषण का महत्वपूर्ण भाग है । मूल्य विश्लेषण का अर्थ है माँग एवं पूर्ति की अन्तक्रिया द्वारा किसी वस्तु का मूल्य निर्धारित करना । किसी वस्तु के मूल्य निर्धारण की विवेचना पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था में की जाती है । पूर्ण प्रतियोगिता बाजार की वह अवस्था है जिसमें किसी वस्तु के बहुत से क्रेता एवं विक्रेता होते हैं । इनके द्वारा बेची जाने वाली सभी इकाइयाँ समरूप होती हैं व बाजार में वस्तु की एक ही कीमत होती है । पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था में मूल्य निर्धारण में डा० मार्शल से पूर्व के अर्थशास्त्रियों में मतभेद पाया जाता था । डेविड रिकार्डो के

अनुसार मूल्य निर्धारण पर वस्तु विशेष की लागत अर्थात् पूर्ति का अधिक प्रभाव होता है जबकि सीमान्तवादी अर्थशास्त्री जेवन्स का मानना है कि किसी वस्तु का मूल्य उसकी माँग अर्थात् सीमान्त उपयोगिता द्वारा निर्धारित किया जाता है । डा० मार्शल के अनुसार, किसी वस्तु का मूल्य उसकी उत्पादन लागत तथा सीमान्त उपयोगिता दोनों द्वारा निर्धारित होता है । किसी वस्तु की पूर्ति पर उत्पादन लागत तथा मांग पर सीमान्त उपयोगिता का प्रभाव पड़ता है । अत: किसी वस्तु के मूल्य का निर्धारण उसकी माँग और पूर्ति की सापेक्षित शक्तियों द्वारा किया जाता हैं ।

5.2 मूल्य निर्धारण का सामान्य सिद्धान्त

मार्शल ने प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के मूल्य के उत्पादन लागत तथा उपयोगिता सिद्धान्त दोनों को मिलाकर मूल्य निर्धारण के सामान्य सिद्धान्त का प्रतिपादन किया । मार्शल के अनुसार, पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में किसी वस्तु का मूल्य न तो केवल वस्तु की उत्पादन लागत से निर्धारित होता है, बल्कि यह तो इन दोनों की सापेक्षिक शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है । " मार्शल का यह कथन बिल्कुल सही है कि मूल्य निर्धारण के लिए वस्तु की मांग तथा पूर्ति दोनों की आवश्यकता होती है । यदि वस्तु की पूर्ति को स्थिर रखा जाता है तो मूल्य निर्धारण में माँग महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है तथा वस्तु की माँग स्थिर रहती है तो मूल्य निर्धारण में पूर्ति महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है । मार्शल के सामान्य मूल्य सिद्धान्त की व्याख्या नीचे की गयी है-

(अ) माँग पक्ष या माँग विश्लेषण -

मूल्य विश्लेषण करते समय वस्तु की माँग तथा मूल्य का अध्ययन आवश्यक होता है कि उपभोक्ता वस्तु की माँग क्यों करता है तथा वह उस वस्तु का मूल्य क्यों देता है तथा वह उस वस्तु का अधिकतम कितना मूल्य देने को तैयार है । मूल्य विश्लेषण में मूल्य निर्धारण करते समय उपभोक्ता वस्तु की माँग उसकी आवश्यकता सन्तुष्टि के गुण के कारण करता है तथा इसके लिए वह मूल्य चुकाने के लिए तैयार होता है । यह मूल्य वस्तु की उपयोगिता पर निर्भर करता है । उपभोक्ता कभी भी सीमान्त उपयोगिता से अधिक मूल्य देने के लिए तैयार नहीं होता है ।

किसी वस्तु की माँग के नियम पर निर्भर करती है । माँग के नियम के अनुसार कम मूल्य पर अधिक तथा अधिक मूल्य पर कम माँग होती है । क्रेता जिस मूल्य पर वस्तु की एक निश्चित मात्रा खरीदने को तैयार होता है उसे माँग मूल्य कहा जाता है । अलग अलग मूल्यों पर, विभिन्न क्रेता, वस्तु कीं भिन्न-भिन्न मात्रायें खरीदने के लिए तैयार होते हैं । इसके आधार पर क्रेता की माँग अनुसूची तैयार कर ली जाती है । किसी बाजार में सभी क्रेताओं की माँग अनुसूची तैयार कर योग कर लिया जाता है । इससे वस्तु की बाजार माँग रेखा प्राप्त कर ली जाती है । इसे रेखाचित्र में दिखाया गया है बाजार माँग रेखा दो बातो को स्पष्ट करती है-

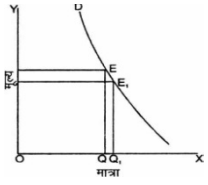

रेखाचित्र- 1

1. माँग रेखा का प्रत्येक बिन्दु एक निश्चित मूल्य पर वस्तु की क्रय की जाने वाली कुल मात्रा को बताता है ।
2. माँग रेखा का प्रत्येक बिन्दू वस्तु की निश्चित मात्रा से प्राप्त सीमान्त उपयोगिता को बताता है । रेखाचित्र 1 में DD रेखा मांग वक्र है जो यह बताती है कि में OP या QE मूल्य पर OQ मात्रा माँगी जाती है तथा वस्तु की सीमान्त उपयोगिता भी OP या QE के बराबर है । यदि वस्तु का मूल्य OP_1 या QE_1 है तो वस्तु की माँगी जाने वाली मात्रा तथा सीमान्त उपयोगिता OP_1 या Q_1E_1के बराबर है ।

(ब) पूर्ति पक्ष या पूर्ति विश्लेषण -

पूर्ति विश्लेषण में वस्तु पूर्ति तथा माँगे जाने वाले मूल्य का अध्ययन किया जाता है । उत्पादक लाभ अर्जित करने के लिए वस्तुओं की पूर्ति करता है । वस्तु उत्पादन करने में लागत आती है । इस लागत को प्राप्त करने के लिए उत्पादक द्वारा मूल्य माँगा जाता है । यह मूल्य सीमान्त लागत के बराबर होता है ।

दीर्घकाल में यह मूल्य सीमान्त लागत तथा औसत लागत के बराबर होता है । यदि दीर्घकाल में वस्तु का मूल्य सीमान्त तथा औसत लागत के बराबर नहीं होता है तो दीर्घकाल में उत्पादक वस्तु का उत्पादन बन्द कर देगा अर्थात् वस्तु की सीमान्त लागत मूल्य की निम्नतम सीमा होती है जहाँ तक उत्पादक पूर्ति बनाये रखता है ।

किसी वस्तु की पूर्ति, पूर्ति के नियम द्वारा निर्धारित होती है । वस्तु का मूल्य ऊँचा होने पर पूर्ति अधिक तथा मूल्य नीचा होने पर पूर्ति कम होती है । प्रत्येक उत्पादक की अपनी पूर्ति अनुसूची होती है जो यह बताती है कि विभिन्न मूल्यों पर वह वस्तु की कितनी मात्रा बेचने के लिए तैयार है । एक बाजार में सभी उत्पादकों की व्यक्तिगत पूर्ति अनुसूचियो का योग करने पर बाजार की पूर्ति अनुसूची तैयार कर ली जाती है । इसे रेखाचित्र के रूप में प्रदर्शित करने पर बाजार की पूर्ति रेखा प्राप्त हो जाती है । रेखाचित्र 2 में बाजार पूर्ति रेखा को प्रदर्शित किया गया है । बाजार पूर्ति रेखा दो बातों को, स्पष्ट करती है-

1. एक निश्चित मूल्य पर वस्तु की पूर्ति की जाने वाली मात्रा को दिखाया जाता है ।
2. पूर्ति रेखा पर निश्चित मूल्य पर उत्पादन की सीमान्त लागत को दिखाया कता है ।

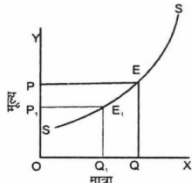

रेखाचित्र 2

रेखाचित्र 2 में SS पूर्ति वक्र है जो यह बताता है कि OP या EQ मूल्य है तो वस्तु की पूर्ति OQ है अर्थात् उत्पादकों द्वारा विक्रय की जाने वाली वस्तु की मात्रा OQ है इस उत्पादन की सीमान्त लागत EQ या हए के बराबर है । यदि मूल्य OP_1 या प Q_1E_1 है तो वस्तु की पूर्ति OQ_1 है तथा सीमान्त लागत OP_1 अथवा Q_1E_1 है ।

माँग तथा पूर्ति का संतुलन-

मांग तथा पूर्ति विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि वस्तु का मूल्य दो सीमाओं के मध्य निधारित होता है । माँग विश्लेषण में वस्तु की सीमान्त उपयोगिता मूल्य की उच्चतम सीमा होती। है तथा पूर्ति विश्लेषण में वस्तु की सीमान्त लागत मूल्य की निम्नतम सीमा होती है । मूल्य का निर्धारण इन दोनों सीमाओं के मध्य होता है ।

बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में वस्तु का मूल्य वस्तु की माँग एवं पूर्ति की शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है । बाजार में क्रेता वस्तु का कम से कम मूल्य देने को तैयार होता है तथा विक्रेता वस्तु का अधिक से अधिक मूल्य वसूलना चाहता है । मूल्य का निर्धारण इन दोनों मूल्यों के मध्य होता है । जिस बिन्दू पर वस्तु की माँग पूर्ति के बराबर होती है उसे साम्य बिन्दु कहा जाता है । इस मूल्य को संतुलन मूल्य भी कहा जाता है । इसी मूल्य पर क्रेता तथा विक्रेता दोनों को सन्तुष्टि प्राप्त होती है। यदि वस्तु का मूल्य साम्य मूल्य से कम रहता है तो क्रेता पूर्ति की गई मात्रा से अधिक वस्तु की माँग करेगें और मूल्य साम्य मूल्य के बराबर हो जायेगा । यदि वस्तु का मूल्य साम्य मूल्य से अधिक रहता है तो विक्रेताओं द्वारा वस्तु की पूर्ति उसकी माँगी गई मात्रा से अधिक की जायेगी परिणाम स्वरूप वस्तु की अधिक मात्रा बेची नहीं जा सकेगी तो असन्तुष्ट विक्रेता वस्तु को अधिक मात्रा में बेचने के लिए मूल्य कम कर देंगे इस प्रकार मूल्य में कमी उस समय तक होगी जब तक माँग तथा पूर्ति में साम्य स्थापित नहीं हो जाता है ।

अत: बाजार में वस्तु के मूल्य का निर्धारण न तो साम्य मूल्य से अधिक होता है; न ही साम्य मूल्य से कम होता हे। बाजार में सदैव साम्य या संतुलन मूल्य प्रचलित रहता है ।

सन्तुलन मूल्य निर्धारण को एक उदाहरण द्वारा आसानी से समझा जा सकता है । तालिका में चावल की माँग तथा पूर्ति की अनुसूचियाँ दी गई हैं-

तालिका

चावल का मूल्य (रु0 प्रति किलो मूल्य)	माँग मात्रा (लाख किलो में)	पूर्ति मात्रा (लाख किलो में)	मूल्य पर प्रभाव
10	30	5	↓
15	25	10	↓
20	20	50	↓
25	15	15	साम्य
30	9	20	↑
25	4	25	↑

40	2	30	↑

इस तालिका को देखने से ज्ञात होता है कि चावल का मूल्य 25 रूपये प्रति किलो होने पर उसकी माँग एवं पूर्ति की मात्राएँ बराबर होती हैं । अत: 25 रूपये प्रति किलो चावल का मूल्य निर्धारित होगा तथा चावल की माँग एवं पूर्ति का साम्य इस मूल्य पर होगा यदि मूल्य साम्य मूल्य से कम रहता है तो चावल की पूर्ति कम रहेगी जिससे चावल में मूल्य बढ़ने की प्रवृति होगी जब तक मूल्य बढ़कर 25 रूपये नहीं हो जाता है। यदि चावल की मूल्य बढ़ जाता है तो चावल की माँग मात्रा कम हो जाती है तथा पूर्ति मात्रा बढ़ जाती है । यह प्रवृति उस समय तक पायी जाती है जब तक चावल का मूल्य घटकर 25 रूपये नहीं हो जाता है ।

मूल्य निर्धारण प्रक्रिया का रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण-

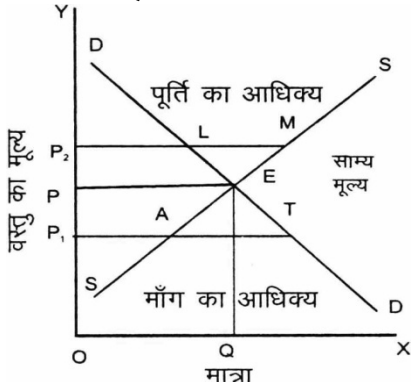

मूल्य निर्धारण प्रक्रिया को रेखाचित्र 3 की सहायता से स्पष्ट किया गया है । रेखाचित्र 3 में OX अक्ष पर वस्तु की माँग तथा पूर्ति की मात्रा को तथा OY अक्ष पर वस्तु के मूल्य को दर्शाया गया है । DD वस्तु का माँग वक्र तथा SS वस्तु का पूर्ति वक्र है । DD माँग वक्र बायें से दायें नीचे की ओर गिरता हुआ तथा SS पूर्ति वक्र ऊपर की ओर चढ़ता हुआ होता है । माँग एवं पूर्ति E बिन्दु पर साम्य की अवस्था में है । जहाँ वस्तु का साम्य मूल्य OP निर्धारित होता है और वस्तु की खरीदी जाने वाली मात्रा OQ है । यदि वस्तु का मूल्य बढ़ कर OP_2 हो जाता है तो वस्तु की माँग घट कर P_2L हो जाती है जबकि पूर्ति P_2M है अर्थात् पूर्ति का माँग पर LM आधिक्य है । इस अतिरिक्त LM को बेचने के लिए विक्रेता मूल्य कम करने को तैयार हो जायेगें अत: मूल्यों में कम होने की प्रवृत्ति पायी जायेगी और मूल्य घटकर OP हो जायेगा । यदि मूल्य घटकर OP_1 अर्थात् साम्य मूल्य OP से कम हो जाता है तो वस्तु की माँग बढ़कर P_1T हो जायेगी और पूर्ति केवल P_1A के बराबर ही होगी अर्थात् माँग I P_1T की तुलना में AT अधिक है अर्थात् क्रेताओं को वस्तु की पूर्ति नहीं होगी और वे ज्यादा मूल्य देकर वस्तु क्रय करने के लिए तैयार होंगे । अत: यह मूल्य बढ़कर साम्य मूल्य के बराबर OP के बराबर हो जायेगा ।

उपरोक्त विश्लेषण का निष्कर्ष है कि बाजार में वही मूल्य निर्धारित होता है जहाँ माँग एवं पूर्ति वक्र एक दूसरे को काटते हैं ।

5.3. माँग एवं पूर्ति में परिवर्तन तथा साम्य मूल्य पर उसका प्रभाव

सामान्यतया, साम्य मूल्य सदैव के लिए स्थाई नहीं होता है यह मांग व पूर्ति अथवा दोनों के परिवर्तन पर बदल जाता है । ऐसा अनेक तत्वों के प्रभाव से होता है । अत: मांग व पूर्ति की दशाओं में होने वाले परिवर्तनों के कारण साम्य मूल्य पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन करना आवश्यक है ।

माँग में परिवर्तनों का साम्य मूल्य पर प्रभाव

किसी भी वस्तु की मांग में परिवर्तन उपभोक्ता की आय, रूचियों अधिमानों आदि तत्वों के कारण से होता है । पूर्ति के स्थिर होने पर मांग में वृद्धि होने पर वस्तु का मूल्य तथा विक्रय की मात्रा दोनों में वृद्धि होती है । यदि मांग कम हो जाती है तो वस्तु के मूल्य तथा विक्रय की मात्रा दोनों में कमी होती है । रेखाचित्र 4 में मांग के परिवर्तन के प्रभावों को दिखाया गया है । रेखाचित्र 4 में मांग DD वक्र तथा SS पूर्ति वक्र है। मांग तथा पूर्ति का साम्य E बिन्दु पर होता है इससे OP सन्तुलन मूल्य तथा OQ सन्तुलन मात्रा निर्धारित होती है । वस्तु मांग बढ़ जाती है और नया माँग D_1D_1 वक्र हो जाता है । यह SS वक्र को E_1 साम्य बिन्दु पर काटते हैं जिससे OP_1 सन्तुलन मूल्य तथा OQ_1 सन्तुलन मात्रा निर्धारित होती है । यदि माँग में कमी जाती है तो माँग वक्र नीचे सरक कर D_2D_2 हो जाता है यह पूर्ति वक्र को E_2 पर काटता है, जिसे OP_2 साम्य मूल्य तथा OQ_2, साम्य मात्रा निर्धारित होती है ।

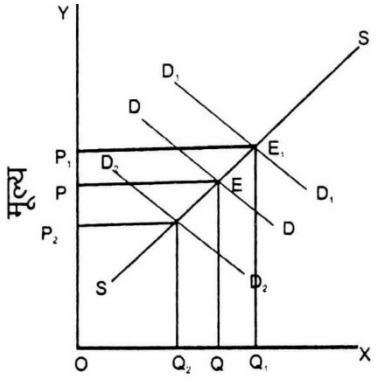

रेखाचित्र 4

वस्तु की माँग में होने वाले परिवर्तन वस्तु की पूर्ति की लोच पर निर्भर काते हैं । वस्तु की पूर्ति लोचदार होने पर वस्तु की मांग में परिवर्तन से मूल्य में कम तथा विक्रय की मात्र में अधिक परिवर्तन होते हैं । रेखाचित्र (A) SS पूर्ति वक्र लोचदार है । मांग में वृद्धि DD से D_1D_1 होने पर मूल्य में परिवर्तन OP से OP_1 अथवा OP_2 होते हैं जो मात्रा में हुऐ परिवर्तन OQ_1 अथवा OQ_2, की अपेक्षा कम है । यदि पूर्ति

कम लोचदार होती है तो मांग में होने वाले परिवर्तनों की तुलना में मूल्य में अधिक तथा मात्रा में कम परिवर्तन होते हैं । रेखाचित्र (B) में SS एक बेलोचदार पूर्ति वक्र है । जब मांग बढ़कर DD से DD_1 होती है अथवा घटकर D_2D_2 होती है तो मूल्य बढ़कर OP से OP_1 अथवा OP से घटकर OP_2 होता है जो मात्रा में हुए परिवर्तन OQ से OQ_1 अथवा OQ से OQ_2 की तुलना में अधिक है ।

पूर्ति में परिवर्तन का सन्तुलन पर प्रभाव-

वस्तु की पूर्ति में परिवर्तन दो प्रमुख तत्वों- 1 तकनीक में परिवर्तन 2. साधनों के मूल्य में परिवर्तन के कारण होते हैं । मांग स्थिर रहने पर पूर्ति में वृद्धि होने से वस्तु के मूल्य में कमी आ जाती है तथा वस्तु की विक्रय मात्रा बढ़ जाती है । पूर्ति में कमी होने पर वस्तु का मूल्य बढ़ जाता है तथा विक्रय मात्रा घट जाती है । पूर्ति में परिवर्तन से वस्तु के मूल्य तथा मात्रा पर पड़ने वाले प्रभावों को रेखाचित्र 5 में दिखाया गया है ।

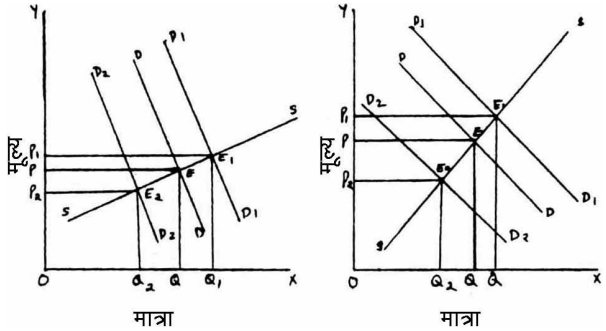

रेखाचित्र 6 में DD मांग वक्र है तथा SS पूर्ति वक्र है । इस चित्रानुसार वस्तु की मांग DD स्थिर है । E बिन्दु साम्य बिन्दू है OP मूल्य पर OQ मात्रा की मांग है । पूर्ति बढ़कर S_1S_1 हो जाती है तो नये सन्तुलन बिन्दू E_1 पर वस्तु का मूल्य घटकर OP_1 हो जाता है तथा विक्रय की मात्रा बढ़कर OQ_1 हो जाती है । जब पूर्ति घट कर S_2S_2 हो जाती है तो नये ? साम्य E_2 पर वस्तु का मूल्य P_2, हो जाता है और बढ़े हुए मूल्य पर विक्रय मात्रा घटकर OQ_2 हो जाती है ।

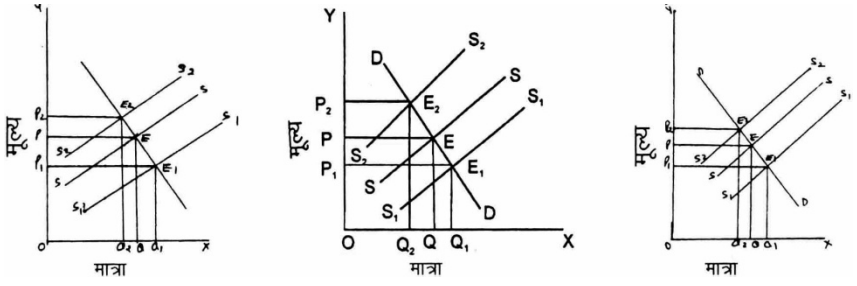

रेखाचित्र 6 (अ) रेखाचित्र 6 (ब) रेखाचित्र 6 (स)

पूर्ति में होने वाले परिवर्तन वस्तु के मूल्य तथा मात्रा में होने वाले परिवर्तन, वस्तु की मांग की लोचदार निर्भर करते हैं । यदि वस्तु की मांग कम लोचदार है, तो पूर्ति में परिवर्तन से मूल्य में होने वाले परिवर्तन की तुलना में मात्रा में कम परिवर्तन होते हैं

इसे रेखाचित्र 6A में स्पष्ट किया गया है । रेखाचित्र 6ब में DD मांग वक्र है जो कम लोचदार है, तो पूर्ति में परिवर्तन से मूल्य में होने वाले परिवर्तनों की तुलना में वस्तु की मात्रा में कम परिवर्तन होते हैं । SS पूर्ति वक्र से साम्य बिन्दू E निर्धारित होता है तथा मात्रा OQ है । अब वस्तु की पूर्ति बढ़कर S_1S_1 होने पर अथवा पूति घटकर S_2S_2 होने पर मूल्य घटकर OP से OP_1 होने या OP से बढ़कर OP_2 होने पर मात्रा में OQ से OQ या OQ से Q_2 होने पर जो परिवर्तन होता है ? वह परिवर्तन मूल्यों के परिवर्तन की तुलना में कम होता है । जबकि वस्तु की मांग लोचदार होने पर मूल्यों की तुलना में मात्रा में अधिक परिवर्तन होता है । इसे रेखाचित्र 6स) से स्पष्ट किया गया है । मूल्य जब OP से घटकर OP_1 होता है तो मात्रा OQ_1 हो जाती है तथा मूल्य की तुलना में अधिक परिवर्तन बताती है । जब मूल्य OP से OP_2 हो जाता है । मात्रा OQ से घटकर OQ_2 हो जाती है किन्तु यह परिवर्तन भी मूल्य की तुलना में अधिक है ।

मांग एवं पूर्ति में संयुक्त परिवर्तनों का सन्तुलन मूल्य पर प्रभाव

वस्तु की मांग एवं पूर्ति दोनों में एक साथ परिवर्तन हो सकते हैं इनके संयुक्त प्रभाव से वस्तु का मूल्य घट या बढ़ जाता है और वस्तु की मात्रा में भी कमी अथवा वृद्धि हो जाती है । मांग व पूर्ति में संयुक्त परिवर्तनों के प्रभाव का अध्ययन निम्नलिखित हैं :-

(अ) मांग व पूर्ति दोनों में वृद्धि- किसी वस्तु की मांग व पूर्ति दोनों में एक साथ वृद्धि होने पर मूल्य एवं मात्रा में होने वाला परिवर्तन इस बात पर निर्भर करता है कि वृद्धि किसमें अधिक है । यदि वस्तु की मांग पूर्ति की अपेक्षा अधिक बढ़ती है तो वस्तु के मूल्य एवं उसकी मात्रा दोनों में वृद्धि होगी । इसके विपरीत वस्तु की मांग में पूर्ति की अपेक्षा कम वृद्धि होती है अर्थात पूर्ति में अधिक वृद्धि होती है तो वस्तु के मूल्य में तो कमी होगी किन्तु मात्रा में वृद्धि होगी । इसके अतिरिक्त यदि वस्तु की मांग व पूर्ति में समान अनुपात में वृद्धि होती है तो वस्तु के मूल्य में कोई परिवर्तन नहीं होगा किन्तु मात्रा में वृद्धि होगी । इन तीनों अवस्थाओं को नीचे के रेखाचित्र 7 में देखा जा सकता है :-

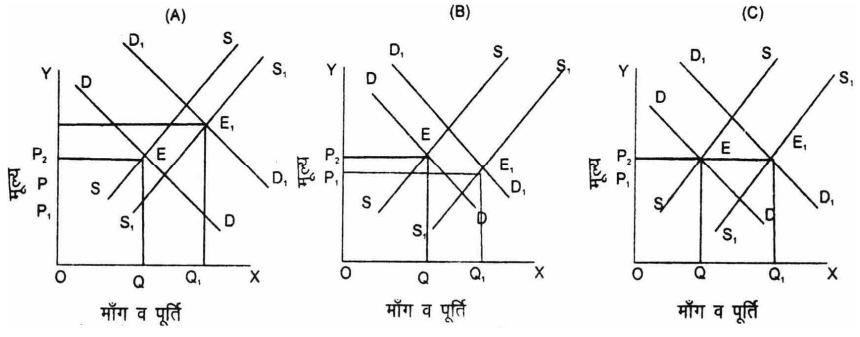

रेखाचित्र 7 (अ) रेखाचित्र 7 (ब) रेखाचित्र 7 (स)

(ब) माँग व पूर्ति दोनों में कमी :-

जब किसी वस्तु की मांग व पूर्ति दोनों में कमी होती है, तब उससे वस्तु के मूल्य तथा मात्रा पर पड़ने वाले प्रभाव इस बात पर निर्भर करते हैं कि दोनों में कमी किस दर से हो रही है । (1) यदि वस्तु की मांग की तुलना में पूर्ति में अधिक कमी आती है, तो वस्तु का मूल्य बढ़ जाएगा किन्तु मात्रा घट जाएगी । (2) यदि वस्तु की पूर्ति की अपेक्षा मांग अधिक घट जाती है, तो वस्तु का मूल्य गिर जाएगा साथ ही मात्रा में भी कमी हो जाएगी 3. यदि वस्तु की मांग व पूर्ति दोनों में समान दर से कमी आती है तो वस्तु का मूल्य अपरिवर्तित रहेगा तथा वस्तु की मात्रा कम हो जाएगी ।

(स) मांग में वृद्धि एवं पूर्ति में कमी-

जब किसी वस्तु की मांग में तो वृद्धि होती हो किन्तु पूर्ति में कमी होती हो दो ऐसी दशा में वस्तु के मूल्य में अधिक तेजी से वृद्धि होगी तथा सामान्यतया वस्तु की मात्रा में कमी हो जाती है ।

(द) माँग में कमी एवं पूर्ति में वृद्धि-

जब किसी वस्तु की मांग में तो कमी हो किन्तु पूर्ति में वृद्धि तो ऐसी दशा में वस्तु के मूल्य बहुत तेजी से गिरते हैं किन्तु सामन्यतया वस्तु की मात्रा थोडी बढ़ जाती है ।

उपरोक्त विवरण के आधार पर निष्कर्ष रूप में यह कहना उचित होगा कि :-

1. जब पूर्ति के स्थिर रहने पर माँग में वृद्धि या कमी होती है तो सन्तुलन मूल्य तथा मात्रा दोनों में वृद्धि या कमी होती है ।
2. जब माँग के स्थिर रहने पर पूर्ति में वृद्धि या कमी होती है तो सन्तुलन मूल्य में कमी या वृद्धि होती है तथा सन्तुलन मात्रा में भी वृद्धि या कमी होती है ।
3. जब मांग व पूर्ति दोनों में वृद्धि या कमी होती है तो सन्तुलन मात्रा में वृद्धि या कमी होती है परन्तु सन्तुलन मूल्य में होने वाली वृद्धि या कमी इस बात पर निर्भर करती है कि मांग में पूर्ति पक्ष की अपेक्षा अधिक वृद्धि हुई है या पूर्ति में मांग पक्ष की अपेक्षा वृद्धि हुई है ।
4. जब मांग तथा पूर्ति पक्ष दोनों में विपरीत दिशा में परिवर्तन आता है तो सन्तुलन मात्रा में होने वाला परिवर्तन अनिर्धारणीय रहता है । परन्तु मूल्य में उसी दिशा में परिवर्तन आता है जिस दिशा में मांग मे परिवर्तन आता है ।
5. संक्षेप में यह कहना उचित होगा कि मांग रेखा व पूर्ति रेखा की अन्र्तक्रिया द्वारा ही सन्तुलन मूल्य निर्धारित किया जाता है ।

5.4. समय तत्व का पूर्ति पर प्रभाव

अल्फ्रेड मार्शल पहले अर्थशास्त्री थे जिन्होंने मूल्य निर्धारण में समय तत्व का महत्व स्पष्ट किया था । किसी भी वस्तु का मूल्य मांग तथा पूर्ति के साम्य द्वारा निर्धारित होता है । किसी भी वस्तु की मांग में वृद्धि होने पर उसे तत्काल बढ़ाना सम्भव नहीं होता है क्योंकि पूर्ति को उत्पादन तन्त्र नियन्त्रित करता है । पूर्ति में वृद्धि अथवा कमी करने में समय लगता है । अत: समय एक ऐसा महत्वपूर्ण तत्व है जो मूल्य निर्धारण पर विशेष प्रभाव डालता है । समय जितना कम होता है मांग पक्ष का अधिक प्रभाव

होता है । समय जितना अधिक होता है मांग की तुलना में पूर्ति का अधिक प्रभाव पड़ता है ।

मार्शल के अनुसार समय को चार भागों में वर्गीकृत किया गया है :-

1. अति अल्पकाल
2. अल्पकाल
3. दीर्घकाल
4. अति दीर्घकाल

1. अति अल्पकाल- अति अल्पकाल बाजार समय के नाम से भी जाना जाता है । यह वह समय होता है जिसमें वस्तु की पूर्ति स्थिर रहती है । इस समय में वस्तु की पूर्ति केवल स्टॉक में रखे माल तक ही बढ़ायी जा सकती है । इस अवधि में मूल्य मांग द्वारा सर्वाधिक प्रभावित होता है । यह अवधि कुछ घण्टे एक दिन, कुछ दिन या कुछ सप्ताह हो सकती है । शीघ्र नाशवान तथा टिकाऊ वस्तुओं का अति अल्पकालीन मूल्य अलग-अलग होता है ।

(अ) नाशवान वस्तुऐं - दूध, मछली, हरी सब्जियाँ आदि शीघ्र नाशवान होती हैं । इन्हें स्टॉक के रूप में एकत्र करना सम्भव नहीं होता है । इन का समस्त स्टॉक बाजार में पूर्ति करता है चाहे मूल्य कुछ भी क्यों न हो । इन वस्तुओं की पूर्ति रेखा एक उदग्र सीधी रेखा होती है । इनका मूल्य मांग परिवर्तन से प्रभावित होता है ।

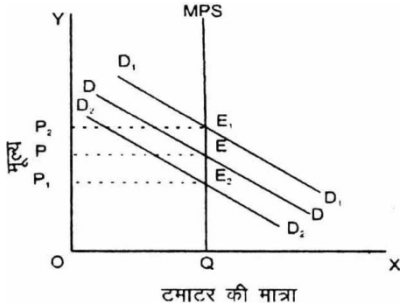

रेखाचित्र 8

रेखाचित्र 8 में OX अक्ष पर नाशवान वस्तु टमाटर की मात्रा तथा OY अक्ष पर मूल्य दिखाया गया है । MPS टमाटर का पूर्ति वक्र है जो OQ मात्रा पर स्थिर है । DD वस्तु का प्रारम्भिक मांग वक्र है जो MRP को E बिन्दू पर काटता है और बाजार मूल्य OP का निर्धारण होता है । टमाटर की मांग बढकर D_1D_1 हो जाती है नया सन्तुलन बिन्दू E_1 है । जिस दर टमाटर का मूल्य OP_1 निर्धारित होता है । इसके विपरीत मांग घटने पर नया मांग वक्र D_2D_2 नीचे को खिसक जाता है । नये साम्य बिन्दू E_2 पर OP_2 मूल्य निर्धारित होता है जो प्रारम्भिक मूल्य OP_2, से कम है ।

(ब) टिकाऊ वस्तुएँ- टिकाऊ वस्तुऐं वे वस्तुऐं होती है जिन्हें अति अल्पकाल में बेचना आवश्यक नहीं होता है । बाजार मूल्य कम होने पर इन्हें स्टॉक में रख कर बेचा जा सकता है । इन वस्तुओं की पूर्ति मूल्य कम होने पर कम होती है और बढ़ने पर

अधिक होती है । इन वस्तुओं के दो मूल होते हैं । 1. न्यूनतम मूल्य 2. सुरक्षित मूल्य । विक्रेता न्यूनतम मूल्य पर वस्तुओं को बेचने को तैयार नहीं होता है और सुरक्षित मूल्य वह मूल्य होता है जिस पर वह समस्त मात्रा बेचने को तैयार हो जाता है । अति अल्पकाल में टिकाऊ वस्तुओं का पूर्ति वक्र न्यूनतम बिन्दु से प्रारम्भ होकर एक सीमा तक बढ़ता रहता है तथा एक निश्चित मूल्य पर पहुँच कर उदग्र सीधी रेखा में परिवर्तित हो जाता है ।

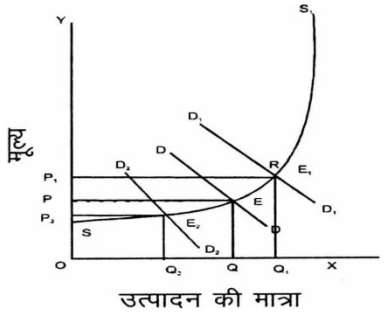

रेखाचित्र 9

रेखाचित्र 9 में अति-अल्पकाल के अन्तर्गत SRS वस्तु की पूर्ति रेखा है जो S से R बिन्दु तक मूल्य बढ़ने के साथ बढ़ती है तथा R बिन्दु के बाद उदग्र सीधी रेखा का रूप धारण कर लेता है प्रारंभिक मांग वक्र DD है जो SRS_1 पूर्ति वक्र को E बिन्दु पर करता है अत: संतुलन बिन्दू E है जिस पर वस्तु की OQ मात्रा का क्रय विक्रय किया जाता है तथा EQ मूल्य निर्धारित होता है । यदि मांग बढ़कर D_1D_1 हो जाती है तो नया संतुलन R बिन्दु पर होता है जिस पर वस्तु की OQ_1 मात्रा का क्रय विक्रय RQ_1 मूल्य पर होता है । इसके विपरीत मांग घटकर D_2D_2 हो जाती है तो नया संतुलन बिन्दू E_2, हो जाता है जहां E_2Q_2 मूल्य पर वस्तु की OQ_2 मात्रा बेची जाती है । इससे यह स्पष्ट होता है कि मांग घटने पर मूल्य घट जाता है तथा मांग बढ़ने पर मूल्य बढ़ जाता है । परन्तु मूल्य कभी भी OS से नीचे नहीं गिरता है तथा वस्तु की मांग OQ_1 से अधिक नहीं बढ़ सकती है । यदि मांग OQ_1 से अधिक होगी, तो मूल्य बढ़ता जायेगा किन्तु वस्तु की पूर्ति में कोई वृद्धि नहीं होगी ।

2. अल्पकाल- अल्पकाल समय की वह अवधि होती है जिसमें वस्तु की पूर्ति को मांग के अनुसार पूर्ण रूपेण परिवर्तित नहीं किया जाता है । पूर्ति को उत्पादन के पैमाने के प्रयोग द्वारा बढाया घटाया जा सकता है । अल्पकाल में स्थायी साधनों में परिवर्तन करना सम्भव नहीं होता है किन्तु परिवर्तनशील साधनों में आवश्यकतानुसार परिवर्तन किया जा सकता है । अल्पकाल वह समय अवधि होती है जिसमें फर्म केवल परिवर्तनशील लागतों के बराबर भुगतान प्राप्त होने पर भी उत्पादन जारी रखती है, परन्तु परिवर्तनशील लागत से कम भुगतान मिलने पर उत्पादन बन्द कर देती है । अल्पकाल में पूर्ति की मात्रा में कुछ सीमा तक परिवर्तन किया जाना सम्भव होता है । अल्पकाल वह अवधि होती है जिसमें वस्तु के मूल्य निर्धारण में मांग का प्रभाव अधिक होता है किन्तु पूर्ति का भी प्रभाव दिखायी दिखायी देता है ।

अल्पकाल में मूल्य निर्धारण को रेखाचित्र 10 द्वारा दर्शाया गया है । रेखाचित्र में MPS अति अल्पकालीन पूर्ति वक्र है ।

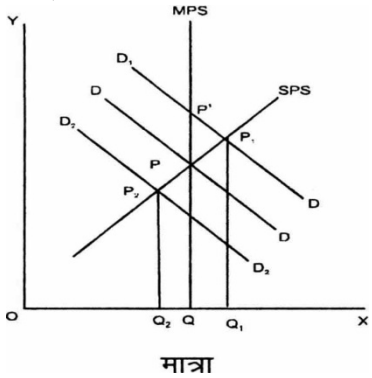

रेखाचित्र 10

प्रारम्भिक मांग वक्र DD है तथा SPS पूर्ति वक्र तथा DD मांग वक्र के द्वारा PQ मूल्य निर्धारित होता है जिस पर वस्तु की OQ मात्रा बेची जाती है । वस्तु की मांग में वृद्धि से नयी मांग रेखा D_1D_1 हो जाती है तो नये साम्य से P_1Q_1 मूल्य निर्धारित होता है । जिस पर वस्तु की OQ मात्रा का क्रय विक्रय किया जाता है । अल्पकाल में मांग बढ़ने पर मूल्य बढ़ता है किन्तु यह मूल्य वृद्धि अति अल्पकाल की तुलना में कम होती है । रेखाचित्र 10 से स्पष्ट होता है कि अति अल्पकाल में मांग में वृद्धि होने से मूल्य PQ हो जाता है जो P_1Q से अधिक है । इसी प्रकार अल्पकाल में मांग में कमी आने से मूल्य में कमी हो जाती है परन्तु यह कमी अति अल्पकाल की तुलना में कम होती है ।

3. **दीर्घकाल-** दीर्घकाल समय की वह अवधि होती है जिसमें उत्पादन के सभी साधनों की पूर्ति में आवश्यकतानुसार परिवर्तन किये जा सकते हैं । दीर्घकाल में फर्म आवश्यकतानुसार उत्पादन के पैमाने में वृद्धि अथवा कमी कर सकती है । दीर्घकाल में बाजार में नई फर्मे प्रवेश कर सकती है तथा पुरानी फर्मे उद्योग. छोड कर जा सकती हैं । इस अवधि में पूर्ति को मांग के अनुरूप समायोजित किया जा सकता है । इसलिए मूल्य निर्धारण में पूर्ति का प्रभाव अधिक प्रबल होता है । दीर्घकाल में मूल्य मांग बढ़ने पर अति अल्पकाल तथा अल्पकाल दोनों की तुलना में कम बढ़ता है । दीर्घकाल में मूल्य निर्धारण को रेखाचित्र के द्वारा स्पष्ट किया गया है ।

रेखाचित्र में MPS अति अल्पकालीन पूर्ति वक्र SPS अल्पकालीन पूर्ति वक्र तथा LPS दीर्घकालीन पूर्ति वक्र है । DD प्रारम्भिक मांग वक्र है । LPS पूर्ति वक्र तथा DD मांग के साम्य द्वारा PQ प्रारम्भिक मूल्य निर्धारित होता है । जब मांग बढ़कर D_1D_1 हो जाती है तो नये साम्य द्वारा मूल्य P_1P_2 निर्धारित होता है जो अति अल्पकालीन मूल्य PQ_1 तथा अल्पकालीन मूल्य की P_1Q_1 तुलना में कम है।

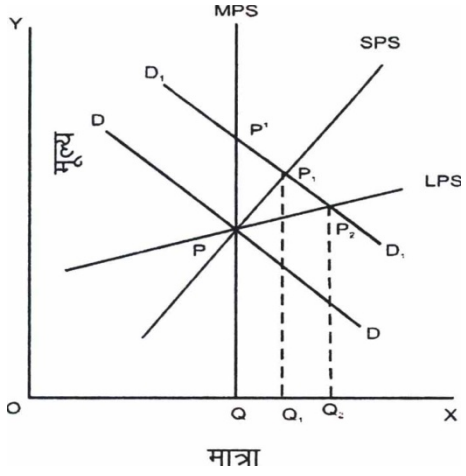

रेखाचित्र 11

4. **अति दीर्घकाल -** अति दीर्घकाल समय की वह अवधि है जिसमें मांग तथा पूर्ति दोनों में बुनियादी परिवर्तन किये जा सकते हैं । जनसंख्या के आकार, लोगों की रूचि तथा आदतों में होने वाले परिवर्तन का प्रभाव मांग पर पड़ता है । उत्पादन की तकनीकों तथा नये आविष्कारों का प्रभाव पूर्ति पर पड़ता है । इस समयावधि में व्यापारिक उतार चढ़ाव आते रहते हैं ।

5.5. अल्पकाल तथा दीर्घकाल में अन्तर

अल्पकाल तथा दीर्घकाल में निम्नलिखित अन्तर पाये जाते हैं-

1. अल्पकाल में परिवर्तनशील साधनों में परिवर्तन करके पूर्ति में परिवर्तन किया जा सकता है । कुछ साधन स्थिर होते हैं उनमें परिवर्तन नहीं किया जा सकता है । इसके विपरीत दीर्घकाल में सभी साधन परिवर्तनशील होते हैं । पूर्ति में मांग के अनुरूप परिर्वतन किया जा सकता है ।
2. अल्पकाल में फर्म नये प्लांट नहीं लगा सकती है तथा नई फर्मे उद्योग में प्रवेश नहीं कर सकती और पुरानी फर्मे उद्योग छोड़कर नहीं जा सकती है । दीर्घकाल वह समयावधि होती है जिसमें फर्म नया प्लांट लगा सकती है और पुरानी फर्म उद्योग छोड़ सकती है । नई फर्म उद्योग में प्रवेश कर सकती है ।
3. अल्पकाल में पूर्ति को केवल वर्तमान उत्पादन क्षमता तक बढ़ाया जा सकता है ।
4. दीर्घकाल में पूर्ति को मांग के अनुरूप कम या अधिक किया जा सकता। है ।

अल्पकाल में मूल्य निर्धारण में मांग का अपेक्षाकृत अधिक प्रभाव पड़ता है, परन्तु समय के साथ-साथ पूर्ति का महत्व बढ़ता जाता है ।

दीर्घकाल में मांग और पूर्ति दोनों का महत्व समान रहता है ।

5.6. दीर्घकालीन मूल्य (सामान्य मूल्य) और पैमाने के प्रतिफल

सामान्य मूल्य पर पैमाने के प्रतिफल के नियमों का प्रभाव पड़ता है । दीर्घकाल में उद्योग का पूर्ति वक्र सीमान्त लागत वक्र होता है । अत: पूर्ति अर्थात् सीमान्त लागतों

में परिवर्तन होने के कारण सामान्य मूल्य में भी परिवर्तन होता है । उत्पादन के बढ़ने के फलस्वरूप सीमान्त लागतों अर्थात् पूर्ति में किस अनुपात में परिवर्तन होगा, यह इस बात पर निर्भर करेगा कि उत्पादन पर पैमाने के प्रतिफल का कौनसा नियम लागू हो रहा है ।

1. दीर्घकालीन मूल्य तथा पैमाने के बढ़ते प्रतिफल या घटती लागतों का नियम

बढ़ते प्रतिफल के नियम को घटती लागतों का नियम भी कहा जाता है । इस नियम के अनुसार जब किसी वस्तु के उत्पादन की मात्रा को बढ़ाया जाता है तो उद्योग में कई प्रकार की बचतें प्राप्त होती हैं । इसके परिणामस्वरूप सीमान्त लागत तथा औसत लागत भी कम हो जाती है । दीर्घकालीन मूल्य चूंकि सीमान्त लागत एवं औसत लागत के बराबर होता है इसलिए वह भी कम हो जाता है। अत: जब किसी वस्तु के उत्पादन पर बढ़ते प्रतिफल अथवा घटती लागतों का नियम लाग होता है तो उत्पादन की मात्रा बढ़ने पर सामान्य मूल्य कम हो जाता है । रेखाचित्र में OX अक्ष पर उत्पादन की मात्रा तथा OY अक्ष पर वस्तु का मूल्य दिखाया गया है । SS पूर्ति वक्र या लागत मांग वक्र है । DD वक्र वस्तु का प्रारंभिक मांग वक्र है ।

बढ़ते प्रतिफल

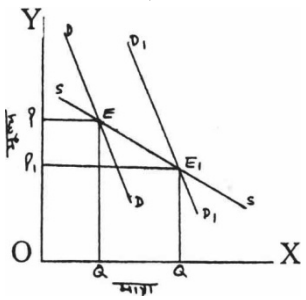

रेखाचित्र 12

रेखाचित्र में इस SS वक्र का ढलान ऊपर से नीचे की ओर है जो यह स्पष्ट करता है कि उत्पादन की मात्रा बढ़ने पर लागत कम होती जायेगी । प्रारंभिक मांग वक्र DD पूर्ति वक्र SS बिन्दु को E बिन्दु पर काट रहा है । इसलिए संतुलन मूल्य OP तथा संतुलन उत्पादन O निर्धारित होगा यदि मांग में वृद्धि होने से मांग वक्र ऊपर की ओर खिसक कर D_1D_1 हो जाये तो नया मांग वक्र D_1D_1 पूर्ति वक्र SS को E_1 बिन्दू पर काटेगा और मूल्य OP से घटकर OP_1 हो जायेगा । उत्पादन की मात्रा बढ़कर OQ हो जायेगी । रेखाचित्र 12 से यह स्पष्ट हो जाता है कि घटती लागतों के नियम के लागू होने के कारण वस्तु की मांग बढ़ने पर उसका उत्पादन तो बढ़ता है परन्तु सामान्य मूल्य या दीर्घकालीन मूल्य कम हो जाता है ।

2. दीर्घकालीन मूल्य तथा पैमाने के घटते प्रतिफल या बढ़ती लागतों का नियम

घटते प्रतिफल के नियम को बढ़ती लागतों का नियम भी कहा जाता है । इस नियम के अनुसार उद्योग में उत्पादन बढ़ने से कई प्रकार की हानियाँ बढ़ जाती हैं इसके परिणामस्वरूप सीमान्त तथा औसत लागत बढ़ जाती है । इन लागतों में वृद्धि होने से

दीर्घकालीन मूल्य बढ़ जाता है । रेखाचित्र SS पूर्ति वक्र है । यह वक्र नीचे से ऊपर की ओर उठ रहा है । इससे यह स्पष्ट होता है कि जैसे जैसे उत्पादन की मात्रा बढ़ती जाती है लागतें भी बढ़ती जाती हैं । रेखाचित्र 12 में DD प्रारंभिक मांग वक्र है ।

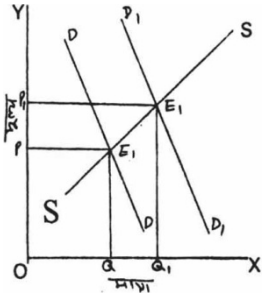

रेखाचित्र 13

यह मांग वक्र SS पूर्ति वक्र को E बिन्दु पर काट रहा है अत: संतुलन कीमत OP निर्धारित होती है तथा संतुलन मात्रा OQ निर्धारित होती है । यदि मांग बढ़ने से मांग वक्र ऊपर की ओर खिसक कर हो D_1D_1 जाता है तो नया साम्य बिन्दू E_1 है जहाँ मांग वक्र D_1D_1, SS पूर्ति वक्र को काट रहा है । सामान्य मूल्य OP से बढ़ कर OP_1 तथा मात्रा बढ़ कर OQ से OQ_1 हो जाती है । अत: यह कहा जा सकता है कि जिन उद्योगों में बढ़ती लागतों का नियम लागू होता है उनमें मांग के बढ़ने पर दीर्घकालीन मूल्य भी बढ़ता है तथा उत्पादन की मात्रा भी बढ़ जाती है ।

2. दीर्घकालीन मूल्य तथा पैमाने के समान प्रतिफल या समान लागत नियम

समान प्रतिफल के नियम को समान लागत का नियम भी कहा जाता है । इस नियम के अनुसार जब किसी वस्तु की उत्पादन मात्रा को बढ़ाया जाता है तो औसत तथा सीमान्त लागतें समान रहती हैं इसलिए दीर्घकालीन मूल्य भी स्थिर रहता है अर्थात् उत्पादन के घटने या बढ़ने का दीर्घकालीन मूल्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है ।

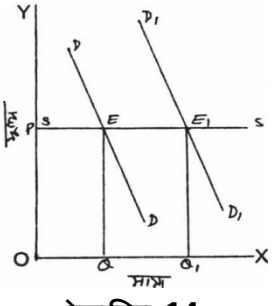

रेखाचित्र 14

रेखाचित्र 13 में SS पूर्ति वक्र है । यह वक्र OX अक्ष के समानान्तर है जो यह स्पष्ट करता है कि उत्पादन की मात्रा में कमी अथवा वृद्धि का उत्पादन के दीर्घकालीन मूल्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा अर्थात् यह मूल्य स्थिर रहता है । रेखाचित्र 14 में प्रारंभिक मांग वक्र DD है । यह पूर्ति वक्र SS को E बिन्दु पर काट रहा है । अत: E बिन्दु संतुलन बिन्दू है । इस E बिन्दु पर सामान्य मूल्य OP तथा संतुलन मांग OQ होगी

। मांग में वृद्धि हो जाने से मांग वक्र खिसक कर D_1D_1 हो जाता है । नया मांग वक्र D_1D_1 पूर्ति वक्र SS को E_1 बिन्दु पर काटता है । अत: नया संतुलन बिन्दू E_1 हो जाता है । परन्तु इस बाजार अवस्था में भी दीर्घकालीन मूल्य OP ही रहता है जबकि मात्रा OQ से बढ़कर OQ_1 हो जाती है ।

5.7 बाजार मूल्य तथा सामान्य मूल्य में अन्तर

बाजार मूल्य तथा सामन्य मूल्य में मुख्य अन्तर निम्नलिखित हैं -

1. **समय -** बाजार मूल्य वह मूल्य होता है जो एक निश्चित समय में बाजार में प्रचलित होता है । यह बाजार अवधि वस्तु की मांग एवं पूर्ति की दशाओं से निर्धारित होता है ।
2. **संतुलन -** बाजार मूल्य का संतुलन अस्थायी घटनाओं का परिणाम होता है । इसके विपरीत सामान्य मूल्य मांग एवं पूर्ति के स्थायी संतुलन का परिणाम होता है ।
3. **मांग एवं पूर्ति का प्रभाव.** : बाजार मूल्य पर मांग का अधिक प्रभाव बोता है क्योंकि समय कम होता है तथा पूर्ति को मांग के अनुसार न तो बढ़ाया जा सकता है न तो घटाया जा सकता है । सामान्य मूल्य पर पूर्ति का अधिक प्रभाव पड़ता है क्योंकि समय इतना लम्बा होता कि पूर्ति को मांग के अनुसार घटाया- बढ़ाया जा सकता है ।
4. **परिवर्तन :** बाजार मूल्यों में शीघ्र परिवर्तन होने की सम्भावना होती है परन्तु सामान्य मूल्य दी हुई परिस्थितियों में स्थिर रहता है । बाजार मूल्य सामान्य मूल्य के ऊपर नीचे घूमता रहता है और उसके बराबर होने की प्रवृत्ति पायी जाती है । रेखाचित्र 15 में OX के समानांतर P से प्रारम्भ होने वाली रेखा सामान्य मूल्य को प्रदर्शित करता है।

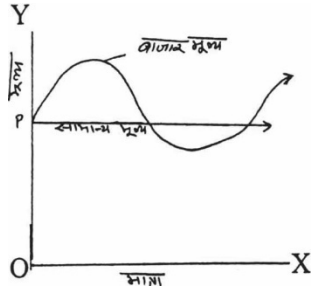

रेखाचित्र 15

MA वक्र बाजार मूल्य को दर्शाता है । बाजार मूल्य सामान्य मूल्य के ऊपर नीचे घूमता है ।

5. **वास्तविक तथा संभावित मूल्य :** बाजार मूल्य किसी निश्चित समय पर वास्तव में प्रचलित मूल्य होता है । सामान्य मूल्य वस्तु का वह मूल्य होता है जो दीर्घकाल में प्रचलित होने की सम्भावना रहती है । अत: बाजार मूल्य वास्तविक मूल्य तथा सामान्य मूल्य संभावित को प्रदर्शित करता है ।

6. **वस्तुओं के प्रकार :** बाजार मूल्य सभी वस्तुओं का होता है चाहे वे वस्तुएँ दोबारा नहीं उत्पादित की जा सकें । जबकि सामान्य मूल्य उन्हीं वस्तुओं का होता है । जो दोबारा उत्पादित की जा सकती है या बनायी जा सकती है ।
7. **लाभ और हानियाँ :** बाजार मूल्य उत्पादन लागत से अधिक या कम हो सकता है क्योंकि इस पर मांग तथा पूर्ति की शक्तियाँ अधिक प्रभाव डालती हैं । इसलिये बाजार मूल्य पर असामान्य लाभ या हानि भी हो सकती है । परन्तु सामान्य मूल्य सदैव उत्पादन लागत के बराबर होता है क्योंकि इसके निर्धारण में पूर्ति की शक्तियों का प्रभाव अधिक होता है अत: इसमें सामान्य लाभ ही प्राप्त होता है ।

5.8 सारांश

मूल्य विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि बाजार में वस्तु का मूल्य न तो केवल उत्पादन लागत से निर्धारित होता है और न केवल वस्तु की सीमान्त उपयोगिता से निर्धारित होता है, बल्कि यह तो इन दोनों की सापेक्षिक शक्तियों के द्वारा निर्धारित होना है । मूल्य निर्धारण के सामान्य सिद्धान्त के अनुसार वस्तु का मूल्य उस बिन्दु पर निर्धारित होता है, जहाँ वस्तु की मांग एवं पूर्ति दोनों बराबर हो जाते हैं इस मूल्य को साम्य मूल्य कहा जाता है । मांग एवं पूर्ति में होने वाले परिवर्तन साम्य मूल्य पर प्रभाव डालते हैं । वस्तु की मांग में परितर्वन उपभोक्ता की आय, रूचि, अन्य वस्तुओं के मूल्य समय आदि में परिवर्तन के कारण होते हैं । इसी प्रकार पूर्ति में परिवर्तन उत्पादन लागतों में परिवर्तन, नये अविष्कार, कच्चे माल के नये स्रोतों की खोज, उत्पादकों के दृष्टिकोण में परिवर्तन आदि के कारण होते हैं । मांग एवं पूर्ति की दशाओं में होने वाले परिवर्तन साम्य मूल्य में परिवर्तन लाते हैं । मूल्य निर्धारण में समय तत्व भी अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है । वस्तु की मांग में वृद्धि होने पर पूर्ति को तत्काल बढ़ाना सम्भव नहीं होता है क्योंकि पूर्ति उत्पादन तंत्र पर निर्भर करती है अत: समय तत्व का भी मूल्य निर्धारण विशेष पर प्रभाव पड़ता है ।

5.9 शब्दावली

1. **साम्य मूल्य -** जिस मूल्य पर वस्तु मांग एवं पूर्ति दोनों बराबर हो उसे साम्य मूल्य कहा जाता है ।
2. **माँग -** एक निश्चित मूल्य व एक निश्चित समयावधि में किसी वस्तु की माँगी गई मात्रा को उस वस्तु की माँग कहा जाता है ।
3. **पूर्ति -** एक निश्चित मूल्य व एक निश्चित समयावधि में किसी वस्तु की विक्रय योग्य मात्रा उस वस्तु की पूर्ति कही जाती है ।
4. **बाजार मूल्य-** किसी वस्तु के अति अल्पकाल में निर्धारित मूल्य को बाजार मूल्य कहा जाता है ।
5. **सामान्य मूल्य -** किसी वस्तु के दीर्घकाल में निर्धारित मूल्य को सामान्य मूल्य कहा जाता है ।

5.10 अभ्यास प्रश्न

अति लघुत्तरात्मक प्रश्न

प्रश्न 1. साम्य मूल्य का क्या आशय है ?

प्रश्न 2. अति अल्पकाल किसे कहते हैं ?

प्रश्न 3. नाशवान वस्तुओं से आप क्या समझते हैं ?

लघुत्तरात्मक प्रश्न

प्रश्न 4. मांग अनुसूची को समझाइये ।

प्रश्न 5. पूर्ति अनुसूची को समझाइये ।

निबन्धात्मक प्रश्न

प्रश्न 6. मूल्य निर्धारण के सामान्य सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए ।

5.11 सन्दर्भ गन्ध

1. आधुनिक व्यवसायिक अर्थशास्त्र- जैन, खन्ना, तिवारी
2. आर्थिक विश्लेषण - डी.एम.डी. अग्रवाल, डी.गोपालसिंह
3. उच्चतर आर्थिक सिद्धान्त - एच.एल. आहूजा

इकाई-6 विनियोग विश्लेषण

इकाई की रूपरेखा -

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना ।

6.2 अर्थ एवं परिभाषा

6.3 प्रकार

6.4 विनियोग के निर्धारक तत्व

6.5 विनियोग प्रेरणा को बढ़ाने के उपाय

6.6 बचत एवं विनियोग में सम्बन्ध

(अ) बचत एवं विनियोग के मध्य लेखांकन समानता

(ब) बचत एवं विनियोग के मध्य तुलनात्मक समानता

6.7 सारांश

6.8 शब्दावली

6.9 अभ्यास प्रश्न

6.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

6.0 उद्देश्य

कीन्स के आय तथा रोजगार सिद्धान्त में विनियोग फलन एक महत्वपूर्ण घटक है । इस पाठ द्वारा छात्र विनियोग विश्लेषण के बारे में विस्तार से अध्ययन कर पाएगें

6.1 प्रस्तावना

किसी भी राष्ट्र के सकल राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि, रोजगार के अवसरों में वृद्धि, सेवाओं तथा सुविधाओं का विस्तार एवं वहाँ के निवासियों के जीवनस्तर को ऊँचा उठाने में विनियोग की महत्वपूर्ण भूमिका होती है । पूँजी वस्तु उद्योगों में किया गया विनियोग अन्य वस्तुओं के उत्पादक उद्योगों में सहायक होता है तथा उपभोक्ता उद्योगों में किया गया विनियोग जीवन स्तर को सुधारने में सहायक होता है । विनियोग में वृद्धि से उत्पादन बढ़ता है, रोजगार में वृद्धि होती है तथा प्रति व्यक्ति आय बढ़ती है । इस प्रकार कहा जाता है कि विनियोग में वृद्धि का गुणक प्रभाव होता है । अल्पकाल में विनियोग जितना अधिक होता है अर्थव्यवस्था में उतने अधिक उत्पादन एवं रोजगार के अवसर उत्पन्न होते हैं ।

6.2 अर्थ एवं परिभाषा

सामान्य अर्थ के अनुसार विनियोग शब्द का अर्थ स्कन्ध बाजार से अंशों, प्रतिभूतियों तथा ऋणपत्रों का खरीदना होता है परन्तु अर्थशास्त्र में इस प्रकार के सौदों को केवल वर्तमान सम्पत्तियों का हस्तान्तरण अथवा वित्तीय विनियोग कहा जाता है। यह

वास्तविक विनियोग नहीं होता है । कीन्स के आय तथा रोजगार सिद्धान्त में विनियोग शब्द की व्याख्या की गयी है । यहाँ विनियोग का तात्पर्य वास्तविक विनियोग से होता है। वास्तविक विनियोग का अर्थ है पूँजी सम्पत्तियों में वृद्धि करना । नवीन पूँजी सम्पत्तियों जैसे नये कारखानों, उद्योगों, भवनों, मशीनों, रेले ट्रैक, सड़कों, हवाई अडों का निर्माण, आधार भूत ढांचे का विकास करना विनियोग कहलाता है । व्यवसायिक फर्मो के स्कन्ध में वृद्धि, विनिमय भण्डारों में शुद्ध वृद्धि, नयी कम्पनियों के अंशों तथा प्रतिभूतियों को खरीदना भी विनियोग कहलाता है ।

जे.एस. हैन्सन के अनुसार, " आर्थिक सिद्धान्त में विनियोग का तात्पर्य पूँजीगत सामान के वास्तविक निर्माण से होता है । इस प्रकार नयी सड़क अथवा नवीन कारखाना भवनों का निर्माण वास्तविक पूँजी विनियोग के उदाहरण हैं ।"

श्रीमती जान राबिन्सन के अनुसार, " विनियोग का अर्थ है पूँजी में वृद्धि, जो उस समय होती है जब कोई नया मकान बनाया जाये अथवा कोई नया कारखाना लगाया जाये । विनियोग का अर्थ है वस्तुओं के विद्यमान स्कन्ध में वृद्धि करना । "

विनियोग विश्लेषण की सीमाएँ

(i) आय स्तर में वृद्धि से विनियोग में वृद्धि होती है तथा आय स्तर में कमी से विनियोग में कमी होती है ।

(ii) करों का अधिक भार विनियोग की मात्रा में कमी लाता है ।

(iii) वस्तुओं की मांग में कमी विनियोग की मात्रा में कमी करती है ।

(iv) ऊँची व्याज दरें भी विनियोग वृद्धि में बाधक होती है ।

(v) बचतों में कमी से विनियोग में कमी आती है ।

6.3 प्रकार

विनियोग कई प्रकार का हो सकता है । जिनमें से कुछ प्रमुख प्रकार निम्नलिखित हैं :

प्रेरित विनियोग : प्रेरित विनियोग वह विनियोग होता है जो आय में वृद्धि के साथ-साथ परिवर्तित होता रहता है । यह आय में वृद्धि होने पर बढ़ता है तथा आय में कमी होने पर कम हो जाता है । प्रेरित विनियोग का उद्देश्य लाभ कमाना होता है । गणितीय भाषा में इसे निम्न तरीके से व्यक्त किया जा सकता है :

$$I = f(Y)$$

यहाँ I प्रेरित विनियोग है, y आय है तथा f फलनात्मक सम्बन्ध को प्रकट करता है । प्रेरित विनियोग आय सापेक्ष होता है, आय में वृद्धि से इसमें वृद्धि होती है तथा आय के कम होने से इसमें कमी हो जाती है । प्रेरित विनियोग को निम्न रेखाचित्र A द्वारा दर्शाया गया है :

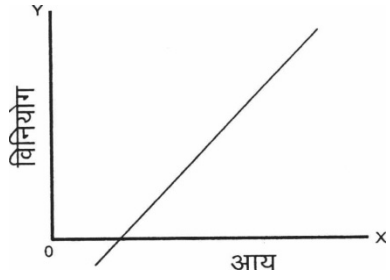

आय रेखाचित्र 1

रेखाचित्र में I प्रेरित विनियोग रेखा है जो बायें से दायें ऊपर को उठती हुई होती है और यह बताती है कि आय के स्तर में जैसे-जैसे वृद्धि होती जाती है वैसे ही विनियोग बढ़ता जाता है ।

2. **स्वायत विनियोग :** स्वायत विनियोग वह विनियोग होता है जो आय के स्तर से स्वतन्त्र रहता है । यह विनियोग आय के स्तर के अतिरिक्त अन्य बाह्य तत्वों जैसे नवप्रर्वतन, अविष्कार अनुसंधान, युद्ध, क्रान्ति, मौसम परिवर्तन, जनसंख्या में परिवर्तन सामाजिक तथा कानूनी संस्थाओं आदि द्वारा प्रभावित होता है । स्वायत विनियोग आर्थिक नियोजन तथा विकास कार्यो तथा युद्ध सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करने हेतु किया जाता है । निजी उद्यमियों द्वारा नवप्रवर्तन अथवा अविष्कार अथवा तकनीकी परिवर्तन होने की स्थिति में स्वायत विनियोग किया जाता है । स्वायत विनियोग सरकार द्वारा, ही किया जाता है । इसलिये इसे सार्वजनिक विनियोग भी कहते हैं । स्वायत विनियोग को रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट किया गया है :-

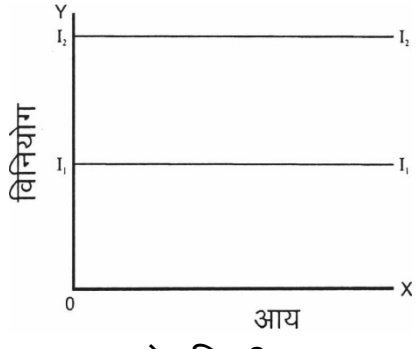

रेखाचित्र 2

रेखाचित्र 2 में OX अक्ष पर आय तथा OY अक्ष पर विनियोग को दर्शाया है । रेखाचित्र I,I, विनियोग वक्र के विभिन्न आय स्तरों पर विनियोग की मात्रा OI_1 समान रहती है । जब विनियोग OI_2, हो जाता है तो प्रत्येक आय स्तर पर विनियोग की मात्रा OI_2, समान रहती है।

3. **निजी विनियोग :** निजी क्षेत्र द्वारा किया जाने वाला विनियोग निजी विनियोग कहलाता है । अधिकांश निजी विनियोग प्रेरित विनियोग होता है जो लाभ प्रत्याशाओं से प्रभावित होता है । वह पूँजी की सीमान्त उत्पादकता तथा ब्याज दर से प्रभावित होता है । ब्याज दर की तुलना में पूँजी की सीमान्त उत्पादकता अधिक होने पर विनियोग

बढ़ता है तथा जब पूँजी की सीमान्त उत्पादकता ब्याज दर के बराबर होती है तब यह अधिकतम होता है । पूँजी की सीमान्त उत्पादकता जब ब्याज दर से भी कम हो जाती है तो निजी विनियोग बन्द हो जाता है ।

4. **सार्वजनिक विनियोग :** विभिन्न सार्वजनिक सत्ताओं द्वारा किया जाने वाला विनियोग सार्वजनिक विनियोग कहलाता है । भारत में केन्द्र सरकार, राज्य सरकार तथा स्थानीय निकाय द्वारा किया जाने वाला विनियोग सार्वजनिक विनियोग होता है । यह विनियोग रेलों, वायुयानों, संचार साधनो, चिकित्सालयों, शिक्षण संस्थाओं नहरों, सड़कों, हवाई अड्डों भवनों पर किया जा सकता है । सार्वजनिक विनियोग का आधार सार्वजनिक नीति होती है । सार्वजनिक विनियोग पर देश की आर्थिक स्थिति, विकास की आवश्यकता, जनसंख्या आदि तत्वों का प्रभाव पड़ता है । सार्वजनिक विनियोग का एक बड़ा भाग स्वायत विनियोग तथा शेष भाग प्रेरित विनियोग होता है ।
5. **नियोजित विनियोग तथा अनियोजित विनियोग :** लाभ कमाने के उद्देश्य से योजनाबद्ध रूप से जो विनियोग किया जाता है, नियोजित विनियोग कहलाता है । वह विनियोग जो आर्थिक परिवर्तनों के कारण अनियोजित ढंग से होता है तथा जिसे करने की इच्छा नहीं होती है परन्तु हो जाता है, अनियोजित विनियोग कहलाता है ।
6. **सकल एवं शुद्ध विनियोग :** किसी देश में सब प्रकार की पूँजी सम्पत्तियों किया गया विनियोग सकल विनियोग कहलाता है । सकल विनियोग में से मूल्य हास तथा अप्रचलन को घटा कर शुद्ध विनियोग की गणना की जाती है । अर्थशास्त्रियों की मान्यता यह है कि बचत एवं विनियोग में समानता पायी जाती है परन्तु सभी अर्थशास्त्री इस मत पर एक विचार नहीं रखते हैं कि यह समानता किस प्रकार होती है। इस सम्बन्ध में प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की विचारधारा तथा कीन्स वादी अर्थशास्त्रियोंकी विचारधारा का अध्ययन करना आवश्यक है ।

6.4 विनियोग प्रेरणा के निर्धारक तत्व

निवेश में वृद्धि करने की प्रेरणा को विनियोग प्रेरणा कहा जाता है । यह दो तत्वों पर निर्भर करती है :- (1) पूँजी की सीमान्त उत्पादकता (2) व्याज दर ।

(1) पूँजी की सीमान्त उत्पादकता : पूँजी की सीमान्त उत्पादकता का तात्पर्य पूँजी परिसम्पत्ति की प्रत्याशित लाभदायकता से होता है । विनियोग से प्राप्त होने वाली अनुमानित आय पूँजी की सीमान्त उत्पादकता कहलाती है । यह दो तत्वों पर निर्भर करती है । (i) पूँजी परिसम्पत्ति की भावी आय (ii) पूँजी परिसम्पत्ति की पूर्ति कीमत या लागत । पूँजी की सीमान्त उत्पादकता इन दोनों तत्वों का अनुपात होती है । पूँजी परिसम्पत्ति की भावी आय तथा पूँजी परिसम्पत्ति की पूर्ति कीमत को नीचे समझाया गया है ।

(i) **पूँजी परिसम्पत्ति की भावी आय :** किसी पूँजी परिसम्पत्ति की भावी आय का अर्थ पूँजी परिसम्पत्ति की उस कुल शुद्ध आय से है जिसे वह अपने जीवन काल में दे सकती है । पूँजी परिसम्पत्ति की शुद्ध आय को ज्ञात करते समय वर्तमान लागतों को

घटा दिया जाता है । नई पूँजी परिसम्पत्ति के सम्पूर्ण जीवनकाल में विभिन्न वर्षो में प्राप्त होने वाली आय प्राप्तियों का योग करके भावी आय ज्ञात की जा सकती है ।

(ii) **पूँजी परिसम्पत्ति की पूर्ति कीमत :** पूँजी परिसम्पत्ति की पूर्ति कीमत का आशय उसकी लागत से होता है । पूँजी परिसम्पत्ति को खरीदते समय जो राशि चुकायी जाती है वह पूँजी परिसम्पत्ति की लागत कहलाती है । पूँजी परिसम्पत्ति की पूर्ति कीमत को प्रतिस्थापक लागत भी कहते हैं ।

पूँजी परिसम्पत्ति की भावी आय एवं पूर्ति कीमत की धारणाओं को समझने के बाद पूँजी की सीमान्त उत्पादकता की धारणा को हम आसानी से समझ सकते हैं ।

पूँजी की सीमान्त उत्पादकता बट्टे की वह दर होती है जिस पर पूँजी परिसम्पत्ति की भावी आय की कटौती की जाये, तो वह पूँजी परिसम्पत्ति की पूर्ति कीमत के बराबर हो जाती है । इसकी गणना निम्नलिखित सूत्र से की जा सकती है :-

पूँजी की = भावी आय - बट्टा प

$$Cr = \frac{Q_1}{(1+r)} \quad \frac{Q_2}{(1+r)^2} \quad \frac{Q_3}{(1+r)^3} \quad \text{---------} \quad \frac{Q_n}{(1+r)^n}$$

Cr =पूँजी परिसम्पत्ति की पूर्ति कीमत

Q = पूँजी परि सम्पत्ति से प्रति वर्ष प्राप्त होने वाली आय

r = पूँजी की सीमान्त उत्पादकता

पूँजी की सामान्य सीमान्त कार्यकुशलता :

पूँजी की सीमान्त उत्पादकता की तुलना में एवं पूँजी की सामान्य सीमान्त कार्यकुशलता देश में उत्पादन रोजगार निर्धारण अधिक महत्वपूर्ण हैं । किसी देश में समय विशेष पर पूँजी की सामान्य सीमान्त कार्यकुशलता उस समय की सर्वाधिक लाभकारी दशा, होती है । उसे ही पूँजी की सामान्य सीमान्त कुशलता कहते हैं ।

विनियोग माँग सूची एवं वक्र : जब किसी विशेष पूँजी सम्पत्ति में अधिक किया जाता है तो प्रत्येक विनियोग वृद्धि के साथ उस पूँजी परिसम्पत्ति की सीमान्त कार्यकुशलता निरन्तर घटती चली जाती है । किसी विशेष पूँजी परिसम्पत्ति की सीमान्त कुशलता अनुसूची तैयार की जा सकती है । जो यह दर्शाती है ज्यों-ज्यों पूँजी सम्पत्ति में विनियोग बढ़ता है सीमान्त कार्यकुशलता घटती जाती है । घटती सीमान्त कार्यकुशलता से एक अनुसूची तैयार की जा सकती है जिसे विनियोग अनुसूची कहा जाता है । एक काल्पनिक माँग अनुसूची नीचे तालिका में दर्शायी गयी है ।

पूँजी की घटती सीमान्त कार्यकुशलता

विनियोग	पूँजी की सीमान्त कार्यकुशलता
2000	10
4000	8
6000	6

8000	4
10,000	2
12,000	0

किसी भी विशेष पूँजी परिसम्पत्ति में विनियोग बढ़ाने पर सम्पत्ति की सीमान्त कार्यकुशलता घटने के दो कारण होते हैं - प्रथम, जब किसी पूँजी परिसम्पत्ति में अधिक विनियोग किया, जाता है तो उसके द्वारा उत्पादित वस्तुओं की बाजार पूर्ति बढ़ जाती है तथा वस्तु की पूर्ति बढ़ जाने से उसका बाजार मूल्य घट जाता है । परिणाम पूँजी परिसम्पत्ति से प्राप्त होने वाली भावी सम्भावित आय कम हो जाती है । **f}**तीय किसी विशेष पूँजी परिसम्पत्ति में किया जाने वाला अधिक विनियोग उस पूँजी परिसम्पत्ति की माँग में वृद्धि कर देता है और मँहगी हो जाती है तथा पूर्ति कीमत बढ़ जाती है ।

जब किसी पूँजी संपत्ति में किये गये विनियोग तथा उसकी सीमान्त कार्यकुशलता को रेखाचित्र पर व्यक्त किया जाता है तो हमें विनियोग माँग वक्र प्राप्त होता है । रेखाचित्र में तालिका के आधार पर प्राप्त विनियोग माँग वक्र दिखाया गया है । रेखाचित्र 3 में MM वक्र पूँजी की सीमान्त कार्यकुशलता को व्यक्त करता है । यह वक्र बायें से दायें नीचे की ओर गिरता हुआ होता है । इससे यह स्पष्ट होता है कि किसी पूँजी परिसम्पत्ति में विनियोग बढ़ने पर उसकी सीमान्त कार्यकुशलता घटती जाती है । उदाहरण के लिए 4000 रूपये के विनियोग पर सीमान्त कुशलता 8 प्रतिशत है जबकि 8000 रुपये के विनियोग पर यह 4 प्रतिशत है ।

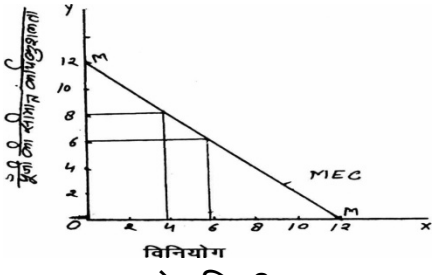

रेखाचित्र-3

2. ब्याज दर : विनियोग प्रेरणा को प्रभावित करने वाला दूसरा तत्व व्याज दर है । कीन्स के अनुसार व्याज किसी विशेष अवधि के लिऐ तरलता के त्याग का पुरस्कार होता है । तरलता की मांग तथा पूर्ति द्वारा व्याज का निर्धारण होता है । तरलता की माँग तीन उद्देश्यों को पूरा करने हेतु की जाती है । ये उद्देश्य है :-

(i) सौदा उद्देश्य

(ii) दूरदर्शिता उद्देश्य

(iii) सट्टा उद्देश्य

प्रथम दो उद्देश्यों के लिऐ तरलता की माँग आय के स्तर पर निर्भर करती है । जबकि सट्टा उद्देश्य के लिए तरलता की माँग व्याज दर से प्रभावित होती है । मुद्रा की पूर्ति मौद्रिक अधिकरण द्वारा की जाती है । मौद्रिक पूर्ति अल्पकाल में स्थिर रहती है ।

जहाँ तरलता की माँग एवं पूर्ति दोनों बराबर होते हैं वहाँ साम्य व्याज दर का निर्धारण हो जाता है । मुद्रा की पूर्ति स्थिर रहने पर तरलता की मांग बढ़ने पर ब्याज दर बढ़ जाती है तथा तरलता की माँग घटने पर ब्याज दर भी घट जाती है। तरलता की माँग स्थिर होने तथा मुद्रा पूर्ति के बढ़ने से ब्याज दर घट जाती है तथा मुद्रा पूर्ति घटने पर ब्याज दर बढ़ जाती है ।

ब्याज दर ऊँची होने पर विनियोग कम होता है तथा व्याज दर नीची होने पर विनियोग अधिक होता है । ब्याज दर की तुलना में पूँजी की सीमान्त उत्पादकता विनियोग को अधिक प्रभावित करती है । अल्पकाल में व्याज दर में अधिक परिवर्तनों का न होना है । पूँजी की उत्पादकता बहुत ही अस्थिर होती है । इसमें अल्पकाल में बहुत अधिक परिवर्तन होते हैं । इससे यह स्पष्ट होता है कि अल्पकाल में पूँजी की सीमान्त उत्पादकता की विनियोग की मात्रा निर्धारित करने में अधिक महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

साम्य विनियोग स्तर का निर्धारण

विनियोग पूँजी की सीमान्त कार्य कुशलता तथा ब्याज की दर पर निर्भर करता है । जहाँ पूँजी की सीमान्त कार्यकुशलता ब्याज दर के बराबर होती है वही साम्य विनियोग स्तर का निर्धारण होता है । रेखाचित्र 4 में OX अक्ष पर विनियोग तथा OY अक्ष पर पूँजी की सीमान्त कार्यकुशलता व ब्याज दर को दिखाया गया है । रेखाचित्र में पूँजी की सीमान्त कार्यकुशलता दी हुई होने पर यदि यह मान लिया जाये कि बाजार में व्याज दर OS है, तो साम्य विनियोग की मात्रा OM होगी

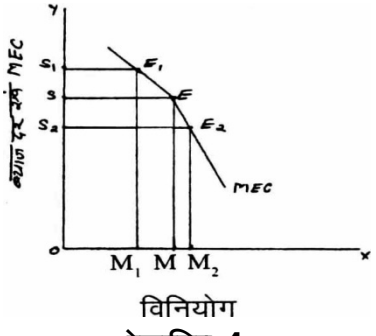

रेखाचित्र 4

यदि ब्याज दर घट कर OS_2 हो जाती है तो विनियोग की मात्रा बढ़कर OM_2 हो जायेगी । यदि ब्याज दर बढ़कर OS_1 हो जाती है तो विनियोग की मात्रा घटकर OM_1 हो जाती है । अत: उपर्युक्त रेखाचित्र 4 से यह स्पष्ट होता है कि पूँजी की सीमान्त कार्यकुशलता वक्र ही ब्याज की विभिन्न दरों पर विनियोग की माँग अथवा प्रेरणा को दर्शाता है ।

पूँजी की सीमान्त कार्यकुशलता की लोच की धारणा :

पूँजी की सीमान्त कार्यकुशलता वक्र ब्याज से प्रभावित होता है । यदि पूँजी की सीमान्त कार्यकुशलता वक्र अधिक लोचदार होता है तो ब्याज में थोड़े से परिवर्तन से विनियोग में बहुत अधिक परिवर्तन होते हैं जबकि इस वक्र के बेलोचदार होने पर व्याज

में अधिक परिवर्तन होने पर वी विनियोग में बहुत कम परिवर्तन होते हैं । इसे रेखाचित्र से स्पष्ट किया जा सकता है । रेखाचित्र 5 (अ) पूँजी का सीमान्त कार्यकुशलता वक्र लोचदार है जबकि रेखाचित्र 5 (ब) में पूँजी का सीमान्त कार्यकुशलता वक्र बेलोचदार है । ब्याज दर OS से घटकर OS_1 होने पर लोचदार सीमान्त कार्यकुशलता वक्र की स्थिति में विनियोग में अधिक वृद्धि होती है जबकि बेलोचदार सीमान्त कार्यकुशलता वक्र की स्थिति में विनियोग में बहुत कम वृद्धि होती है ।

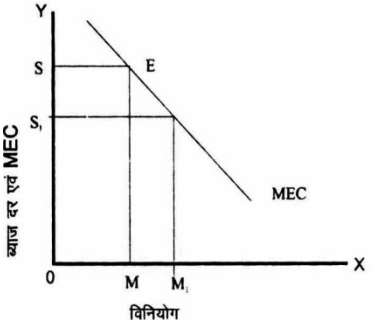

रेखाचित्र 5 (अ)

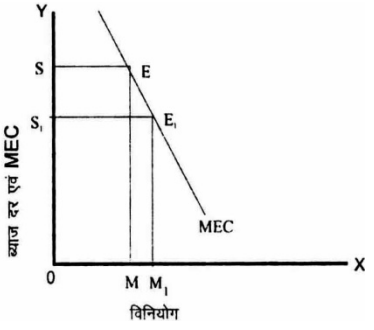

रेखाचित्र 5 (ब)

पूँजी की सीमान्त कार्यकुशलता वक्र में बदलाव :

पूँजी की सीमान्त कार्यकुशलता वक्र दो तत्वों पर निर्भर करता है- प्रथम पूँजी सम्पत्ति की पूर्ति कीमत तथा दितीय, भावी आय सम्भावना । यदि उद्यमियों की आशसाएँ आशावादी होने के कारण बढ़ जाती हैं तो पूँजी की सीमान्त कार्य कुशलता बढ़ जाती है और वे अधिक विनियोग के लिऐ तैयार हो जाते हैं । इसके विपरीत उद्यमियों की लाभ कमाने की आशसाएँ किन्हीं कारणों से कम हो जाती हैं तो पूँजी की सीमान्त कार्यकुशलता घट जाती है और इसके परिणाम स्वरूप विनियोग की माँग घट जाती है । इसे रेखाचित्र 6 में दिखाया गया है ।

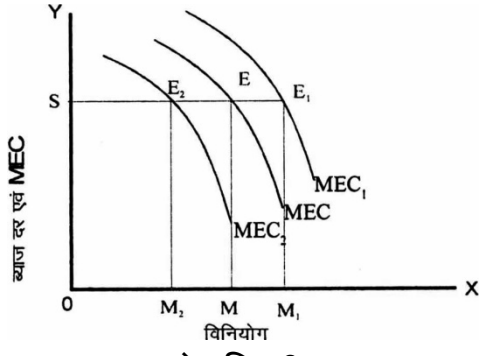

रेखाचित्र 6

रेखाचित्र 6 में MEC पूंजी का सीमान्त कार्यकुशलता वक्र है । OS व्याज दर पर OM साम्य विनियोग मात्रा है । युद्ध जनित परिस्थितियों या अन्य कारणों से भावी लाभ की सम्भावनाएँ बढ़ जाती है ऐसी स्थिति में पूँजी सीमान्त कार्यकुशलता वक्र ऊपर की ओर खिसक जायेगा । पूँजी के सीमान्त कार्यकुशलता वक्र के दायीं ओर खिसक जाने का अर्थ है अब दी हुई ब्याज दर पर अधिक विनियोग किया जायेगा । रेखाचित्र

में MEC वक्र दायी ओर खिसक कर MEC_1 हो जाता है तो OS ब्याज दर पर अब OM_1 विनियोग किया जायेगा । लाभ की सम्भावनाएँ घटने पर पूँजी का सीमान्त कार्यकुशलता वक्र बायीं ओर नीचे को खिसक कर MEC_2 हो जायेगा । अब OS ब्याज दर पर OM_2 विनियोग किया जायेगा ।

विनियोग प्रेरणा को प्रभावित करने वाले अन्य तत्व : -

(i) **पूँजी वस्तुओं का विद्यमान स्कन्ध :** अर्थव्यवस्था में विनियोग की मात्रा पूँजी वस्तुओं के स्कन्ध की मात्रा से प्रभावित होती है । यदि अर्थव्यवस्था में पूँजी वस्तुएँ अधिक मात्रा में है तो वे सम्भावित विनियोजकों को नये विनियोग के लिए हतोत्साहित करती हैं । इस के पीछे तर्क यह है कि वर्तमान पूँजी सम्पत्तियों में ही अतिरिक्त उत्पादन क्षमता विद्यमान है और उसका पूरा प्रयोग नहीं होता है । यदि वर्तमान में उपलब्ध पूँजी सम्पत्तियों का पूरा-पूरा उपयोग हो रहा है, तो वस्तुओं की माँग में थोड़ी सी वृद्धि से ही पूँजीगत वस्तुओं की माँग बढ़ जायेगी और विनियोग में भी वृद्धि होगी ।

(ii) **उपभोक्ता वस्तुओं की माँग :** उपभोक्ता वस्तुओं की वर्तमान तथा भावी माँग विनियोग को अत्याधिक प्रभावित करती है । यदि वर्तमान में उपभोक्ता वस्तुओं की मांग तेजी से बढ़ती हुई होती है तो विनियोगों को प्रोत्साहन मिलता है तथा इनसे सम्बन्धित पूँजीगत वस्तुओं के उत्पादन में भी विनियोग बढ़ता है ।

(iii) **तरल सम्पत्ति :** विनियोक्ताओं के पास तरल सम्पत्ति की मात्रा भी विनियोग प्रेरणा को प्रभावित करती है । विनियोक्ताओ के पास तरल सम्पत्ति अधिक होने पर अधिक विनियोग होता है इसके विपरीत विनियोक्ताओ के पास तरल सम्पत्ति कम होने पर कम विनियोग होता है ।

(iv) **भावी सम्भावनाएँ :** यदि विनियोग से प्राप्त होने वाली भावी आयों या लाभों के प्रति विनियोक्ता अधिक आशावान होते हैं तो अर्थव्यवस्था में वे अधिक विनियोग करते हैं । भावी लाभ या आय की आशा कम होने पर विनियोग की दर गिर जाती है ।

(v) **आविष्कार एवं नवप्रर्वतन :** नये आविष्कार एवं नवप्रर्वतनों से उत्पादन विधियों में सुधार के कारण वस्तुओं की उत्पादन लागतों में कमी होने लगती है । इससे पूंजी की सीमान्त उत्पादकता बढ़ जाती है और विनियोग प्रेरणा बढ़ने लगती है । आविष्कार एवं नवप्रर्वतन स्वायत विनियोगों में वृद्धि करने में सहायक होते हैं ।

(vi) **नई वस्तुएँ :** नई वस्तुओं की बिक्री से सम्भावित आगम लागत की तुलना में अधिक होता है और लाभ की सम्भावनाएँ ऊँची होती है ।

(vii) **जनसंख्या वृद्धि :** जनसंख्या वृद्धि भी सभी वस्तुओं की मांग के बढ़ाने में सहायक होती है । वस्तुओं की मांग बढ़ने से विनियोग में भी वृद्धि हो जाती है क्योंकि नये उपभोक्ता उद्योग स्थापित होने लगते हैं । यदि जनसंख्या में कमी आती है तो विनियोग प्रेरणा में भी कमी आती है ।

(viii) **सरकारी नीति :** सरकार की मौद्रिक एवं कर नीति भी विनियोग प्रेरणा को प्रभावित करती है । सस्ती साख व मौद्रिक नीति विनियोग वृद्धि में सहायक होती है जबकि ऊँचे निगम कर विनियोग में कमी लाते है । सरकार की विनियोग नीति स्वायत विनियोग

को प्रभावित करती है । सरकार यदि अर्थव्यवस्था में विनियोग को बढ़ाती है तो देश में विनियोग का स्तर ऊँचा होता है ।

(ix) **आय स्तर :** जब किसी देश में आय स्तर बढ़ता है तब उत्पादन साधनों का मूल्य बढ़ जाता है और उनकी आय में वृद्धि हो जाती है । आय के बढ़ने से वस्तुओं की माँग अधिक होती जो विनियोग प्रेरणा तथा लाभ संभावना में वृद्धि करती है ।

(x) **राजनीतिक परिस्थितियाँ :** देश में राजनैतिक परिस्थितियाँ विनियोग प्रेरणा को प्रभावित करती है यदि देश में राजनैतिक अस्थिरता होती है तो विनियोग पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है । इसके विपरीत आर्थिक स्थिरता उद्यमियों का उद्योग एवं व्यापार में विश्वास बढ़ाती है तथा वे निश्चितता के साथ अपनी आर्थिक योजनाओं को लागू कर सकते हैं । इससे देश में विनियोग प्रेरणा में वृद्धि हो जाती है ।

6.5 विनियोग प्रेरणा को बढ़ाने के उपाय

सरकारी विनियोग स्वायत विनियोग होता है उस पर पूँजी की सीमान्त कार्यकुशलता का अधिक प्रभाव नहीं पड़ता है । केवल निजी विनियोग को प्रोत्साहित करना आवश्यक होता है । निजी विनियोग को प्रोत्साहित करने के लिए निम्न उपाय काम में लाये जा सकते हैं :-

(i) निगम करों में कमी : निजी विनियोग में वृद्धि हेतु सरकार द्वारा निजी क्षेत्र के निगमों को निगम करों के भार से मुक्त किया जाना चाहिए । करों में कमी विनियोग प्रेरणा में सहायक होती है ।

(ii) ब्याज दरों में कमी : पूँजी की सीमान्त कार्यकुशलता दी हुई तथा स्थिर होने पर ब्याज दरों में कमी विनियोग वृद्धि करती है । ब्याज दर में कमी से उन क्षेत्रों में भी विनियोग होने लगता है जहाँ अभी तक विनियोग कम थे इन क्षेत्रों में पूँजी की सीमान्त कार्यकुशलता ब्याज दर से अधिक होने लगती है ।

(iii) सार्वजनिक कार्यो में वृद्धि : मंदी के समय देश में निजी विनियोग को प्रोत्साहित करने के लिऐ बड़े पैमाने पर सार्वजनिक कार्यो को शुरू किया जाता है । जिससे इन कार्यो में लगे लोगों की क्रय शक्ति बढ़ती है उपभोक्ता वस्तुओं की माँग बढ़ जाती है, उपभोक्ता उद्योगों में विनियोग बढ़ने लगता है जिसके कारण गुणक तथा त्वरक प्रभावों से अर्थ-व्यवस्था में उत्पादन का कम तेजी से चलता है ।

(iv) मूल्य समर्थन नीति : उत्पादकों द्वारा उत्पन्न वस्तुओं के मूल्य नीचे होने से उत्पादकों के लाभ कम होने के कारण नये विनियोग को प्रोत्साहन नहीं मिलता है । सरकार मूल्य समर्थन नीति के द्वारा मूल्यों को नीचे गिरने से रोक सकती है ।।

(v) अनुसंधान को प्रोत्साहन : यदि सरकार द्वारा देश में अनुसंधान को प्रोत्साहित किया जाता है तो उद्योगों में भावी लाभ की संभावनाएँ बढ़ जाती हैं । इससे देश में नये विनियोग के अवसर बढ़ने लगते हैं ।

(vi) एकाधिकारी प्रवृतियों पर रोक : बड़ी फर्मो के एकाधिकार को समाप्त करने से देश में छोटे-छोटे उद्यमियों को निवेश के अवसर प्राप्त होने लगते हैं ।

6.8 बचत एवं विनियोग में सम्बन्ध

आय का वह भाग जो उपभोग कार्यो पर व्यय नहीं किया जाता है बचत कहलाता है । आय तथा उपभोग का अन्तर बचत है । एक व्यक्ति की आय 8000 रू0 है 4000 रूपये उपभोग पर, 2000 रू0 मकान मरम्मत पर व्यय करता है तो उसकी बचत 8000-6000=2000 रूपये होगी । गणितीय भाषा में इसे निम्न विधि से लिखा जाता है-

SY= Y-C

Saving = Income - Consumption

विनियोग का तात्पर्य देश की पूँजी सम्पत्तियों में वृद्धि करना है अर्थात् नये भवनों, कारखानों, मशीनों, रेलों, सड़कों आदि का निर्माण करना विनियोग कहलाता है । स्टॉक में वृद्धि, विदेशी, विनिमय भण्डारों, में वृद्धि तथा नयी कम्पनियों के अंशों या प्रतिभूतियों का क्रय भी विनियोग कहलाता है ।

बचत एवं विनियोग में समानता

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की यह मान्यता थी कि अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार एक सामान्य दशा होती है तथा पूर्ण रोजगार की स्थिति में बचत तथा विनियोग सदैव बराबर होते हैं । यदि किसी अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की स्थिति नहीं होती है तो इससे बचत एवं विनियोग में असमानता हो सकती है परन्तु यह स्थिति ब्याज दरों में परिवर्तन से शीघ्र समाप्त हो जाती है ।

कीन्स तथा कीन्सवादी अर्थशास्त्रियों के अनुसार, बचत एवं विनियोग के सम्बन्ध में दो विचार हैं । प्रथम - बचत तथा विनियोग के मध्य लेखांकन समानता होती है । दूसरा- बचत एवं विनियोग के मध्य फलनात्मक सम्बन्ध होता है ।

बचत एंव विनियोग की समानता एवं प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की विचारधारा :

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का मानना है कि अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की स्थिति में बचत एवं विनियोग दोनों सदैव बराबर होते हैं । इसके विपरीत, यदि किसी अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की अवस्था नहीं होती है तो वहाँ बचत एवं विनियोग में असमानता हो सकती है लेकिन यह असमानता की स्थिति ब्याज दरों में परिवर्तन से शीघ्र समाप्त हो जाती है । उदाहरण के लिए, यदि किसी समय विनियोग बचतों से अधिक होते हैं, तो इससे ब्याज दर में वृद्धि हो जाती है । ब्याज दर बढ़ने से विनियोग घटते हैं तथा बचतों में वृद्धि हो जाती है और यह प्रक्रिया उस समय तक चलती रहती है जब तक बचत एव विनियोग दोनों समान नहीं हो जाते हैं । यदि अर्थव्यवस्था में बचतें विनियोग से अधिक हो जाती है तो ब्याज दर में कमी होने लगती है जिससे विनियोगों में वृद्धि होती है और बचतों में कमी हो जाती है और यह प्रक्रिया उस समय तक चलती है जब तक बचत एवं विनियोग दोनो समान नहीं हो जाते हैं । यदि अर्थव्यवस्था में बचतें विनियोग से अधिक हो जाती है तो ब्याज दर में कमी होने लगती है जिससे विनियोग में वृद्धि होती है और बचतों में कमी हो जाती है और यह

प्रक्रिया उस समय तक चलती है जब तक बचत एवं विनियोग दोनों समान नहीं हो जाते हैं ।

प्रतिष्ठित विचारधारा की आलोचना :

कीन्स तथा कीन्सवादी अर्थशास्त्रियों ने निम्नलिखित आधारों पर बचत एवं विनियोग सम्बन्धी विचारधारा की आलोचना की है-

1. प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के अनुसार पूर्ण रोजगार की अवस्था अर्थव्यवस्था की सामान्य अवस्था होती है जबकि कीन्स के अनुसार अल्प रोजगार की स्थिति अर्थव्यवस्था की सामान्य अवस्था होती है अत: बचत एवं विनियोग अल्प रोजगार स्तर पर समान होते हैं ।
2. प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के अनुसार बचत एवं विनियोग के समानता ब्याज दर से स्थापित होती है जबकि कीन्सवादी अर्थशास्त्रियों के अनुसार बचत एवं विनियोग में समानता आय स्तर में परिवर्तनों के द्वारा स्थापित होती है ।

बचत एवं विनियोग की समानता पर कीन्सवादी अर्थशास्त्रियों के विचार :

कीन्स तथा कीन्सवादी अर्थशास्त्रियों द्वारा बचत एवं विनियोग की समानता यह है कि बचत एवं विनियोग के मध्य लेखांकन समानता होती है तथा किसी भी समय पर आय के सभी स्तरों पर वास्तविक बचत एवं विनियोग हमेशा समान होते हैं ।

दूसरे विचार के अनुसार बचत एवं विनियोग के मध्य फलनात्मक समानता पायी जाती है । इस विचार में यह माना जाता है कि बचत एवं विनियोग में समानता आय के सन्तुलन के स्तर पर होती है, अन्य स्थितियों में बचत एवं विनियोग में असमानता होती है ।

इस विचारधारा के अनुसार बचत एवं विनियोग को दो अर्थो में प्रयोग किया जाता है ये दो अर्थ निम्नलिखित हैं :-

1. **बचत एवं विनियोग का प्रथम अर्थ :** बचत एवं विनियोग का प्रथम अर्थ यहाँ वास्तविक बचत एव वास्तविक विनियोग से होता है । वास्तविक बचत का आशय किसी वर्ष अथवा समय की निश्चित अवधि में सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में वास्तविक रूप से हुई बचतों से होता है तथा वास्तविक विनियोग का तात्पर्य किसी वर्ष अथवा समय की निश्चित अवधि में सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में हुए वास्तविक विनियोग से होता है ।
2. **बचत एवं विनियोग का दूसरा अर्थ :** बचत एवं विनियोग का द्वितीय अर्थ यहाँ नियोजित अथवा प्रत्याशित अथवा पूर्वानुमानित बचत एवं विनियोग से होता है । बचत का आशय है कि किसी वर्ष अथवा निश्चित समयावधि में लोग कितनी बचत करना चाहते हैं । इस अर्थ में विनियोग से आशय है कि किसी वर्ष अथवा निश्चित अवधि में अर्थव्यवस्था में लोग कितना विनियोग करना चाहते हैं ।

(अ) बचत एवं विनियोग के मध्य लेखांकन समानता

कीन्सवादी अर्थशास्त्रियों का मानना है कि बचत एवं विनियोग के मध्य लेखांकन समानता होती है । इस अर्थ में बचतों का तात्पर्य वास्तविक बचतों से तथा विनियोग का तात्पर्य वास्तविक विनियोग से होता है । कीन्स ने यह सिद्ध किया है कि चाहे

बचत एवं विनियोग अलग-अलग व्यक्तियों द्वारा तथा अलग-अलग उद्देश्यों से किया जाता हो परन्तु वास्तविक बचत एवं वास्तविक विनियोग सदैव बराबर होते हैं । कीन्स ने बचत एवं विनियोग को निम्नलिखित सूत्र से सिद्ध किया है -

St=Yt-Ct ..... (i)

It=Yt-Ct..... (ii)

कीन्स के प्रथम सूत्र के अनुसार चालू आय का चालू उपभोग पर आधिक्य बचत होती है । दूसरे सूत्र के अनुसार चालू आय का चालू उपभोग पर आधिक्य विनियोग होता है।

कीन्स के मतानुसार वास्तविक बचत तथा विनियोग दोनों सदैव एक दूसरे के बराबर होते हैं । कीन्स का मानना है कि बचत अर्थव्यवस्था की कुल बचत होती है तथा विनियोग अर्थव्यवस्था के कुल विनियोग होते हैं । यदि किसी समय विशेष पर उपभोग में कमी आती है तो बचते बढ़ जाती हैं और कम उपभोग के परिणामस्वरूप दुकानों व कारखानों में स्टॉक में वृद्धि हो जाती है तथा उनमें वास्तविक विनियोग बढ़ जाता है और यह विनियोग बढ़ी हुई बचत के बराबर हो जाता है । यदि अर्थव्यवस्था में बचतों में कमी हो जाती है तो लोंगों का उपभोग व्यय बढ़ जाता है । अधिक उपभोग व्यय होने पर बचतों में कमी हो जाती है इकानों व कारखानों में स्टॉक में कमी हो जाती है । अर्थात् वास्तविक विनियोग घट जाता है ता यह घटी हुई बचत के समान हो जाता है।

(ब) बचत एवं विनियोग में फलनात्मक समानता :

कीन्स के मतानुसार बचत एवं विनियोग में फलनात्मक समानता होती है अर्थात् आय के सन्तुलित स्तर पर ही बचत एवं विनियोग समान होते हैं । जबकि आय के विभिन्न स्तरों पर बचत एवं विनियोग में असमानता पायी जाती है । कीन्स का मानना है कि बचत एवं निनियोग का तात्पर्य वास्तविक बचत एवं वास्तविक विनियोग न होकर नियोजित बचत एवं नियोजित विनियोग से होता है । नियोजित बचत एवं नियोजित विनियोग सदैव एक दूसरे के बराबर नहीं होते हैं केवल आय के सन्तुलित स्तर पर बचत एवं विनियोग एक दूसरे के बराबर होते हैं । आय का बचत एवं विनियोग के साथ फलनात्मक सम्बन्ध होता है ।

यदि किसी आय स्तर पर बचत एवं विनियोग के मध्य असमानता उत्पन्न हो जाती है तो उससे आय में परिवर्तन होने लगते हैं और ये परिवर्तन उस समय तक होते रहते हैं जब तक कि बचत एवं विनियोग के मध्य समानता स्थापित नही हो जाती है ।

यदि अर्थव्यवस्था में बचत विनियोग से अधिक होती है, तो आय में कमी होने लगती है तथा उस समय तक कमी होती रहती है जब तक बचत एवं विनियोग बराबर नहीं हो जाते हैं । यदि विनियोग बचत से अधिक हो जाते हैं, तो राष्ट्रीय आय बढ़ने लगती है, तथा उस समय तक बढ़ती रहती है जब तक विनियोग एवं बचत समान नहीं हो जाते हैं ।

बचत एवं विनियोग में समानता की प्रक्रिया नीचे दी गई तालिका से आसानी से समझा जा सकता है

(करोड़ रूपये में)

आय	बचत	विनियोग	आय में परिवर्तन की प्रवृतियाँ
10000	1000	1300	विस्तार
12000	1200	1400	विस्तार
14000	1400	1500	विस्तार
16000	1600	1600	सन्तुलन
18000	1800	1700	संकुचन
20000	2000	1800	संकुचन
22000	2200	1900	संकुचन

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट होता है जब तक विनियोग बचत से ज्यादा है तब तक आय में वृद्धि हो रही है । 1600 करोड़ रूपये के सन्तुलित आय स्तर पर बचत एवं विनियोग समान होते हैं । परन्तु जब बचत विनियोग से अधिक हो जाती है तो आय में घटने की प्रवृति होती है तथा पुन: संतुलन उसी अवस्था में होता है जबकि आय घटकर 1600 करोड़ रूपये हो जाती है । फलनात्मक सम्बन्ध से यह स्पष्ट होता है बचत एवं विनियोग समान होते हैं ।

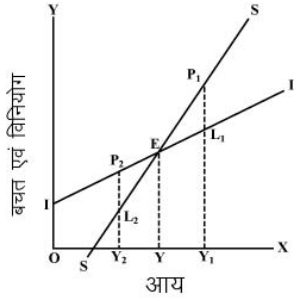

रेखाचित्र 7

बचत एवं विनियोग के मध्य फलनात्मक सम्बन्ध को रेखाचित्र 7 द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है । रेखाचित्र में OX अक्ष पर राष्ट्रीय आय तथा OY अक्ष पर कुल बचत एवं विनियोग दिखाये गये हैं । II वक्र नियोजित विनियोग वक्र को प्रर्दशित करता है तथा नियोजित बचत को SS वक्र द्वारा दर्शाया गया है । ये दोनों वक्र एक दूसरे को E बिन्दू पर काटते हैं इससे आय का सन्तुलित स्तर OY निर्धारित होता है । यदि आय स्तर OY_1 होता है तो नियोजित बचत Y_1P_1 नियोजित विनियोग Y_1L_1 से अधिक होती है । यहाँ नियोजित बचत Y_1P_1 नियोजित विनियोग Y_1L_1, से अधिक है अत: आय में कमी होगी तथा आय गिरकर OY होगी । यहाँ बचत एवं विनियोग दोनों बराबर हो जायेगें ।

इसी प्रकार OY_2 आय स्तर पर नियोजित विनियोग Y_2P_2 है तथा नियोजित बचत Y_2L_2 है । यहाँ बचत विनियोग से कम है अत: आय बढ़ेगी तथा आय बढ़कर OY हो जायेगी और यहाँ बचत तथा विनियोग दोनों समान हो जायेगे ।

6.7 सारांश

किसी भी अर्थव्यवस्था में विनियोग अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है । विनियोग अर्थव्यवस्था में उत्पादन, रोजगार प्रति व्यक्ति आय, बचतों में वृद्धि में सहायक होता है । विनियोग वृद्धि औद्योगिक विकास में सहायक होती है । उद्योगों के विकास से दूरसंचार, सड़कों, रेलवे तथा हवाई यातायात, बैंकिंग एवं बीमा कम्पनियों का विकास होता है । इसलिये किसी भी अर्थव्यवस्था में विनियोग विश्लेषण आवश्यक होता है ।

विनियोग प्रेरणा मुख्य रूप से दो तत्वों पूंजी की सीमान्त उत्पादकता तथा व्याज दर पर निर्भर करती है । अल्पकाल में व्याज दर स्थिर रहती है । अत: विनियोग प्रेरणा मुख्य रूप से पूँजी की सीमान्त कार्यकूशलता पर निर्भर करती है । विनियोग विश्लेषण से हम निष्कर्ष के रूप में कह सकते हैं कि वास्तविक बचत एवं वास्तविक विनियोग सदैव बराबर होते हैं । सन्तुलित आय स्तर पर नियोजित बचत एवं नियोजित विनियोग बराबर होते हैं अन्य आय स्तरों पर यह समानता नहीं पायी जति है ।

6.8 महत्वपूर्ण शब्दावली

1. विनियोग- विनियोग, आय का वह भाग है, जो पूँजी परिसम्पत्तियों वृद्धि करके उत्पादन में वृद्धि करता है ।
2. ब्याज - व्याज किसी समय विशेष पर तरलता के परित्याग का पुरुस्कार है ।
3. पूँजी की सीमान्त उत्पादकता- पूँजी की सीमान्त उत्पादकता का अर्थ किसी पूँजी परिसम्पत्ति की प्रत्याशित लाभदायकता से होता है ।
4. बचत - आय का वह भाग, जो उपभोग कार्यो पर व्यय नहीं किया जाता है, बचत कहलाता है ।
5. साम्य विनियोग स्तर- साम्य विनियोग स्तर वहाँ निर्धारित होता है जहाँ पूँजी की सीमान्त कार्यकुशलता व्याज दर के बराबर होती है । ।

6.9 अभ्यास प्रश्न

अति लघुरात्मक प्रश्न

प्रश्न 1. विनियोग का अर्थ बताइये ।

प्रश्न 2. पूँजी की सीमान्त उत्पादकता से क्या आशय है ?

प्रश्न 3. बचत का अर्थ समझाइये ।

लघुरात्मक प्रश्न

प्रश्न 4. प्रेरित विनियोग तथा स्वायत विनियोग में अन्तर बताइये ।

प्रश्न 5. पूँजी की सीमान्त कार्यकुशलता को समझाइये ।

निबन्धात्मक प्रश्न ।

प्रश्न 6. विनियोग से आप क्या समझते हैं इसके विभिन्न प्रकारों को समझाइये । निजी विनियोग में वृद्धि हेतु क्या उपाय किये जाने चाहिए ?

6.10 सन्दर्भ ग्रंथ

1. आर्थिक विश्लेषण, डा. एम.डी. अग्रवाल, डा० गोपालसिंह
2. उच्चतर आर्थिक सिद्धान्त, एच.एल. आहूजा
3. अर्थशास्त्र का सिद्धान्त, एम.एल. जैन

इकाई-7 माँग पूर्वानुमान

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 अर्थ एवं परिभाषा

7.3 महत्व एवं उद्देश्य

7.4 पूर्वानुमान के विभिन्न चरण

7.5 माँग पूर्वानुमान के क्षेत्र को निर्धारित करना

7.6 सीमाएँ

7.7 पूर्वानुमान को प्रभावित करने वाले तत्व

7.8 विधियाँ

7.9 सिद्धान्त

7.10 उदाहरण

7.11 नये पदार्थो की माँग का पूर्वानुमान

7.12 सारांश

7.13 शब्दावली

7.14 अभ्यास

7.15 सन्दर्भ ग्रन्थ

7.0 उद्देश्य

आज के वैज्ञानिक युग में भावी परिणामों के बारे में आसानी से आश्वासन देना सम्भव नहीं है, ऐसी स्थिति में भविष्य के बारे में किसी विचारधारा का बनाना आवश्यक होता है । माँग पूर्वानुमान इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण सूचनाऐं उपलब्ध करवाता है । इस पाठ में माँग पूर्वानुमान को विस्तार से समझाया गया है ।

7.1 प्रस्तावना

उत्पादन की मात्रा निर्धारण करने तथा बिक्री की योजना बनाने के लिए व्यापार दशाओं का पूर्वानुमान अत्यन्त आवश्यक होता है । व्यापार दशाओं का सीधा सम्बन्ध मांग से होता है । मांग में वृद्धि ही उत्पादन मात्रा तथा विक्रय में वृद्धि करती है इसलिए प्रत्येक व्यवसायिक संस्था में मांग पूर्वानुमान की आवश्यकता होती है । पूर्वानुमान भौतिक या वित्तीय अथवा दोनों हो सकते हैं । व्यवसाय में योजना बनाते समय मांग पूर्वानुमान लगाये जाते हैं ।

7.2 अर्थ एवं परिभाषा

मांग पूर्वानुमान से आशय भूतकाल की व्यापार दशाओं तथा वर्तमान में चल रही व्यापार प्रवृत्तियों के आधार पर किसी वस्तु या सेवा की संभावित मांग का अनुमान लगाने से होता है । दूसरे शब्दों में मांग पूर्वानुमान निकट भविष्य में मांग कब, कैसे, कही और कितनी होगी, बताने की प्रक्रिया है । मांग पूर्वानुमान विक्रय पूर्वानुमान का पर्याय माना जाता है ।

1. कण्डिफ तथा स्टिल के अनुसार, " विक्रय पूर्वानुमान किसी दिये हुए भविष्यकालीन समय में विक्रय का वह अनुमान होता है जो कि प्रस्तावित बाजार योजना से बंधा होता है जिसमें अनियमित एवं प्रतियोगी शक्तियों का एक समूह विशेष शामिल होता है । "
2. ईवन जे डगलस के अनुसार, " भावी समय अवधियों में मांग के मूल्य ढूंढने प्रक्रिया के रूप में मांग पूर्वानुमान को पारिभाषित किया जा सकता है । "

उपरोक्त परिभाषाओं के अध्ययन से मांग पूर्वानुमान की निम्नलिखित विशेषताएँ स्पष्ट होती है :-

1. मांग पूर्वानुमान उत्पादन एवं विक्रय नियोजन का आधार होता है ।
2. मांग पूर्वानुमान में भूतकालीन व्यापार प्रवृतियाँ तथा वर्तमान आर्थिक दशाओं का समायोजन किया जाता है ।
3. मांग पूर्वानुमान द्वारा भावी विक्रय का अनुमान लगाना सम्भव होता है ।
4. मांग पूर्वानुमान भौतिक एवं मौद्रिक दोनों प्रकार का होता है ।
5. मांग पूर्वानुमान में सांख्यिकीय तथा गणितीय दोनों पद्धतियों का व्यापक प्रयोग किया जाता है ।
6. मांग पूर्वानुमान फर्म में कार्यरत मानव शक्ति के प्रशिक्षण की योजना बनाने में सहायक होता है ।
7. मांग पूर्वानुमान में विक्रय बढ़ाने के लिए विज्ञापन एवं अन्य प्रयासों के लिए योजना बनायी जाती है ।

7.3 मांग पूर्वानुमान का महत्व एवं उद्देश्य

1. **भावी नियोजन का आधार :** ' मांग पूर्वानुमान भावी नियोजन का आधार प्रस्तुत करता है । उत्पादन नियोजन में मांग पूर्वानुमान के आधार पर ही उत्पादन के साधनों पूंजी, श्रम आदि का अनुमान लगाया जाता है ।
2. **सम्भावित मांग को आंकना :** पूर्वानुमान व्यवसायिक इकाई को अपने उत्पाद की संभावित मांग को आंकना में सहायता प्रदान करता है और इकाई उसी के अनुरूप उत्पादन की योजना बनाती है ।
3. **बिक्री पूर्वानुमान :** बिक्री पूर्वानुमान भी पूर्ण रूप से मांग पूर्वानुमान पर निर्भर करते हैं अर्थात् मांग पूर्वानुमान से विक्रय की मात्रा का अनुमान लगाया जाता है । साथ विक्रय वृद्धि हेतु प्रोत्साहनात्मक प्रयास भी किये जाते हैं ।

4. **उचित विक्रय नीति का निर्धारण :** मांग पूर्वानुमान उचित विक्रय नीति बनाने में भी सहायक होता है । उचित विक्रय नीति द्वारा विक्रय में वृद्धि के प्रयास किये जाते हैं ।
5. व्यवसाय का नियंत्रण : व्यवसाय के नियन्त्रण के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि लागतों तथा लाभों की उपयुक्त एवं सही बजटिंग हो जो वार्षिक मांग / बिक्री तथा कीमतों के पूर्वानुमान पर आधारित हो ।
6. **स्टॉक पर नियन्त्रण :** व्यवसाय में कच्चे माल, अर्ध तैयार माल का एवं निर्मित माल आदि पर नियन्त्रण करने हेतु उचित मांग पूर्वानुमान की आवश्यकता होती है ।
7. **सरकार को सहायता :** व्यष्टि स्तर पर मांग पूर्वानुमान सरकार को यह निर्णय लेने में सहायता करता है कि वस्तु की घरेलू आपूर्ति की संभावित कमी को पूरा करने के लिए आयात किया जाये अथवा उत्पादन आधिक्य होने की स्थिति में उपयुक्त निर्यात प्रोत्साहन नीति बनायी जाये ।

पूर्वानुमान का उद्देश्य

पूर्वानुमान दोनों अल्पकाल तथा दीर्घकाल के लिए किया जाता है, परन्तु दोनों के उद्देश्यों में निम्नलिखित अन्तर है

(a) अल्पकालीन पूर्वानुमान का उद्देश्य : अल्पकालीन पूर्वानुमान तीन महीने, छः महीने या एक वर्ष की अवधि को लेता है, एक वर्ष की अवधि आमतौर पर ले ली जाती है । कौन सी चुनी जाए यह व्यापार की प्रकृति पर निर्भर करता है । एक फर्म द्वारा अल्पकालीन पूर्वानुमान निम्नलिखित उद्देश्यों के लिए किया जाता है :

- **(i)** **उपयुक्त उत्पादन अनुसूची बनाना** ताकि अत्यधिक उत्पादन या अत्यधिक आपूर्ति की समस्या पैदा न हो ।
- **(ii)** **फर्म को कच्चा माल खरीदने की लागत को कम करने** और भावी साधन आवश्यकता को निर्धारित करके वस्तु सूची को नियन्त्रित करने में सहायता देना ।
- **(iii)** निरन्तर बिक्री को बनाए रखने के लिए उपयुक्त कीमत नीति निर्धारित करना।
- **(iv)** मांग के ढांचे में परिवर्तन और फर्मो में प्रतियोगिता की सीमा के साथ बिक्री लक्ष्य निर्धारित करना और नियंत्रण तथा प्रोत्साहनों को स्थापित करना ।
- **(v)** एक उपयुक्त विज्ञापन तथा प्रोन्नति कार्यक्रम का निर्माण करना ।
- **(vi)** अल्पकालीन वित्तीय आवश्यकताओं का पूर्वानुमान लगाना ।

(b) दीर्घकालीन पूर्वानुमान का उद्देश्य दीर्घकालीन पूर्वानुमान में उद्योग अथवा वस्तु की प्रकृति को देखते हुए 5,10,15, या 20 वर्ष की अवधि ली जाती है । माँग पूर्वानुमान की धारणा अल्पकाल की तुलना में दीर्घकाल के लिए अधिक उपयुक्ता है, क्योंकि सुदूर भविष्य का अनुमान आसानी से लग जाता है । **सुदूर भविष्य में बड़े आकार के उतार चढाव होते रहते हैं ।** दीर्घकालीन पूर्वानुमान के उद्देश्य निम्नलिखित है

(i) नई इकाई का नियोजन अथवा वर्तमान इकाई का विस्तार : इसके लिए सम्बन्धित वस्तु की दीर्घकालीन मांग सम्भावना के विश्लेषण की आवश्यकता होती है । एक बहु-

उत्पाद फर्म को न केवल कुल मांग स्थिति के बारे में बल्कि विभिन्न मदों की मांग के लिए अलग से सुनिश्चित हो जाना चाहिए ।

(ii) दीर्घकालीन वित्तीय आवश्यकताओं का आयोजन : चूँकि धनराशि इकट्ठी करने हेतु आयोजन के लिए अग्रिम नोटिस की आवश्यकता होती है, इसलिए दीर्घकालीन वित्तीय आवश्यकताओं के आंकने के लिए दीर्घकालीन विक्रय पूर्वानुमान अत्यन्त आवश्यक है ।

(iii) मानवशक्ति आवश्यकताओं का आयोजन : उत्पादन तकनीक में परिवर्तन होने के कारण प्रशिक्षित और कुशल श्रम तथा व्यापारिक प्राधिकारियों की आवश्यकता होती है ।

(iv) समाज की आवश्यकताओं में परिवर्तन के साथ वस्तुओं के उत्पादन के लिए उपयुक्त रणनीति का अयोजन बनाना ।

7.4 मांग पूर्वानुमान के विभिन्न चरण

कुशल, सही और अर्थपूर्ण माँग पूर्वानुमान के लिये निम्नलिखित चरणों की आवश्यकता होती है :

1. **लक्ष्य की पहचान करना :** माँग पूर्वानुमान लगाते समय सर्वप्रथम लक्ष्य की पहचान करना आवश्यक होता है । किसी भी व्यवसायिक संस्था को माँग पूर्वानुमान से पहले अपने लक्ष्य जैसे माँग की मात्रा, रचना मूल्य, बिक्री नियोजन, स्टॉक नियन्त्रण आदि लक्ष्यों का निर्धारण आवश्यक होता है । उसी के अनुसार ही संस्था के लिये माँग पूर्वानुमान किया जा सकता है ।
2. **उत्पाद की पहचान करना :** माँग पूर्वानुमान में यह पता लगाना भी आवश्यक होता है कि वस्तु उपभोक्ता वस्तु है या पूँजी वस्तु और इसके पश्चात् ही माँग पूर्वानुमान की विधि का निर्धारण किया जाता है ।
3. **वस्तु की माँग के क्षेत्र का निर्धारण :** माँग पूर्वानुमान के लिए वस्तु के क्षेत्र का निर्धारण भी आवश्यक है । यह देखा जाना आवश्यक है कि वस्तु की माँग व्यष्टि स्तर पर है या समष्टि स्तर पर अथवा वस्तु की माँग राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर या दोनों क्षेत्रों में । उसके पश्चात ही माँग का सही पूर्वानुमान लगाया जा सकता है ।
4. **जोखिम का अनुमान लगाना :** माँग पूर्वानुमान करते समय संस्था को यह अनुमानित करना आवश्यक होता है कि बाजार में वस्तु की क्या माँग है साथ ही पूर्वानुमान करवाने में कितनी धनराशि व्यय होगी ।
5. **आँकडों का संग्रहण एवं विश्लेषण :** माँग पूर्वानुमान का अगला चरण वस्तु की माँग से सम्बन्धित आँकडों का संग्रहण तथा वैज्ञानिक रूप से उनका विश्लेषण करना है । इस कार्य हेतु निपुण व्यक्तियों की आवश्यकता होती है ।
6. आँकडों का निर्वाचन करना एवं निष्कर्ष निकालना : आँकडों के विश्लेषण के पश्चात् उनका निर्वचन किया जाता है और निष्कर्ष निकाले जाते हैं ।
7. **निर्णयण :** माँग पूर्वानुमान विधि का आखिरी चरण निष्कर्षो के आधार पर संस्था के लिए आवश्यक निर्णय लेना होता है कि वस्तु या सेवा की कितनी मात्रा की भविष्य में आवश्यक्ता होगी ।

7.5 माँग पूर्वानुमान का क्षेत्र निर्धारित करना

पूर्वानुमान अभ्यास शुरू करने से पहले कुछ तथ्यों पर विचार करना आवश्यक होता है। सैवेज तथा स्माल ने माँग पूर्वानुमान में छः तत्वों को जोड़ा है । पूर्वानुमान अभ्यास के क्षेत्र को निर्धारित करते समय निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना आवश्यक है :

(1) **पूर्वानुमान की अवधि :** सबसे पहला कदम है पूर्वानुमान के लिए समय अवधि की लम्बाई का निर्धारण करना होता है । समय-अवधि को सामान्यतः निम्नलिखित तीन भागों में बांटा जाता है :

(a) अल्पकालीन पूर्वानुमान : अल्पकालीन पूर्वानुमान का सम्बन्ध सामान्य 3 महीनों तक के समय से होता है । अल्पकालीन पूर्वानुमान के मामले में, फर्म उन घटकों को देखती है जो बाजार में माँग प्रतिरूप में उतार-चढ़ाव लाते हैं जैसे मौसम, रुचियां, फैशन आदि । मशीनरी, साजसज्जा, कच्चा माल, शक्ति, यातायात, वित्त, श्रम आदि अल्पकालीन पूर्वानुमान में फर्म के निर्णय को प्रभावित करते हैं ।

(b) मध्यमकालीन पूर्वानुमान : मध्यम काल में आमतौर 3 महीने औ एक वर्ष की अवधि आती है । मध्यमकालीन पूर्वानुमान के बारे में अनुभव तथा उपयुक्त निर्णय, सांख्यिकीय पूर्वानुमान की तुलना में, अधिक महत्वपूर्ण है । मध्यमकालीन पूर्वानुमानों का मुख्य लक्षण प्रवृत्ति की दिशा है जिसका मजदूर की भर्ती और प्रशिक्षण आदि विषयों के लिए अधिक महत्व है ।

(c) **दीर्घकालीन पूर्वानुमान :** दीर्घकाल से अभिप्राय एक वर्ष से अधिक की अवधि से है। दीर्घकालीन पूर्वानुमान वह है जो मुख्य निर्णायक निर्णयों के बारे में सूचना प्रदान करता है, इसका सम्बन्ध संसाधनों की सीमाओं, को बढ़ाने या कम करने से है । यह संरचनात्मक परिवर्तन, सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन, सरकारी, राजकोषीय तथा मौद्रिक नीति जैसे तत्वों, जो मांग को प्रभावित करते हैं, उनको ध्यान में रखता है। दीर्घकाल में, प्रवृत्ति की विधि मान्यता का आश्वासन अवश्य होना चाहिए । दीर्घकालीन पूर्वानुमान के आधार पर, एक फर्म उत्पादन के आकार, बिक्री प्रोत्साहन, क्षमता का विस्तार, आधुनिकीकरण आ के सम्बन्ध में निर्णय लेती है ।

(2) पूर्वानुमान के स्तर : मांग पूर्वानुमान निम्नलिखित में से किसी भी स्तर पर लिया जा सकता है :

(a) समष्टि-आर्थिक पूर्वानुमान : इसका सम्बन्ध सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की व्यापारिक स्थितियों से होता है । ये व्यापारिक स्थितियां किसी भी उन उपयुक्त संकेत की सहायता से मापी जाती है जिनका सम्बन्ध राष्ट्रीय आय, औद्योगिक उत्पादन, थोक कीमतों आदि से होता है । ये संकेत सरकारी अथवा गैर-सरकारी एजेन्सियां उपलब्ध कराती है और इनको आधारभूत मान्यताएं माना जा सकता है जिन पर मांग पूर्वानुमान को आधारित किया जाता है ।

(b) औद्योगिक मांग पूर्वानुमान : ये पूर्वानुमान उस दिशा का संकेत देते हैं जिस पर सम्पूर्ण उद्योग हरकत करता है । उदाहरण के लिए, कैल्वीनेटर यह जाने का प्रयास करेगा कि रेफ्रिजरेटर

उद्योग का व्यापार किस ओर है ताकि यह फर्म भविष्य की योजना के बारे में अपने मार्ग का निर्णय ले सके । किसी विशेष उद्योग में प्रवृति से सम्बन्धित आंकडे व्यापार संघ अपने सदस्यों को उपलब्ध कराती है । फर्म इन पूर्वानुमानों का प्रयोग अपने उत्पादन, बिक्री, क्षमता, विस्तार आदि में कर सकती है ।

(c) फर्म मांग पूर्वानुमान : बिरला, टाटा, जैसी एक बडी फर्म, उद्योग में अन्य फर्मो की तुलना में, अपने उत्पाद वस्तु का पूर्वानुमान स्वतन्त्र रूप से स्वयं करना पसंद करेगी । ऐसा पूर्वानुमान, प्रतियोगी फर्मो की तुलना में, उस फर्म की स्थिति का आभास कराता है ।

(d) वस्तु-रेखा पूर्वानुमान : यह पूर्वानुमान फर्म को यह निर्णय लेने में सहायता देता है कि वह किस वस्तु या वस्तुओं के लिए अपने सीमित संसाधनों के आवंटन को प्राथमिता दे । उदाहरण के लिए, हिन्दुस्तान लीवर फर्म यह जानना चाहेगी कि वह सर्फ, लक्स अथवा डालडा में से किसका उत्पादन अधिक करें ।

(3) सामान्य उद्देश्य या विशिष्ट पूर्वानुमान : बेशक सामान्य पूर्वानुमान फर्म के लिए उपयोगी होता है, परन्तु यह अधिक लाभदायक तब होगा जब इसे विशिष्ट पूर्वानुमान में, वस्तुओं, बिक्री क्षेत्र, घरेलू तथा विदेशी बाजार आदि में बांट लिया जाए ।

(4) स्थापित (विद्यमान) या नए उत्पादों का पूर्वानुमान : इन दोनों मामलों में पूर्वानुमान की समस्या तथा विधि अलग होती है जो उत्पाद पहले से चले आ रहे हैं अथवा विद्यमान या स्थापित है उनकी पिछली बिक्री प्रवृत्तियां तथा प्रतियोगी स्थितियों का ज्ञान होता है, जबकि 'नए पदार्थों के बारे में ऐसा नहीं होता ।

(5) वस्तु के प्रकार जिसके लिए पूर्वानुमान किया जाना है : अर्थशास्त्री वस्तुओं का वर्गीकरण व्यापक रूप से पूँजी वस्तुओं, उपभोक्ता वस्तुओं और गैर-टिकाऊ वस्तुओं में करते हैं । वस्तुओं की इस प्रत्येक श्रेणी के लिए मांग पूर्वानुमान की आवश्यकता होती है ।

(6) मिले-जुले तत्त्व शामिल होने चाहिए अथवा नहीं : पूर्वानुमानकर्त्ता को यह निर्णय लेना पड़ता है कि कितने सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक तत्व, पूर्वानुमान के अभ्यास में शामिल करने चाहिए । अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए, इस अभ्यास में वस्तु तथा बाजार की विशेषता, प्रतियोगिता की प्रकृति, अनिश्चितता और जोखिम का प्रभाव, जनसंख्या की रचना में परिवर्तन, मौद्रिक आय का वितरण और यथार्थता में होने वाली गलतियां आदि तत्त्वों को अवश्य शामिल करना चाहिए ।

7.6 सीमाएं

व्यापार, निर्माण तथा सेवा उद्योग में माँग पूर्वानुमान का महत्वपूर्ण स्थान होता है फिर भी इसकी कई सीमाएं है क्योंकि भावी क्रियाओं को निर्धारित करने के लिए भूतकालीन तथा वर्तमान घटनाओं का विश्लेषण किया जाता है और माँग पूर्वानुमान लगाये जाते हैं परन्तु ये पूर्वानुमान पूर्ण रूप से सही नहीं होते हैं । माँग पूर्वानुमान की मुख्य सीमाएं निम्नलिखित हैं :-

1. भूतकालीन तथ्यों तथा आँकड़ों पर आधारित माँग पूर्वानुमान भूतकालीन तथ्यों तथा आँकड़ों पर आधारित होते हैं किन्तु आवश्यकतानुरूप ऐसे तथ्यों तथा आँकडों को एकत्र करना बहुत ही कठिन कार्य होता है ।
2. अवास्तविक मान्यताओं पर आधारित : पूर्वानुमान के लिए प्रयोग में ली जाने वाली अधिकांश विधियाँ विभिन्न मान्यताओं पर आधारित हैं । ये मान्यताएँ भूतकाल एवं वर्तमान में सही साबित हुई हों किन्तु भविष्य मे भी इन से सही परिणाम प्राप्त होगें ऐसा होना जरूरी नहीं है ।
3. लागत : माँग पूर्वानुमान लगाते समय संस्था को बड़ी मात्रा में धन का व्यय करना पड़ता है तथा मानव शक्ति व समय की भी आवश्यकता होती है । सभी छोटी फर्मे अपने सीमित साधनों के कारण इनका प्रयोग नहीं कर पाती हैं ।
4. फैशन रूचि तथा आदतों में परिवर्तन : समय समय पर फैशन रूचि तथा आदतों में परिवर्तन होते रहते हैं जिसके कारण माँग पूर्वानुमान गलत साबित हो जाते है ।
5. विशेषज्ञों की आवश्यकता : माँग पूर्वानुमान लगाने हेतु दक्ष विशेषज्ञों की आवश्यकता होती है । सही, प्रशिक्षित, कुशल तथा उपयुक्त विशेषज्ञों के अभाव में पूर्वानुमान का कार्य कठिन हो जाता है ।
6. सावधानी पूर्ण प्रयोग : माँग पूर्वानुमानों का प्रयोग विभिन्न अवधियों तथा विभिन्न उद्देश्यों हेतु किया जाता है । इसलिए इनका प्रयोग पूर्ण सावधानी से करना चाहिऐ । थोडी सी असावधानी परिणामों में अन्तर दर्शा सकती है ।

7.7 माँग पूर्वानुमान को प्रभावित करने वाले तत्व

वस्तुओं का वर्गीकरण तीन श्रेणियों में किया जा सकता है (अ) पूँजीगत वस्तुएं (ब) टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुएं (स) गैर टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुएं । आर्थिक विश्लेषण इन वस्तुओं के लिए माँग पूर्वानुमान के भिन्न ढाँचें को दर्शाता है । इस प्रत्येक श्रेणी की वस्तु की माँग को प्रभावित करने वाले तत्व भिन्न-भिन्न होते हैं जो निम्नलिखित हैं :

(अ) पूँजीगत वस्तुएं - ये वे वस्तुएँ हैं जो उत्पादक तथा उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन में सहायक होती हैं । इनमें भवन, प्लाण्ट तथा मशीनें, साज-सज्जा, फर्नीचर, औजार आदि शामिल होते हैं । पूँजीगत वस्तुओं की माँग व्युत्पन्न माँग होती है, यह उन उपभोक्ता उद्योगों की माँग से उत्पन्न होती है जिन्हें ये उत्पादित करती हैं । इनकी माँग लाभ दर, क्षमता प्रयोग के स्तर, मजदूरी दरें और पूंजी वस्तुओं को प्रयोग करने वाले

उद्योगों के बाजार के आकार पर निर्भर करती हैं । इसके अतिरिक्त पूँजीगत वस्तुओं की माँग (i) पुन: स्थापन्न माँग (ii) नई वस्तुओं की माँग से बनती है ।

पूँजीगत वस्तुओं की माँग का अनुमान लगाने के लिए निम्नलिखित आकड़ों की आवश्यकता होती है :

(i) पूँजीगत वस्तुओं को प्रयोग करने वाले उद्योगों के विकास की सम्भावना

(ii) स्थापित क्षमता तथा वस्तु उपलब्धता का प्रारूप

(iii) वस्तुओं के प्रयोग की गति

(ब) टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुएँ : वे उपभोक्ता वस्तुएँ जिनका एक समय-अवधि में बार-बार प्रयोग होता है, टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुएं कहलाती हैं जैसे कार, फ्रिज, टीवी, फर्नीचर, मकान आदि । इन वस्तुओं की माँग का पूर्वानुमान लगाते समय निम्न तथ्यों पर विचार करना आवश्यक है :

(i) उपभोक्ता की आय एवं उसे व्यय करने की प्रवृति

(ii) पूरक वस्तुओं की उपलखता जैसे कार के लिए पैट्रोल का उपलब्ध होना

(iii) बाजार में उपभोक्ता वस्तुओं को खरीदने हेतु उधार की सुविधा

(iv) उपभोक्ता की ऋण भुगतान क्षमता

(स) गैर टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुएँ : गैर टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुएँ वे वस्तुएँ होती हैं जिनका प्रयोग केवल एक बार किया जा सकता है जैसे फल, दूध, भोजन, दवाइयाँ आदि । इन वस्तुओं की प्रकृति शीघ्र नष्ट होने की पायी जाती है । ऐसी वस्तुओं की माँग निम्नलिखित तत्वों पर निर्भर क़रती है :

(i) उपभोक्ता की प्रयोज्य आय तथा उसकी क्रय शक्ति

(ii) प्रतिस्थापन वस्तुओं और पूरक वस्तुओं के मूल्य ।

(iii) जनसंख्या का आकार ।

7.8 माँग पूर्वानुमान की विधियाँ

अनिश्चित आर्थिक वातावरण में माँग पूर्वानुमान लगाना एक अत्यन्त दुष्कर कार्य है । व्यवसाय में कदम-कदम पर पूर्वानुमान लगाने पड़ते हैं । व्यवसायिक प्रबन्धक व्यवसाय के सम्बन्ध में पूर्वानुमान लगाकर जोखिम व अनिश्चितताओं को न्यूनतम करने का प्रयास करते हैं । माँग पूर्वानुमान की अनेक सामाजिक तथा सांख्यिकी विधियाँ हैं । सांख्यिकीय विधियों के प्रयोग से अधिक वास्तविक पूर्वानुमान लगाया जाना सम्मव होता है । माँग पूर्वानुमान की प्रमुख विधियाँ नीचे दी गयी हैं : -

1. राय मतदान विधि : -

(i) क्रेताओं का सर्वेक्षण

(ii) सामूहिक मत विधि

(iii) विशेषज्ञों की मत विधि

2. सांख्यिकी विधियाँ :-

(i) मुक्त हस्त विधि

(ii) न्यूनतम वर्ग विधि

(iii) चल औसत विधि

(iv) प्रतीपगमन विश्लेषण

3. आर्थिक बैरोमीटर विधि

4. समक्षणिक समीकरण विधि

5. कम्प्यूटर सहायक पूर्वानुमान

6. बाजार अनुसंधान विधि

7. अर्थमित्तीय विधि

1. राय मतदान विधि : राय मतदान विधि माँग पूर्वानुमान की एक महत्वपूर्ण विधि है । इस विधि में क्रेताओं, विक्रय शक्ति तथा विशेषज्ञों की राय माँग पूर्वानुमान के लिए ली जाती है ।

(a) **क्रेताओं का सर्वेक्षण :** इस विधि में व्यक्तिगत साक्षात्कार, डाक सर्वेक्षण तथा टेलिफोन बातचीत आदि के माध्यम से अन्वेक्षणकर्ता क्रेताओं का सर्वेक्षण करते हैं। प्रश्नावली के द्वारा क्रेताओं का सर्वे किया जाता है ।

क्रेता सर्वेक्षण दो प्रकार के होते हैं : (i) सम्पूर्ण गणना सर्वेक्षण, (ii) नमूना सर्वेक्षण ।

(i) **सम्पूर्ण गणना सर्वेक्षण :** सम्पूर्ण गणना सर्वेक्षण में वस्तु के सभी संभावित क्रेताओं से सम्पर्क बनाया जाता है तत्पश्चात् सम्भाव्य माँग जानने के लिए साक्षात्कार किया जाता है । सम्पूर्ण गणना सर्वेक्षण द्वारा वस्तु की व्यक्तिगत माँग सुनिश्चित हो जाती हैं तब फर्म की संभावित कुल माँग ज्ञात करने के लिए इन व्यक्तिगत माँगों को जोड़ दिया जाता है ।

(ii) **नमूना सर्वेक्षण विधि:** इस विधि में समग्र में से कुछ उपभोक्ता प्रतिदर्श (Sample) के रूप में साक्षात्कार के लिए चुन कर लिए जाते हैं । साक्षात्कार किये गये उपभोक्ताओं के आधार पर औसत माँग की गणना कर ली जाती है ।

(b) **सामूहिक मत विधि :** माँग पूर्वानुमान की इस विधि में सेल्समैनों से सम्पर्क स्थापित किया जाता है ताकि उनके क्षेत्रों में संभावित बिक्री का अनुमान लगाया जा सके । सेल्समैन ग्राहकों के सीधे सम्पर्क में होते हैं और उनके पास ग्राहकों की पसन्द नापसन्द, उपभोग प्रतिरूप की सही सूचना होती है । इससे फर्म की वस्तु की माँग या बिक्री का सही पूर्वानुमाम लगाया जा सकता है ।

(c) **विशेषज्ञों की मत विधि :** इस विधि में वस्तु विक्रय करने वाली फ़र्मे विशेषज्ञों से उनके अपने क्षेत्रों के बारे में मत एकत्र करती हैं । ये व्यक्ति वस्तु उत्पादन से सीधे रूप से जुड़े होते हैं तथा इन्होंने बाजार प्रवृतियों तथा उपभोक्ता व्यवहारों, नई वस्तुओं की, माँग आदि के सम्बन्ध में अध्ययन किया होता है ।

2. सांख्यिकी विधियाँ : माँग पूर्वानुमान में सांख्यिकी विधियाँ अधिक उपयोगी सिद्ध हुई हैं। माँग पूर्वानुमान में प्रयुक्त होने वाली सांख्यिकी विधियाँ निम्नलिखित हैं :-

(अ) प्रवृति प्रदर्शन विधि : इस विधि में आने वाले वर्ष में बिक्री या माँग के प्रदर्शन के लिए निर्भर चलनांक (dependent variable) और अन्य स्वतन्त्र चलनांको (Independent variables) के बारे में भूतकालीन आकड़ों का प्रयोग किया जाता है। एक फर्म जो लम्बे समय से उत्पादन या सेवा प्रदान कर रही हो उसने पिछले कई वर्षो में बिक्री से सम्बन्धित काफी आँकड़े एकत्र किये होंगे ऐसे आँकड़ों को समय के नियमित अन्तराल के साथ कालानुक्रम से व्यवस्थित किया जाता है इस प्रकार के आँकड़ों को काल या समय श्रेणियाँ कहा जाता है । काल श्रेणी 10 या 15 वर्षो की अवधि के दौरान वस्तु के लिए प्रभावी मांग को दर्शाती हैं । इन आँकड़ों के आधार पर एक ग्राफ खींचा जा सकता है । यह बिक्री वक्र मांग में उतार चढ़ाव क्या मोड़ बिन्दुओं को व्यक्त करता है । यदि मोड़ बिन्दु कम हैं और अन्तराल फैला हुआ है तो फर्म का पूर्वानुमान संभव हो जाता है । मोड़ बिन्दु की आवृति अनिश्चित माँग स्थितियों का संकेत देती है । काल श्रोणियों के चार प्रमुख घटक हैं जो निम्नलिखित हैं :

(i) दीर्घकालीन प्रवृति : दीर्घकालीन प्रवृति आँकड़ों की सामान्य प्रवृति को बताती हैं यह व्यवहार पर निर्भर करते हुए ऊपर या नीचे की ओर हो सकती हैं । ।

(ii) ऋतुगत परिवर्तन : ये उन परिवर्तनों को बतलाते हैं जो एक मौसम विशेष या त्यौहार वाले मौसम में होते हैं । इनका सम्बन्ध 12 महीने की अवधि से होता है ।

(iii) चक्रीय परिवर्तन : इन परिवर्तनों का सम्बन्ध तेजी अथवा मन्दी की अवस्थाओं से होता है इसलिए इन्हें चक्रीय परिवर्तन कहा जाता है ।

(iv) अनियमित परिवर्तन : ये परिवर्तन अनियमितताओं के कारण जैसे बाढ़, अकाल, भूकम्प जैसे अनजाने तत्वों से उत्पन्न होते हैं इनका अनुमान लगाना कठिन होता है । काल श्रेणी में प्रवृति का अनुमान लगाने के लिए निम्नलिखित चार विधियों में से किसी भी एक विधि का प्रयोग किया जा सकता है । इन चारों विधियों का संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया गया है ।

(i) मुक्त हस्त विधि :- इस विधि में प्रवृति रेखा को श्रृंखलाओं द्वारा ग्राफ पर दर्शाया जाता है । विभिन्न क्षेत्रों / वर्षो के उत्पादन या बिक्री के सभी मूल्य को ग्राफ पर अंकित किया जाता है और एक मुक्तहस्त वक्र खींचा जाता है । मुक्त हल वक्र की दिशा मूल्यों की सामान्य प्रवृत्तियों को बतलाती है ।

(ii) न्यूनतम वर्ग विधि : इस विधि का प्रयोग प्रवृति रेखा को ढूढ़ने के लिये किया जाता है । इस विधि की मान्यता है कि चलनांको की परिवर्तन की भूतकालीन दर भविष्य में भी जारी रहेगी । यह प्रेक्षित आंकड़ों को अंकित करने की पक गणितीय विधि है । सरल एवं कम खर्चीली होने के कारण यह एक लोकप्रिय विधि है ।

(iii) चल औसत विधि : इस विधि का प्रयोग भावी बिक्री को ढूढ़ने के लिए किया जाता है । एक चल औसत विधि, प्रेक्षण की गई या पूर्व निश्चित संख्याओं का एक औसत है जो बहुत पुराने समूह को ऊपर की मदों को हटाकर श्रृंखला द्वारा आगे चलाता है और अगली मद को प्रत्येक उत्तरोत्तर औसत में जोड़ कर आगे बढ़ता

है। यह विधि पुराने आंकड़ों पर आधारित है और नियमित चक्रीय या मौसमी परिवर्तनों के लिए क्षतिपूर्ति की अभिकल्पना भी करता है, और चल औसत विधि को वार्षिक अन्तर्विधि से जोड़ता है । इस विधि का प्रयोग अल्पकालीन पूर्वानुमान के लिए किया जाता है ।

(iv) प्रतीपगमन विश्लेषण विधि : प्रतीपगमन विश्लेषण एक सांख्यिकी तकनीक है जिसका माँग पूर्वानुमान मे बार-बार प्रयोग किया जाता है । यह वह यन्त्र है जो एक चलनांक (variable) के अज्ञात मूल्य को दूसरे चलानांक के अज्ञात मूल्य से मापता है । प्रतीपगमन विश्लेषण में माँग जो निर्भर चलनांक है और अन्य स्वतन्त्र चलनांको अर्थात् जो माँग के निर्धारक है, इन दोनों के मध्य मात्रात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है । जैसे ही सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, हम सम्बन्ध को रेखीय मानकर प्रतीपगमन समीकरण निकाल लेते हैं ।

3. आर्थिक बैरोमीटर विधि : आर्थिक बैरोमीटर विधि इस विचार पर आधारित है कि भविष्य के लिए भावी अनुमान वर्तमान में घट रही घटनाओं के आधार पर लगाये जा सकते हैं । किसी भी व्यक्ति को माँग पूर्वानुमानों के लिए भूतकालीन प्रेक्षणों पर निर्भर नहीं होना पड़ता है । विभिन्न आर्थिक संकेतकों जैसे जनसंख्या, आय, व्यय, निवेश आदि के आधार पर बाजार माँग का पूर्वानुमान या भावी अनुमान लगाया जा सकता है। कृषि उत्पादन में आय सूचकांक अन्य कृषि साधनों जैसे उर्वरक, ट्रेक्टर, पम्प आदि के माँग पूर्वानुमान का एक उपयुक्त संकेतक हो सकता है ।

किसी वस्तु की भावी माँग का अनुमान लगाने के लिए निम्न संकेतकों का प्रयोग किया जा सकता है :-

	संकेतन	**वस्तु की माँग**
1.	कृषि उत्पादों के बढ़े हुए मूल्ये	कृषि साधनों की माँग
2.	उपभोक्ताओं की आय में वृद्धि	उपभोक्ता वस्तुओं की माँग
3.	कारों की माँग में वृद्धि	पेट्रोल की माँग
4.	रीयल एस्टेट के लारोबार में वृद्धि	भवन सामग्री की माँग

बैरोमीटर विधि में न्यूनतम वर्ग विधि द्वारा सम्बन्ध स्थापित होने के बाद, प्रतीपगमन समीकरण निकाला जाता है । यदि सम्बन्ध रेखीय हो तो समीकरण $Y=a+bx$ होगा । समीकरण निकालने के पश्चात् माँग का पूर्वानुमान निकाला जाता है ।

4. समक्षणिक समीकरण विधि : माँग पूर्वानुमान की सांख्यिकी विधि की यह एक बहुत ही परिष्कृत विधि है । इसे पूर्वानुमान की सम्पूर्ण प्रणाली दृष्टिकोण भी कहा जाता है इसमें सम्पूर्ण मॉडल का वह निरूपण अन्तर्निहित होता है जो उन सभी चलनांको के व्यवहारों की व्याख्या कर सकता है जिसका फर्म नियन्त्रण कर सकती है ।

5. कम्प्यूटर द्वारा माँग पूर्वानुमान : आधुनिक युग में व्यवसाय में कम्प्युटर का प्रयोग बहुत तेजी से बढ़ा है । इनकी सहायता से आसानी से माँग पूर्वानुमान लगाया जा

सकता है । आंकड़ों को व्यवस्थित करके उससे आसानी से भावी अनुमान लगाये जाते हैं ।

6. **बाजार अनुसंधान विधि :** सभी बड़ी व्यवसायिक संस्थाओं में बाजार अनुसंधान कक्षों की स्थापना बाजार अनुसंधान हेतु की जाती है । ये कक्ष उपभोक्ता उद्योगों में उत्पादित उत्पादों की बिक्री पूर्वानुमान सम्बन्धी सूचना एकत्रित करते हैं । एकत्रित सूचना का विश्लेषण करके माँग पूर्वानुमान लगाया जाता है ।
7. **अर्थमितीय विधि :** अर्थमितीय विधि का प्रयोग वहाँ किया जाता है जहाँ स्थापित सम्बन्ध को व्यक्त करने वाला समीकरण अर्प्याप्त होता है । भावी अवधि में माँग का पूर्वानुमान लगाने के लिए समक्षणिक समीकरणों की पद्धति को हल करने में अर्थमितीय मॉडल सहायता प्रदान करते हैं । Econometric शब्द के दो भाग हैं : Econo तथा metric इसका अर्थ है आर्थिक माप का विज्ञान । गणितीय समीकरण निकाल कर अर्थमितीय मॉडल भूतकालीन आर्थिक क्रियाओं की व्याख्या करते हैं । ये समीकरण आर्थिक परिवर्तन के आंकड़ों के बीच संभावित अन्तर-सम्बन्ध को व्यक्त करते हैं । इस विधि में निर्भर परिवर्तनशील घटकों तथा स्वतन्त्र परिवर्तनशील घटकों के बीच उपयुक्त सम्बन्ध भूतकालीन संमकों के आधार पर समीकरणों के रूप में स्थापित किया जाता है और इसके बाद यह मॉडल एक या एक से अधिक ऐसे परिवर्तनशील घटकों की भावी किया के लिए पूर्वानुमान की और अग्रसर होते हैं । अर्थव्यवस्था में विभिन्न आर्थिक क्रियाओं के सामूहिक स्तरों के पूर्वानुमान के लिए अर्थमितीय मॉडलों का प्रयोग किया जाता है । व्यष्टि स्तरों के आर्थिक परिवर्तनशील घटकों को व्यक्त करने के लिए भी इन मॉडलों का प्रयोग किया जाता है । पूंजी पदार्थो, उपभोक्ता टिकाऊ वस्तुओं, निर्माण सामग्री की भावी माँग को अर्थमितीय मॉडलों की सहायता से अनुमानित किया जाता है।

7.9 पूर्वानुमान के सिद्धांत

पूर्वानुमान के मुख्य सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :

1. **प्रायिकता सिद्धान्त :** प्रायिकता शब्द का शाब्दिक अर्थ संयोग है और प्रायिकता का सिद्धान्त संयोगिक घटना के घटने के संयोगों के माप से सम्बन्धित है । प्रायिकता सिद्धान्त भूतकालीन स्थितियों को ध्यान में रखता है । इस सिद्धान्त की मान्यता यह है कि जो भूतकाल में घटा है वह भविष्य के लिए भी अच्छा रहेगा ।
2. **समयान्तर सिद्धान्त :** इस सिद्धान्त के अनुसार विभिन्न प्रकार के व्यवसाय एक समान संचालन प्रक्रिया का अनुसरण करते हैं । यह प्रक्रिया एक वर्ष में ही नहीं होती है बल्कि उत्तरोत्तर चलती है । अमेरिका की हावर्ड आर्थिक सर्वेक्षण सोसाइटी तथा ब्रिटेन की केम्ब्रिज़ आर्थिक सेवा ने पूर्वानुमान को इसी पर आधारित किया है ।
3. **क्रिया प्रतिक्रिया सिद्धान्त :** इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया एक ही विशाल आकार प्रकार की होती है । मुद्रा स्फीति की अवस्था में वस्तु का मूल्य सामान्य स्तर से ऊपर चला जाता है तब प्रतिक्रिया शक्तियाँ कार्य करने लगती हैं,

इसके परिणाम स्वरूप वस्तु का मूल्य सामान्य स्तर से भी नीचे गिर जाता है । अमेरिका का सांख्यिकी संगठन बाल्सन इसी आधार पर माँग का पूर्वानुमान लगाता है।

7.10 उदाहरण

एक कम्पनी की वार्षिक बिक्री इस प्रकार है :-

वर्ष	2001	2002	2003	2004	2005
बिक्री	45	56	78	46	75

(100000 रू0 में)

न्यूनतम वर्ग विधि का प्रयोग करते हुऐ वर्ष 2००6 की वार्षिक बिक्री का अनुमान लगाएं ।

हल

वर्ष	**विक्रय y**	**समय X(2000=0)**	**x^2**	**विचलन xy**
2001	45	1	1	45
2004	56	2	4	112
2003	78	3	9	234
2004	46	4	16	184
2005	75	5	25	375
	$\sum_y 300$	$\sum_x 15$	$\sum_{x^2} 55$	$\sum_{xy} 950$

$$y = a + bx \quad \text{(i)}$$

$$\sum_{xy} = a\sum_{x} + b\sum_{x^2} \quad \text{(ii)}$$

$$300 = 5a + 15b \quad \text{(iii)}$$

$$950 = 5a + 55b \quad \text{(iv)}$$

तीसरे समीकरण को तीन से गुणा करने पर

$$\therefore 900 = 15a + 45b$$

(iii) समीकरण में से (iv) समीकरण को घटाने पर

$$900 = 5a + 55b$$

$$900 = 15a + 45b$$

$$50 = 10b$$

$$b = \frac{50}{10} = 5$$

समीकरण (iii) में b का मान प्रतिस्थापित करने पर

$$300 = 5a\,15 \times 5 \quad \therefore 5a = 300 - 75$$

$$a = \frac{225}{5}$$

$$y = a + bx$$

$$\therefore y = 45 + 5x$$

$$\therefore y2001 = 45 + 5(1) = 50$$

$$y\ 2002 = 45 + 5(2) = 55$$

$$y\ 2003 = 45 + 5\ (3) = 60$$

$$y\ 2004 = 45 + 5\ (4) = 65$$

$$y\ 2005 = 45 + 5\ (5) = 70$$

2006 वर्ष के लिए माँग पूर्वानुमान होगा

$$y\ 2006 = 45 + 5\ (6) = 75 \therefore 75,00,000\ Rs.$$

7.11 नए पदार्थो के लिए मांग का पूर्बानुमान

विद्यमान वस्तुओं से नई वस्तुओं की मांग के पूर्वानुमान का ढंग अलग है । वस्तुओं की विशेषताओं का गहन अध्ययन, नई वस्तुओं के लिए, मांग के परियोजना के लिए मार्गदर्शन का कार्य करता है । यहां विशेष वस्तु के लिए पूर्वानुमान तकनीकों को अपनाना पड़ता है, इसका कारण यह है कि वस्तु फर्म तथा अर्थव्यवस्था दोनों के लिए नई होती है । जोल डीन ने नई वस्तुओं की मांग के पूर्वानुमान के लिए निम्नलिखित दृष्टिकोणों का सुझाव दिया है :

(1) विकासगत दृष्टिकोण : इस दृष्टिकोण में नई वस्तु की मांग की विद्यमान वस्तु उदाहरण के लिए यदि रंगीन टी.वी. की मांग बढ़ती है, तो इसका अर्थ है कि काले तथा सफेद टी.वी. की मांग घट रही है । विकासाल्फ दृष्टिकोण तभी उपयोगी हो सकती है जबकि नई वस्तु पुरानी वस्तु का इतना निकटतम विकल्प हो और उस पर एक ऐसा सुधार हो कि इसकी मांग वर्तमान वस्तु की संभावित मांग अथवा सुधार के फलस्वरूप बढ़ी हुई मांग के बराबर हो ।

(2) वैकल्पिक दृष्टिकोण : इस दृष्टिकोण के अनुसार, नई वस्तु को वर्तमान या पुरानी वस्तु का एक विकल्प मान लिया जाए । उदाहरण के लिए लिनोलियम को गलीचे का विकल्प, पालीथीन बैगों को कपड़े के बैगों का विकल्प, बालपैन को फाऊन्टेन पैन का विकल्प । यदि इस दृष्टिकोण का वैज्ञानिक ढंग सें प्रयोग किया जाए तो यह बहुत ही उपयोगी है । क्योंकि अधिकतर नई सामान्य रूप से पुरानी वस्तुओं के विकल्प होती हैं, ये वर्तमान या विद्यमान वस्तुओं पर एक सुधार है ।

(3) विकासवक्र दृष्टिकोण : इस दृष्टिकोण के अनुसार नई वस्तु के लिए विकास की दर तथा मांग के अन्तिम स्तर का अनुमान स्थापित वस्तुओं के विकास के ढांचे का आधार पर लगाया जा सकता है । उदाहरणार्थ विद्यमान या वर्तमान टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुओं के विकास वक्रों की जांच करें और तब टी.वी. सेट जैसी नई वस्तु पर लागू होने वाले बाजार विकास के व्यावहारिक या अनुभवजन्य नियम को स्थापित करने का प्रयास करें, अर्थात् एक जैसी वस्तुओं के बाजार विकास की वास्तविक दर के व्यावहारिक नियम बनाएं तो सफलता मिल सकती है । इस दृष्टिकोण का प्रयोग नए

वायु मार्ग तथा नए स्थल यातायात के संभावित विकास के अनुमान के लिए किया जाता है ।

(4) मतदान दृष्टिकोण : इस दृष्टिकोण के अनुसार नई वस्तु के लिए मांग का अनुमान अन्तिम क्रेताओं से पूछकर लगाया जाता है । यह पूछताछ एक सर्वक्षण के रूप में की जा सकती है और इससे प्राप्त परिणामों को सम्पूर्ण जनसंख्या पर लागू किया जा सकता है । व्यक्तिगत साक्षात्कार द्वारा प्रकट मतदान या उपभोक्ताओं के इरादों का सर्वेक्षण नई वस्तुओं की मांग को खोजने के लिए व्यापक रूप में किया गया है । व्यक्तिगत साक्षात्कार द्वारा प्रकट क्रेताओं के इरादों की सर्वेक्षण तकनीक का प्रयोग कई कम्पनियों ने अपनी नई वस्तु की संभावित मांग की जानकारी प्राप्त करने के लिए किया है । परन्तु इस विधि में सैम्पलिंग, उपभोक्ताओं के वास्तविक इरादों की खोज तथा विविध विकल्प चयन की जटिल जैसी समस्याएं सामने आती हैं, ये समस्याएं पहले से स्थापित वस्तुओं के लिए भी आती हैं । नई वस्तुओं के लिए ये समस्याएं और भी जटिल बन जाती हैं ।

(5) परउत्तरदायित्व दृष्टिकोण : इस विधि के अनुसार उपभोक्ताओं के पास प्रत्यक्ष रूप से पहुंचा जाता है । इसके लिए उन विशिष्ट विक्रेताओं से सम्पर्क स्थापित किया जाता है जो उपभोक्ताओं की अनुभूति से पूरी तरह परिचित होते हैं । विक्रेता, जो उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं के खरे में पूरी जानकारी रखते हैं, उनकी राय इस सम्बन्ध में जानने की कोशिश की जाती है । यह एक अप्रत्यक्ष दृष्टिकोण है । यह दृष्टिकोण काफी सरल है परन्तु यह निश्चित नहीं । विक्रेताओं के पक्षपातपूर्ण व्यवहार की अवहेलना भी नहीं की जा सकती । यह आवश्यक है कि कुछ विक्रेता जो अधिक आशावादी या उत्साही है उनसे अपने आप को सुरक्षित रखा जाए और जो अधिक निराशावादी हैं, उन से भी बचा जाए । इनके ऊपर रोक तभी रखी जा सकती है जब क्षेत्र में काम करने वाले अन्य विक्रेताओं से संपुष्टि स्थापित की जाए और अन्य विधियों द्वारा पूर्वानुमान प्राप्त करके इनका मिलान किया जाए ।

(6) विक्रय अनुभव दृष्टिकोण : इस दृष्टिकोण के अनुसार नई वस्तु को नमूना बाजार में बिक्री के लिए भेजा जाता है और इस आधार पर पूर्ण विकसित बाजार के लिए कुल मांग का अनुमान लगाया जाता है । परन्तु इस दृष्टिकोण की समस्या यह है कि नमूना बाजार की पहचान करना बहुत ही कठिन है । मान लो यदि कलकत्ता या मुम्बई या दिल्ली को नमूना बाजार के लिए चुन लिया जाए, तब ऐसे बाजारों के लक्षण छोटे शहरों की तुलना मे भिन्न होंगे । इसी प्रकार यदि दार्जिलिंग, शिमला या नैनीताल को नमूना बाजार के लिए चुन लिया जाए, तब बिक्री सैलानी लोगों के प्रवाह के आकार से प्रभावित होगी । इसलिए बाजार की विशेषताओं का ध्यान रखे बिना कोई भी असावधान प्रयोग बड़ी हानि के रूप में सिद्ध हो सकता है ।

7.12 सारांश

माँग पूर्वानुमान के लिए सुझायी गई सभी विधियाँ भूतकालीन अनुभव पर आधारित हैं, भूतकाल का भावी निर्णयन में प्रयोग किया जाता है । जिस अर्थव्यवस्था में निरन्तर उतार चढ़ाव आते रहते हैं । वहाँ ये पूर्वानुमान प्रभावी नहीं होते हैं । अत: आवश्यकता इस बात की है पूर्वानुमान उद्देश्यों के लिए प्रयोग होने वाले मॉडल या समीकरण विनिर्देशों में सुधार करने की है । पूर्वानुमान तकनीकों के व्यवहारिक प्रयोग में, भविष्यवाणी सम्बन्धी यर्थाथता, सांख्यिकी सिद्धान्त के उपयुक्त बिन्दुओं पर अधिक केन्द्रीयकरण अधिक महत्वपूर्ण है । मांग पूर्वानुमान के लिए अपनायी गयी विधियों का चयन एवं उपयोग अत्यन्त सावधानीपूर्वक किया जाना चाहिए थोड़ी सी भी असावधानी हानिकारक सिद्ध हो सकती है ।

7.3 शब्दावली

1. **माँग पूर्वानुमान -** माँग पूर्वानुमान से आशय भूतकालीन घटनाओं और वर्तमान में चल रही प्रवृतियों के आधार पर किसी वस्तु या सेवा की संभावित माँग की भविष्यवाणी करना है ।
2. **पूँजी वस्तुएँ -** पूँजी वस्तुएँ वे वस्तुएँ होती है जो उपभोक्ता एवं उत्पादक वस्तुओं के उत्पादन में सहायक होती है ।
3. **टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुएँ -** वे उपभोक्ता वस्तुएँ जिनका लम्बे समय तक प्रयोग होता रहता है टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुएँ कहलाती हैं ।
4. **गैर टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुएँ -** वे उपभोक्ता वस्तुएँ जो शीघ्र नाशवान होती हैं गैर टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुएँ कहलाती हैं ।
5. **काल श्रेणियाँ -** वे आँकड़ें जो समय के नियमित अन्तराल के साथ कालानुक्रम से व्यवस्थित किये जाते हैं, काल श्रेणियाँ कहलाते हैं ।

7.14 अभ्यास प्रश्न

अति लघुतरात्मक प्रश्न

प्रश्न 1. माँग पूर्वानुमान से क्या अभिप्राय है ?

प्रश्न 2. माँग पूर्वानुमान के दो महत्व बताइये ।

प्रश्न 3. नमूना सर्वेक्षण विधि क्या है ?

लधुत्तरात्मक प्रश्न प्रश्न

प्रश्न 4. माँग पूर्वानुमान की चार विशेषताएं लिखिये ।

प्रश्न 5. माँग पूर्वानुमान के प्रायिकता सिद्धान्त को समझाइये ।

प्रश्न 6. माँग पूर्वानुमान की सीमाएँ क्या हैं ?

निबन्धात्मक प्रश्न

प्रश्न 7. माँग पूर्वानुमान से आपका क्या आशय है ? माँग पूर्वानुमान की विभिन्न विधियों की विवेचना कीजिए ।

7.15 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. व्यवसायिक अर्थशास्त्र, एम.डी. अग्रवाल
2. व्यवसायिक अर्थशास्त्र, खन्ना, तिवारी, जैन

इकाई-8 उत्पादन के सिद्धांत - उत्पादन फलन

इकाई की रूपरेखा -

8.1 प्रस्तावना

8.2 उत्पादन फलन

8.3 उत्पादन फलन की मान्यताएं, शर्त, सीमाएं

8.4 उत्पत्ति के नियम

8.5 प्रतिष्ठित विचारधारा

8.6 नवीन विचारधारा

8.7 पैमाने के प्रतिफल

8.8 अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन उत्पादन फलन में अन्तर

8.9 व्यावहारिक प्रश्न

8.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

8.1 प्रस्तावना (Intoduction)

साधारण बोलचाल की भाषा में उत्पादन का अर्थ किसी वस्तु के बनाने या निर्माण करने से लिया जाता है, किन्तु वैज्ञानिकों का मत है कि मनुष्य किसी पदार्थ को बनाता या नष्ट नहीं कर सकता है । सभी पदार्थ प्रकृति ने निःशुल्क प्रदान किये है । मनुष्य तो केवल उसका रूप बदलकर आवश्यकता अनुरूप पूर्ति लायक बना लेता है ।

केवल ऐसी उपयोगिता वृद्धि को उत्पादन कहा जाता है जिनके किसी वस्तु के मूल्य में वृद्धि होती है । आर्थिक उपयोगिता का सृजन ही उत्पादन कहलाता है । वह प्रक्रिया है जिससे वस्तुओं में उपयोगिता का सृजन होता है । वर्तमान में उत्पादन प्रमुख साधन - भूमि, पूँजी, प्रबन्ध, श्रम, साहस एवं सूचना प्रौद्योगिकी है ।

8.2 उत्पादन फलन (Production Function)

उत्पादन फलन से तात्पर्य एक विद्यमान तकनीकी स्तर पर एक निश्चित अवधि में आदाओं के परिवर्तन से प्रदाओं में किस प्रकार और कितनी मात्रा में परिवर्तन होता है । इस प्रकार आदाओं की मात्रा तथा प्रदा की मात्रा के मध्य संबंध को उत्पादन फलन कहते है । अर्थात् किसी फर्म के भौतिक आदाओं एवं भौतिक उत्पादनों के मध्य संबंधों को उत्पादन फलन की संज्ञा दी जाती है ।

इस प्रकार उत्पादन फलन वह प्राविधिक संबंध है जो यह दर्शाता है कि आदाओं के प्रत्येक विशेष समूह द्वारा कितना उत्पादन किया जा सकता है, इनका विश्लेषण दिये हुए प्राविधिक ज्ञान के संदर्भ में किया जाता है ।

उत्पादन फलन शब्द उस भौतिक संबंध के लिये प्रयुक्त किया जाता है जो एक फर्म के साधनों की इकाइयों (Input) और प्रति इकाई समयानुसार प्राप्त वस्तुओं और सेवाओं

की उत्पत्ति (Output) के मध्य पाया जाता है । इस प्रकार उत्पादन के साधनों की मात्रा में वृद्धि करके एवं इनमें संयोग स्थापित करके उत्पादन को बढ़ाया जा सकता है।

8.3 उत्पादन फलन की मान्यताएं, शर्त सीमाएं

1 उत्पादन फलन निश्चित समयावधि से संबंधित होता है । 2 अल्पकालीन उत्यादन फलन के अन्तर्गत कुछ साधन परिवर्तनशील एवं शेष साधन स्थिर होते है ।

2 दीर्घकालीन उत्पादन फलन के अन्तर्गत सभी साधन परिवर्तनशील होते हैं ।

3 उद्योग, फर्म अथवा साहसी सर्वोत्तम उत्पादन तकनीक का प्रयोग करते है ।

4 साहसी अथवा फर्म उत्पादन के साधन को छोटी-छोटी इकाईयों में बांट सकता है ।

उत्पादन फलन की अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन प्रक्रिया का विश्लेषणात्मक अध्ययन करने से पूर्ण उत्पादन फलन की सम्पूर्ण प्रक्रिया को एक चार्ट के द्वारा समझाया जा सकता है ।

चार्ट द्वारा स्पष्टीकरण

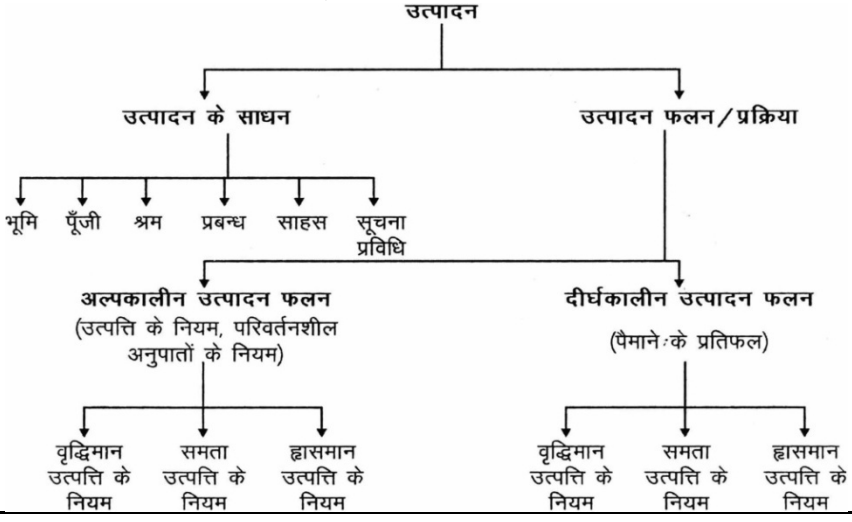

8.4 उत्पत्ति के नियम (अल्पकालीन उत्पादन फलन)

व्यावहारिक बाजार जगत में जब कोई व्यावसायिक फर्म अथवा फर्म उत्पादन में वृद्धि करना चाहते है तो उन्हें उत्पादन के साधनों की मात्रा में भी वृद्धि करनी पड़ती है परन्तु अल्पकाल इतनी कम समयावधि होती है कि फर्म अपने उत्पादन के स्थिर साधनों में परिवर्तन करने में सफल नही हो पाती है, केवल मात्र श्रम (परिवर्तनशील) ही ऐसा साधन होता है जिसमें परिवर्तन किया जा सकता है । इस प्रकार जब व्यावसायिक फर्मे उत्पादन के कुछ साधनों को स्थिर रखकर व अन्य परिवर्तनशील साधनों की मात्रा में परिवर्तन करती हैं और उसके परिणामस्वरूप उत्पादन की मात्रा में जो परिवर्तन होता है उसे उत्पत्ति के नियम अथवा परिवर्तनशील अनुपातों का नियम की संज्ञा दी जाती है ।

आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार, उत्पादन के एक साधन को स्थिर रखकर व अन्य साधनों में परिवर्तन करने से उनके मध्य आनुपातिक परिवर्तन हो जाता है ।

परिणामस्वरूप उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होने लगता है । किन्तु यह हो सकता है कि प्रारम्भ में उत्पत्ति वृद्धि नियम व उत्पत्ति समता नियम लागू हो परन्तु अन्ततः उत्पत्ति ह्रास नियम ही लागू होता है । इसे उत्पत्ति के नियम, परिवर्तनशील अनुपातों का नियम, आनुपातिकता का नियम, ह्रासमान प्रतिफल नियम आदि नामों से जाना जाता है ।

उत्पत्ति नियम के रूप

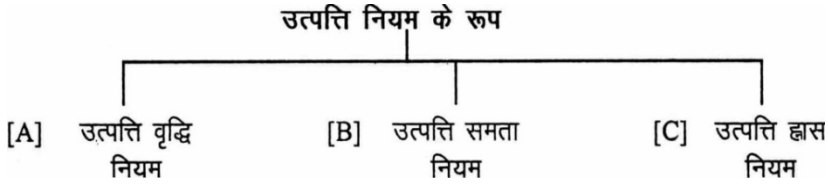

उत्पत्ति ह्रास वृद्धि नियम :- इसके अन्तर्गत उत्पादन के उत्तरोत्तर वृद्धि से जब सीमांत उत्पादन में बढ़ने की प्रवृत्ति होती है तो उसे उत्पत्ति वृद्धि नियम की संज्ञा दी जाती है। इसके अन्तर्गत उत्पादन की मात्रा में वृद्धि, उत्पादन के साधनों में वृद्धि की तुलना में अधिक होती है अर्थात् आय एवं लागत की प्रवृत्ति दृष्टिगत होती हो तो उसे उत्पत्ति वृद्धि नियम कहते हैं ।

[A] **उत्पत्ति समता नियम :-** इसके अन्तर्गत उत्पादन के साधनों में उत्तरोत्तर वृद्धि से सीमांत उत्पत्ति समान रहती है अर्थात् प्रत्येक उत्तरोत्तर साधन की इकाई एवं कुल उत्पादन में समान अनुपात में वृद्धि होती हो तो उसे उत्पत्ति समता नियम की संज्ञा दी जाती है अर्थात् आय एवं लागत में समान अनुपात में परिवर्तन होने की प्रवृत्ति को उत्पत्ति समता नियम कहते हैं ।

[B] **उत्पत्ति ह्रास नियम :-** इसके अन्तर्गत जब उत्पादन में वृद्धि, उत्पादन के साधन के अनुपात से कम होती है तो उसे उत्पत्ति ह्रास नियम कहते है । दूसरे शब्दों में यह कहा जा चुकता है कि उत्पादन के साधनों की मात्रा में वृद्धि से सीमांत उत्पत्ति में वृद्धि कम अनुपात में होती है अर्थात् आय एवं लागत की प्रवृत्ति को उत्पत्ति ह्रास नियम की संज्ञा दी जाती है ।

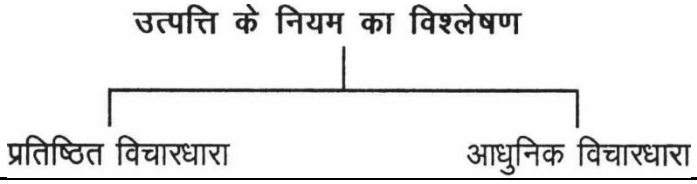

8.5 प्रतिष्ठित विचारधारा

प्रतिष्ठित विचारधारा के अनुसार प्रत्येक व्यावसायिक फर्म उत्पत्ति वृद्धि नियम, उत्पत्ति समता नियम एवं उत्पत्ति ह्रास नियम से गुजरती है जिसका अध्ययन उन्होंने सीमांत उत्पादन (MP) के आधार पर करने का प्रयास किया है । अर्थात् सीमांत उत्पादन की अहम् भूमिका बताते हुए यह कहा कि एक व्यावसायिक फर्म का विश्लेषणात्मक अध्ययन सीमांत उत्पादन के आधार पर किया जा सकड़ा है । जिसे हम अग्रांकित तालिका एवं रेखाचित्र के द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास कर रहे है :-

तालिका द्वारा स्पष्टीकरण

उत्पादन के साधन की इकाइयां (पूँजी व श्रम)	सीमांत उत्पादन (MP) (टन में)		कुल उत्पादन (TP) (टन में)
1	40		40
2	50	उत्पत्ति वृद्धि नियम	90
3	70		160
4	80		240
5	80	उत्पत्ति समता नियम	320
6	70		390
7	50	उत्पत्ति ह्रास नियम	440
8	40		480

उपरोक्त तालिका के अवलोकन से यह स्पष्ट हो रहा है कि श्रम व पूंजी की इकाइयों में उत्तरोत्तर वृद्धि करने से चौथी इकाई तक कुल उत्पादन में श्रम व पूंजी के अनुपात से अधिक वृद्धि हो रही है, इसे उत्पत्ति वृद्धि नियम कहते है । चौथी व पांचवी इकाई पर उत्पादन स्थिर दृष्टिगत हो रहा है उसे समता नियम कहते है तथा छठी इकाई से सीमांत उत्पत्ति ह्रास नियम लागू हो रहा है । इसे अग्रांकित रेखाचित्र द्वारा दर्शाया जा सकता है :-

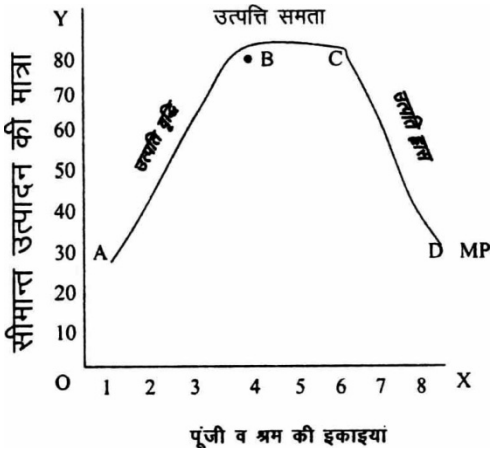

उपरोक्त रेखाचित्र में OX अक्ष पर पूंजी व श्रम की इकाइयां तथा OY अक्ष पर सीमांत उत्पादन की मात्रा को दर्शाया गया है । MP सीमांत उत्पादन रेखा जो A से B बिन्दु तक उत्पत्ति वृद्धि नियम, B से C उत्पत्ति समता नियम एवं C से D बिन्दु तक उत्पत्ति ह्रास नियम दर्शा रही है ।

8.6 नवीन विचारधारा

आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने प्राचीन विचारधारा की आलोचना करते हुए यह बताया कि किसी भी व्यावसायिक फर्म की स्थिति का अवलोकन केवल सीमांत उत्पादन के आधार पर नहीं किया जा सकता है अपितु सीमांत उत्पादन (MP) के साथ-साथ व्यवसाय का कुल उत्पादन (TP) एवं औसत उत्पादन की (AP) भी अहम् भूमिका होती है । नवीन विचारधारा के समर्थकों ने यह बताया कि कोई भी व्यावसायिक फर्म अल्पकाल में उत्पत्ति वृद्धि, उत्पत्ति समता एवं उत्पत्ति ह्रास के स्तर से नहीं गुजरती अपितु विभिन्न अवस्थाओं अर्थात् प्रथम अवस्था, द्वितीय अवस्था एवं तृतीय अवस्था से गुजरती है । जिसे अग्रांकित तालिका एवं रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है :-

तालिका द्वारा स्पष्टीकरण

पूंजी व श्रम की इकाइयां	सीमांत उत्पादन (MP)	कुल उत्पादन (TP)		औसत उत्पादन (AP)
1	10	10		10
2	20	30	Ist	15
3	30	60	stage	20
4	20	80		20
5	10	90	IInd	18
6	0	90	Stage	15
7	–10	80	IIIrd	11.4
8	–20	60	Stage	7.5

उपरोक्त तालिका में फर्म का MP, TP & AP द्वारा व्यवसाय की तीनों अवस्थाओं का अवलोकन करने का प्रयास किया है । अर्थात् पहली से चौथी पूंजी व श्रम की इकाइयां व्यवसाय की प्रथम अवस्था, पांचवी व छठी इकाई से द्वितीय अवस्था एवं सातवी आठवी इकाई से तृतीय अवस्था दृष्टिगत हो रही है ।

रेखा चित्र द्वारा स्पष्टीकरण

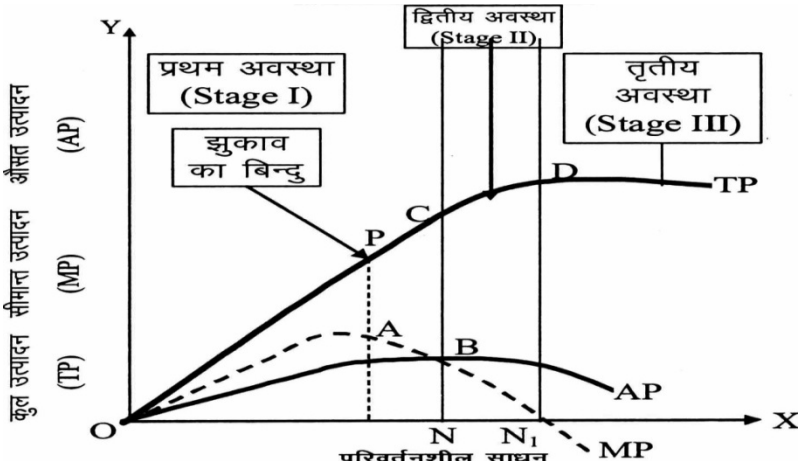

उपरोक्त रेखाचित्र के अवलोकन से यह स्पष्ट हो रहा है कि TP कुल उत्पादन MP सीमांत उत्पादन एवं AP औसत उत्पादन रेखा को दर्शा रहा है । व्यवसाय की OA से प्रथम अवस्था, C से D द्वितीय अवस्था एवं D से TP तृतीय अवस्था हो रही है

8.7 पैमाने के प्रतिफल

उत्पत्ति के नियम अर्थात् अल्पकालीन उत्पादन फलन के अन्तर्गत इस बात का विश्लेषणात्मक अध्ययन कर चुके है कि अल्पकाल में उत्पत्ति के कुछ साधन स्थिर तथा कुछ साधन परिवर्तनशील होते है । इस कारण अल्पकाल मे साधनों के अनुपात में तो परिवर्तन किया जा सकता है, लेकिन उत्पादन के पैमाने को नहीं बदला जा सकता । लेकिन दीर्घकाल में उत्पत्ति के सभी साधन परिवर्तनशील होते है, फलस्वरूप उत्पत्ति के पैमाने में भी परिवर्तन किए जा सकते है ।

दीर्घकालीन उत्पादन फलन अथवा पैमाने के प्रतिफल के अन्तर्गत उत्पादन के सभी साधनों में एक साथ वृद्धि की जाए तो कुल उत्पादन पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा । किसी व्यावसायिक फर्म के अन्तर्गत दीर्घकालीन उत्पादन फलन / उत्पादन क्रिया में साहसी के पास इतनी लम्बी समयावधि होती है कि वह उत्पादन के सभी साधनों मे (स्थिर एवं परिवर्तनशील) परिवर्तन करने मे सफल हो जाता है ।

इस प्रकार किसी फर्म अथवा साहसी द्वारा उत्पादन के सभी साधनों में परिवर्तन करने से उत्पादन की मात्रा में जो परिवर्तन (वृद्धि-कमी) होती है, उसे पैमाने के प्रतिफल अथवा दीर्घकालीन उत्पादन फलन की संज्ञा दी जाती हैं । यदि कोई व्यावसायिक फर्म विनियोजित उत्पादन के साधन की तुलना में अधिक आय प्राप्त करे तो उसे वृद्धिमान पैमाने के प्रतिफल, यदि लागत एवं आगम समान अनुपात में प्राप्त करने की प्रवृत्ति हो तो उसे समता पैमाने प्रतिफल एवं यदि विनियोजित लागत की तुलना में कम आय प्राप्त करे तो उसे ह्रासमान पैमाने के प्रतिफल की संज्ञा दी जाती है ।

पैमाने के प्रतिफल की व्याख्या

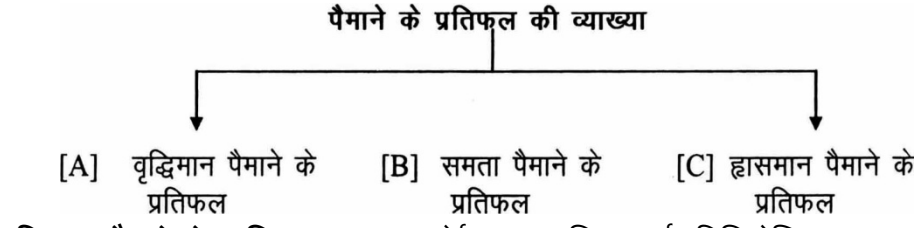

[A] **वृद्धिमान पैमाने के प्रतिफल :-** जब कोई व्यावसायिक फर्म विनियोजित उत्पादन के साधन (लागत) की तुलना में अधिक उत्पादन अथवा आय प्राप्त करे तो उस प्रवृत्ति को वृद्धिमान पैमाने के प्रतिफल की संज्ञा दी जाती है । (MR MC) जिसे अग्रांकित उदाहरण एवं रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है ।

<u>उदाहरण</u>

वृद्धिमान पैमाने के प्रतिफल एवं लागत	वृद्धिमान पैमाने के प्रतिफल एवं आगम / आय

लागत	आय
10 %	10%
20%	25%
30%	45%

लागत	आय
10%	10%
9%	10%
7%	10%

रेखाचित्र 4 रेखाचित्र छ

रेखाचित्र A

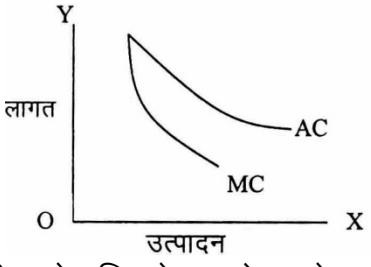

रेखाचित्र B

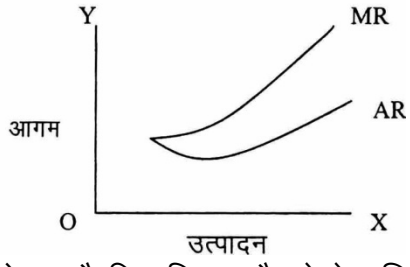

उपरोक्त रेखाचित्र के अवलोकन से यह स्पष्ट हो रहा है कि वृद्धिमान पैमाने के प्रतिफल के अन्तर्गत MC व AC बाएं से दायी ओर नीचे गिरता हुआ होता है । रेखाचित्र B से यह ज्ञात हो रहा है कि वृद्धिमान पैमाने के प्रतिफल के अन्तर्गत MR व AR बाएं से दायी ओर ऊपर उठता हुआ यह दर्शा रहा है कि फर्म की आय में वृद्धि होने से प्रवृत्ति दृष्टिगत हो रही है ।

प्रो. हिक्स ने पैमाने के प्रतिफल को विभिन्न लागत रेखाओं एवं विभिन्न समोत्पादक की व्याख्या की है । जिसे हम अग्रांकित रेखाचित्र द्वारा दर्शा सकते हैं :-

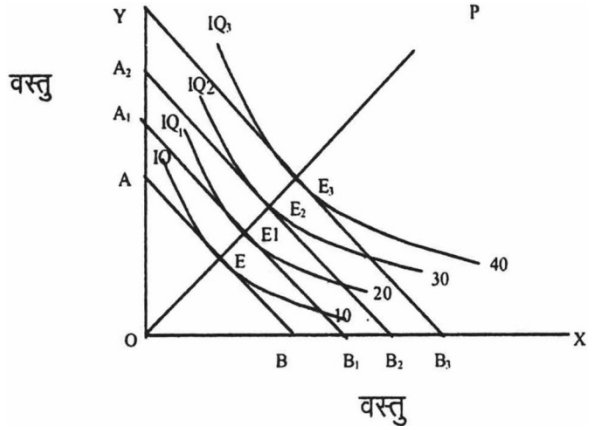

उपरोक्त रेखाचित्र के अवलोकन से यह स्पष्ट हो रहा है कि विभिन्न लागत रेखाएं एवं विभिन्न समोत्पादक वक्र (IQ_1, IQ_2, तथा IQ_3) है जो क्रमश: 10, 20 तथा 30 उत्पन्न को प्रकट करते हैं । OP पैमाने वक्र वह 'विस्तार पथ है, जो यह प्रकट करता है कि श्रम व पूंजी की विभिन्न इकाइयों का प्रयोग करके न्यूनतम लागत पर उत्पाद की विभिन्न मात्राओं का उत्पादन कर सकता है । विस्तार पथ पर E_1, E_2 तथा E_3 बिन्दुओं के बीच ह्रासमान दूरी पैमाने के वृद्धिमान प्रतिफल को प्रकट करती है ।

[B] **समता पैमाने के प्रतिफल :-** समता पैमाने के प्रतिफल उस स्थिति में क्रियान्वित होते हैं जब उत्पादन उसी अनुपात में बढ़ता है जिस अनुपात में दो उत्पादन के साधनों की इकाइयां बढ़ती है । दूसरे शब्दों में उत्पादन में एक समान वृद्धि के लिए उत्पादन के साधनों की इकाइयों में समान अनुपात में वृद्धि करनी पड़ती है । जिसे अग्रांकित उदाहरण एवं रेखाचित्र द्वारा दर्शाया जा सकता है -

<u>उदाहरण</u>

समता पैमाने के प्रतिफल एवं आगम	
लागत	आय / आगम
10%	10%
20%	20%
30%	30%

समता पैमाने के प्रतिफल एवं लागत

रेखाचित्र-A

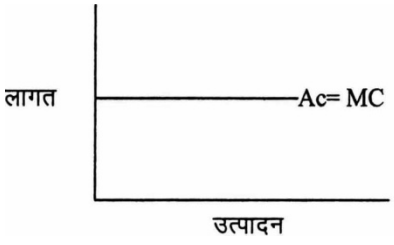

समता पैमाने के प्रतिफल एवं आगम

रेखाचित्र-B

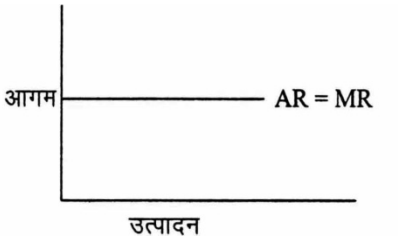

उपरोक्त रेखाचित्र A के अवलोकन से यह स्पष्ट हो रहा है कि समता पैमाने के प्रतिफल के अन्तर्गत AC व MC वक्र एक क्षैतिजीय/समानान्तर रेखा के रूप में दृष्टिगत हो रहा है । रेखाचित्र B से यह ज्ञात हो रहा है कि समता पैमाने के प्रतिफल के अन्तर्गत AR व MR वक्र भी एक क्षैतिजीय/समानान्तर रेखा के रूप में परिलक्षित हो रही है ।

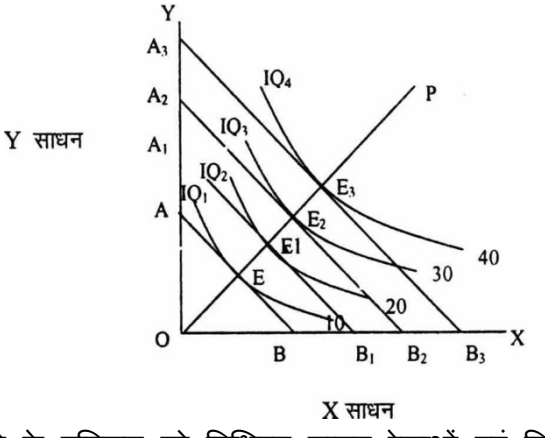

प्रो. हिक्स ने पैमाने के प्रतिफल को विभिन्न लागत रेखाओं एवं विभिन्न समोत्पादक वक्रों के माध्यम से समता पैमाने के प्रतिफल की व्याख्या की है जिसे अग्रांकित रेखाचित्र द्वारा दर्शाया जा सकता है -

उपरोक्त रेखाचित्र के अवलोकन से यह स्पष्ट हो रहा है कि IQ_1, IQ_2, IQ_3 तथा IQ_4 सम-उत्पाद वक्र है जो क्रमश: 10,20,30 व 40 इकाई उत्पादन की मात्रा को दर्शा रहे हैं । OP विस्तार पथ या पैमाना रेखा ही विस्तार पथ पर बिन्दु E, E_1, E_2 व E_3 के बीच समान दूरी पैमाने के स्थिर प्रतिफल को दर्शा रही है ।

[C] **ह्रासमान पैमाने के प्रतिफल :-** जब कोई व्यावसायिक फर्म विनियोजित उत्पादन के साधन (लागत) की तुलना में यदि कम उत्पादन अथवा आय प्राप्त करे तो उसे ह्रासमान पैमाने के प्रतिफल की संज्ञा दी जाती है । दूसरे शब्दों में साधन लागतों में वृद्धि करने पर उत्पादन में अनुपात से कम वृद्धि होती है । जिसे अग्रांकित उदाहरण एवं रेखाचित्रों द्वारा दर्शाया जा सकता है -

<u>उदाहरण</u>

वृद्धिमान पैमाने के प्रतिफल एवं लागत	
लागत	आय
10 %	10%
20%	25%
30%	45%

वृद्धिमान पैमाने के प्रतिफल एवं आगम / आय	
लागत	आय
10%	10%
9%	10%
7%	10%

प्रो. हिक्स ने पैमाने के प्रतिफल की विभिन्न लागत रेखाओं एवं विभिन्न समोत्पादक वक्रों के माध्यम से ह्रासमान पैमाने के प्रतिफल की व्याख्या की है जिसे अग्रांकित रेखाचित्र द्वारा दर्शाया जा सकता है -

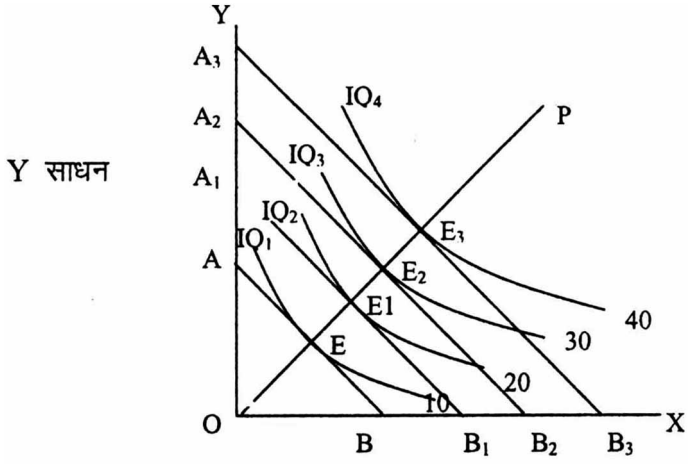

Y साधन

X साधन

उपरोक्त रेखाचित्र के अवलोकन से यह स्पष्ट हो रहा है कि IQ, IQ_1, IQ_2, तथा IQ_3 समोत्पादक वक्र है, जो क्रमश: 10,20,30 व 40 इकाई उत्पादन को प्रकट करते हैं । OP विस्तार पथ या पैमाना रेखा है । विस्तार पथ पर बिन्दु E, E_1, E_2 तथा E_3 के बीच बढ़ती हुई दूरी पैमाने ह्राससमान प्रतिफल को प्रकट करती है ।

8.8 अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन उत्पादन फलन में अन्तर

1 अल्पकालीन उत्पादन फलन के अन्तर्गत एक उत्पादक के पास इतनी कम समयावधि होती है कि वह उत्पादन के सभी साधनों में परिवर्तन नहीं कर सकता है अत: इस क्रिया में कुछ साधनों को स्थिर रखकर एक ही उत्पादन के साधनों में परिवर्तन कर सकता है । दीर्घकालीन उत्पादन फलन के अन्तर्गत उत्पादक के पास पर्याप्त समयावधि होती है । परिणामस्वरूप वह उत्पादन के सभी साधनों में परिवर्तन करके उत्पादन वृद्धि अथवा कमी कर सकता है ।

2 अल्पकालीन उत्पादन फलन में समय की कमी के कारण उत्पादन के साधनों का आपसी संयोग अनुपात बदल सकता है, परन्तु दीर्घकालीन उत्पादन फलन में उत्पादन के साधनों में एक साथ समान अनुपात से वृद्धि या कमी की जा सकती है ।

3 अल्पकालीन उत्पादन फलन के अन्तर्गत एक उत्पादक अपनी वस्तु की को केवल एक सीमा तक परिवर्तित कर सकता है, जबकि दीर्घकालीन उत्पादन फलन में पूर्ति को मांग के अनुरूप परिवर्तित किया जा सकता है ।

4 अल्पकालीन उत्पादन फलन " परिवर्तनशील अनुपातों का नियम " है जबकि दीर्घकालीन उत्पादन फलन में " पैमाने के प्रतिफल " का नियम है ।

5 अल्पकालीन उत्पादन फलन वास्तविक है, इसे देखा जा सकता है । जबकि दीर्घकालीन उत्पादन फलन को किसी नियम के रूप में नहीं देखा जा सकता है ।

8.9 व्यवहारिक प्रश्न

1 उत्पादन फलन से आप क्या समझते है ? इसकी प्रमुख मान्यताएं बताइये ।

2 उत्पत्ति ह्रास नियम की उदाहरण सहित व्याख्या कीजिए ।

3 परिवर्तनशील अनुपातों के नियम की सचित्र व्याख्या कीजिए ।

4 उत्पत्ति के नियम की प्रतिष्ठित विचारधारा को उदाहरण एवं रेखाचित्र द्वारा विवेचना कीजिए ।

5 अल्पकालीन उत्पादन फलन की नवीन विचारधारा का तालिका एवं द्वारा वर्णन कीजिए।

6 दीर्घकालीन उत्पादन फलन की विवेचना कीजिए ।

7 पैमाने के प्रतिफल की सचित्र व्याख्या कीजिए । ।

8 उत्पादन फलन को परिभाषित कीजिए । अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन उत्पादन फलन में अन्तर बताइये ।

8.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. अर्थशास्त्र – आई. सी. धींगरा
2. अर्थशास्त्र – आर. के. अग्रवाल
3. अर्थशास्त्र के सिद्धांत – जे. सी. पन्त
4. अर्थशास्त्र के सिद्धांत – के. पी. जैन

5. व्यष्टि अर्थशास्त्र – लक्ष्मीनारायण नाथूरामका
6. व्यावसायिक अर्थशास्त्र – अग्रवाल एण्ड अग्रवाल

इकाई-9 उत्पादन एवं लागत विश्लेषण (Production and Cost Analysis)

इकाई की रूपरेखा -

9.1 प्रस्तावना

9.2 अर्थ एवं परिभाषा. उत्पादन फलन का अर्थ

9.3 उत्पादन फलन की सामान्य विशेषताएँ

9.4 उत्पादन फलन की मान्यताएँ

9.5 सम-लागत वक्र

9.6 सारांश

9.7 शब्दावली/ पारिभाषिक शब्द

9.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

9.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

9.1 प्रस्तावना (Introduction)

अर्थशास्त्र की मूलभूत समस्याओं में उत्पादन की समस्या भी महत्वपूर्ण है । जिस प्रकार प्रत्येक उपभोक्ता अपनी सीमित आय में अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करना चाहता है, उसी प्रकार एक उत्पादक अपने लाभ को अधिकतम करने के उद्देश्य से सीमित साधनों से कम से कम लागत पर अधिकतम उत्पादन करना चाहता है, ताकि वह अपने लाभ को अधिकतम कर सके, क्योंकि उत्पादक का मुख्य उद्देश्य अधिकतम लाभ प्राप्त करना है । अल्पकाल में उत्पादन के कुछ साधन स्थिर रहते हैं जबकि कुछ में परिवर्तन किया जा सकता है, लेकिन दीर्घकाल में उत्पादन के सभी साधनों में परिवर्तन करना सम्भव होता है । उत्पत्ति के नियम यह बताते हैं कि एक उत्पादक द्वारा अल्पकाल में उत्पादन के कुछ साधनों को स्थिर रखकर अन्य साधनों को परिवर्तित करने पर उत्पादन की मात्रा में किस अनुपात में परिवर्तन होगा । इसी प्रकार दीर्घकाल में उत्पादन के सभी साधनों में परिवर्तन करने से उत्पादन व लागत पर क्या प्रभाव पड़ेगा ।

9.2 अर्थ एवं परिभाषा : उत्पादन फलन का अर्थ

किसी भी वस्तु के लिए उत्पत्ति के विभिन्न साधनों जैसे, श्रम, भूमि, पूँजी आदि के सहयोग की आवश्यकता पड़ती है । जिस वस्तु का उत्पादन किया जाता है, उसे हम उत्पाद (Output) तथा जिन साधनों के संयोग से उत्पादन किया जाता है, उसे हम आदान (Input) कहते हैं । आदान तथा उत्पाद (Output) का सम्बन्ध तकनीकी ज्ञान के स्तर पर निर्भर करता है । अत: एक दी हुई तकनीकी स्थिति में किसी फर्म के उत्पाद तथा आदान के सम्बन्ध को उत्पादन फलन (Production Function) कहा

जाता है, यह किसी निश्चित अवधि से सम्बन्धित होता है । प्रो. सेम्युलसन (Samuelson) के अनुसार, " उत्पादन-फलन वह प्राविधिक सम्बन्ध है जो यह बताता है कि आदानों के प्रत्येक विशेष समूह द्वारा कितना उत्पादन किया जाता है यह किसी दिये हुए प्राविधिक ज्ञान के लिए पारिभाषित या सम्बन्धित होता है । " वास्तव में उत्पादन फलन उत्पादन सम्भावनाओं की सूची है जो यह बताती है कि उत्पादन साधनों (आदानों) के विभिन्न संयोगों से अधिकतम उत्पादन किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है । प्रो. लेफ्टविच के अनुसार, " उत्पादन फलन शब्द उस भौतिक सम्बन्ध के लिए प्रयुक्त किया जाता है जो एक फर्म के साधनों की इकाइयों (Input) और प्रति इकाई समयानुसार प्राप्त वस्तुओं और सेवाओं की उत्पत्ति (Output) के मध्य पाया जाता है।"

उत्पादन फलन का सूत्र

$P = f (a, b, c,.....n)$

यहाँ P= कुल उत्पादन की मात्रा,

F= उत्पादन फलन

तथा a,b,c,.....n= उत्पत्ति के विभिन्न साधन

इस प्रकार उत्पत्ति के साधनों की मात्रा में वृद्धि कर या उनका उचित संयोग स्थापित कर उत्पादन मात्रा को बढ़ाया जा सकता है । दूसरे शब्दों में उत्पादन की कुल मात्रा उत्पादन साधनों की मात्रा व संयोग का परिणाम है । उत्पादन फलन दो बातों पर निर्भर करता है - (1) तकनीकी स्तर, तथा (2) उत्पादन के लिए प्रयोग में लाये जाने वाले साधनों की मात्रा । उत्पादन फलन फर्म। के तकनीकी स्तर पर निर्भर है । यदि उपलख तकनीकी स्तर में सुधार होता है तो उत्पादन साधनों में वृद्धि किये बिना उत्पादन की मात्रा व किस्म में सुधार किया जा सकता है । यदि हम उपलख तकनीक को स्थिर मान लेते हैं तो साधनों में वृद्धि कर उत्पादन की मात्रा में वृद्धि की जा सकती है । इस प्रकार विद्यमान तकनीकी स्तर पर उत्पादन फलन साधनों की मात्रा पर निर्भर करेगा । उत्पत्ति के नियम बताते हैं कि विद्यमान तकनीकी स्तर पर उत्पादन के एक या अधिक साधनों की मात्रा में वृद्धि का उत्पादन की मात्रा पर क्या प्रभाव पड़ेगा ।

9.3 उत्पादन फलन की सामान्य विशेषताएँ

उत्पादन फलन की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं -

1. उत्पादन फलन का सम्बन्ध साधनों (आदानों) की भौतिक मात्रा तथा उत्पादन की भौतिक मात्रा से है ।
2. उत्पादन फलन साधनों की कीमत व उत्पादन की कीमत से सम्बन्धित नहीं होता है । यद्यपि साधनों के मूल्य एवं उत्पादन का मूल्य फर्म के उत्पादन निर्णय को प्रभावित करते है।

3. उत्पादन फलन का अध्ययन एक दी हुई तकनीक अथवा प्रौद्योगिकी के अन्तर्गत किया जाता है, इसलिए तकनीक में परिवर्तन होने पर उत्पादन फलन भी बदल जाता है ।
4. उत्पादन फलन में साधनों को एक-दूसरे के स्थान पर प्रतिस्थापित किया जा सकता है । उदाहरण के लिए श्रम के स्थान पर पूँजी को प्रतिस्थापित किया जा सकता है ।
5. उत्पादन फलन में यदि एक फर्म कुछ साधनों को स्थिर रखकर अन्य साधनों में परिवर्तन करती है, तो इसे परिवर्तनशील अनुपातों के नियम अथवा अल्पकालीन उत्पादन फलन नाम से जाना जाता है ।
6. उत्पादन फलन में यदि एक फर्म सभी साधनों को परिवर्तित करने की स्थिति में होती है, तो यह दीर्घकालीन उत्पादन फलन कहलाता है । इसे पैमाने के प्रतिफल के नाम से जाना जाता है ।

9.4 उत्पादन फलन की मान्यताएँ

उत्पादन फलन निम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित है -

1. इसमें उत्पादन की तकनीक को स्थिर एवं दिया हुआ मान लिया जाता है ।
2. यह माना जाता है कि एक फर्म उत्पादन की सर्वश्रेष्ठ तकनीक (जो उस समय उपलब्ध है) का प्रयोग करेगी ।
3. उत्पादन के साधन विभाज्य हैं अर्थात् छोटी-छोटी इकाइयों में विभाजित जा सकता है ।
4. फर्म अल्पकाल में कुछ साधनों को स्थिर रखकर अन्य साधनों में परिवर्तन कर सकती है ।
5. फर्म दीर्घकाल में सभी उत्पादन साधनों में परिवर्तन कर सकती है ।
6. उत्पादन फलन का सम्बन्ध किसी निश्चित समय अवधि से होता है ।

प्रकार - उत्पादन विश्लेषण को निम्न दो भागों में बांटा गया है -

(A) अल्पकाल में उत्पादन विश्लेषण, व (B) दीर्घकाल में उत्पादन विश्लेषण ।

(A) अल्पकाल में उत्पादन विश्लेषण अथवा उत्पत्ति के नियम (Production Analysis in Shortrun) - अल्पकाल में एक फर्म के पास इतना कम समय होता है कि यह परिवर्तनशील साधनों की मात्रा में तो परिवर्तन कर सकती है, किन्तु स्थिर साधनों की मात्रा में परिवर्तन नहीं कर पाती है । इस प्रकार अल्पकाल में फर्म द्वारा कुछ साधनों को स्थिर रखकर अन्य साधनों की मात्रा में परिवर्तन करने से उत्पादन पर जो प्रभाव पड़ता है, उसे उत्पत्ति के नियम अथवा परिवर्तनशील अनुपातों के नियम के नाम से जाना जाता है । उत्पत्ति के तीन नियम हैं :-

(1) उत्पत्ति वृद्धि नियम,

(2) उत्पत्ति समता नियम, तथा

(3) उत्पत्ति ह्रास नियम

आधुनिक अर्थशास्त्री इन तीन नियमों के स्थान पर उत्पत्ति का एक ही नियम मानते हैं, जिसे परिवर्तनशील अनुपातों का नियम कहते हैं । आधुनिक अर्थशास्त्री उत्पत्ति के तीनों नियमों को परिवर्तनशील अनुपातों के नियम की तीन अवस्थाएँ मानते हैं ।

परिवर्तनशील अनुपातों का नियम (Law of Variable Proportions) - आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार उत्पादन के एक साधन को स्थिर रखकर अन्य साधनों में परिवर्तन करने से उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होता है । उनके अनुसार एक साधन को स्थिर रखकर अन्य साधनों में परिवर्तन करने से उनके मध्य आनुपातिक परिवर्तन आ जाता है । फलस्वरूप उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होने लगता है । यह सम्भव है कि प्रारम्भ में उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू हो ।

नियम की परिभाषा

श्रीमती जॉन रॉबिन्सन के अनुसार, " क्रमागत उत्पत्ति हास नियम, जैसा कि सामान्यत: कहा जाता है, यह बतलाता है किसी एक उत्पादन साधन की मात्रा निश्चित (यथास्थिर) रहने पर तथा अन्य साधनों की मात्राओं से क्रमागत वृद्धि करने से एक सीमा के बाद उत्पादन में घटती हुई दर से वृद्धि होगी ।"

बोल्डिंग के अनुसार, " ज्यों-ज्यों हम किसी एक साधन की मात्रा को अन्य साधनों की स्थिर मात्रा के साथ बढ़ाते हैं तो परिवर्तित साधन की सीमान्त उत्पादकता घटती जाती है । "

प्रो. बेनहम के अनुसार, " उत्पादन साधनों के संयोग में एक साधन का अनुपात ज्यों-ज्यों बढ़ाया जायेगा, एक सीमा के पश्चात्, त्यों-त्यों उस साधन की सीमान्त तथा औसत उपज घटती जायेगी । "

नियम की व्याख्या - उपर्युक्त परिभाषाओं के अध्ययन से स्पष्ट है कि श्रीमती रॉबिन्सन एवं बोल्डिंग की परिभाषायें अधिक वैज्ञानिक एवं उपयुक्त है । श्रीमती रॉबिन्सन एक साधन को स्थिर रखकर अन्य साधनों में परिवर्तन के आधार पर नियम की व्याख्या करती हैं, जबकि बेनहम अन्य सभी साधनों को स्थिर मानकर एक साधन की मात्रा में वृद्धि के आधार पर नियम की व्याख्या करते हैं । वास्तव में इनमें कोई मौलिक अन्तर नहीं है । दोनों के ही अनुसार उत्पादन के कुछ साधनों को स्थिर रखकर कुछ में परिवर्तन करने से साधनों का आदर्श संयोग भंग हो जाता है । फलस्वरूप उत्पत्ति हास नियम लागू होता है । आधुनिक अर्थशास्त्री इस नियम की व्याख्या में कुल उत्पादन (Total Production), सीमान्त उत्पादन तथा औसत उत्पादन की धारणा को विशेष महत्व देते हैं । कुछ साधनों को स्थिर रखकर किसी अन्य साधन की मात्रा में वृद्धि करने से (परिवर्तनशील साधन की निश्चित इकाइयों के प्रयोग से) जो उत्पादन प्राप्त होता है वह कुल उत्पादन कहलाता है । परिवर्तनशील साधन की एक अतिरिक्त इकाई के प्रयोग से कुल उत्पादन में जो वृद्धि होती है उसे सीमान्त उत्पादन कहते हैं । वस्तु के कुल उत्पादन में प्रयोग की जाने वाली

परिवर्तनशील साधनों की समस्त (कुल) इकाइयों का भाग देकर औसत उत्पादन या प्रति इकाई उत्पादन प्राप्त किया जाता है ।

<u>तालिका 9.1</u>

उत्पादन

(उत्पादन क्विंटल में)

श्रम इकाइयाँ (Units)	कुल उत्पत्ति (T.P)	औसत उत्पत्ति (A.P)	सीमान्त उत्पत्ति (M.P)	अवस्थाएँ (Stages)
1	15	15.0	15	
2	35	17.5	20	प्रथम अवस्था
3	60	20.0	25	
4	78	19.5	18	
5	93	18.6	15	द्वितीय अवस्था
6	103	17.2	10	
7	103	14.7	0	
8	93	11.7	–10	
9	78	8.7	–15	तृतीय अवस्था
10	58	5.8	–20	

तालिका में उत्पादन के अन्य साधनों को स्थिर मानते हुए श्रम इकाइयों में वृद्धि के परिणामस्वरूप उत्पादन पर पड़ने वाले प्रभावों को बताया गया है । श्रीमती रॉबिन्सन के, सीमान्त उत्पादन घटने पर उत्पत्ति ह्रास नियम' क्रियाशील होने लगता है । इसी आधार पर नियम की तीन अवस्थायें बतायी गयी हैं । जबकि प्रो. बेनहम के अनुसार सीमान्त उत्पादन तथा औसत उत्पादन दोनों के घटने की प्रक्रिया प्रारम्भ होने पर यह नियम क्रियाशील होता है ।

श्रीमती रॉबिन्सन के अनुसार, इस नियम की तीन अवस्थाएँ निम्नलिखित हैं -

(1) प्रथम अवस्था - तालिका में श्रम की तीन इकाइयों के प्रयोग तक प्रथम अवस्था को बताया गया है । इसके अनुसार परिवर्तनशील साधन (श्रम) की अधिकाधिक मात्राओं के प्रयोग से बढ़ती हुई दर से उत्पादन प्राप्त होता है । श्रम की एक इकाई की सीमान्त उत्पादकता 15 है, दूसरी की 20 व तीसरी की 25 है । श्रम की तीसरी इकाई में सीमान्त उत्पादन सर्वाधिक है । इसका तात्पर्य यह हुआ कि इस बिन्दु पर साधनों का अनुकूलतम संयोग स्थापित हो चुका है । इस सीमा तक कुल उत्पादन, औसत उत्पादन तथा सीमान्त उत्पादन तीनों में वृद्धि हो रही है । कुल उत्पादन बढ़ती हुई दर (क्रमश: 15, 20 व 25) से बढ़ रहा है । इस अवस्था को 'बढते हुए उत्पादन' की अवस्था कहते हैं ।

(2) द्वितीय अवस्था - यह श्रम की चौथी इकाई के प्रयोग से प्रारम्भ हो जाती है, जिसमें कुल उत्पादन घटती हुई दर (क्रमश: 18,15,10 व 0) से बढ़ता है । इस अवस्था में औसत उत्पादन भी घटने लगता है, यह अवस्था सीमान्त उत्पादन में कमी से प्रारम्भ हो जाती है, उसे 'घटते हुए उत्पादन' की अवस्था कहते हैं ।

(3) तृतीय अवस्था - यह श्रम की आठवीं इकाई के प्रयोग से प्रारम्भ हो जाती है, जिसमें कुल उत्पादन घटने लगता है । सीमान्त उत्पादन ऋणात्मक हो जाता है तथा औसत उत्पादन गिरने लगता है । इसे 'घटते हुए उत्पादन की अवस्था कहते हैं ।

इन तीनों अवस्थाओं को रेखाचित्र से समझा जा सकता है । रेखाचित्र में परिवर्तनशील उत्पादन के नियम की तीन अवस्थायें (बेनहम के अनुसार) बतायी गयी हैं -

(1) प्रथम अवस्था - प्रथम अवस्था में श्रमिकों की ON मात्रा लगाने पर कुल उत्पादन प्रारम्भ में D बिन्दु तक बढ़ती हुई दर से बढ़ता है, इसके बाद भी कुल उत्पादन बढ़ता तो है, लेकिन घटती हुई दर पर, क्योंकि सीमान्त उत्पादन A बिन्दु के बाद गिरने लगता है । इस अवस्था में औसत उत्पादन बढ़ता रहता है तथा अपने उच्चतम बिन्दु पर पहुँच जाता है । इस अवस्था को 'बढ़ते हुये प्रतिफल' (Increasing Returns) की अवस्था कहा जाता है

परिवर्तनशील अनुपातों के नियम की तीनअवस्थिये

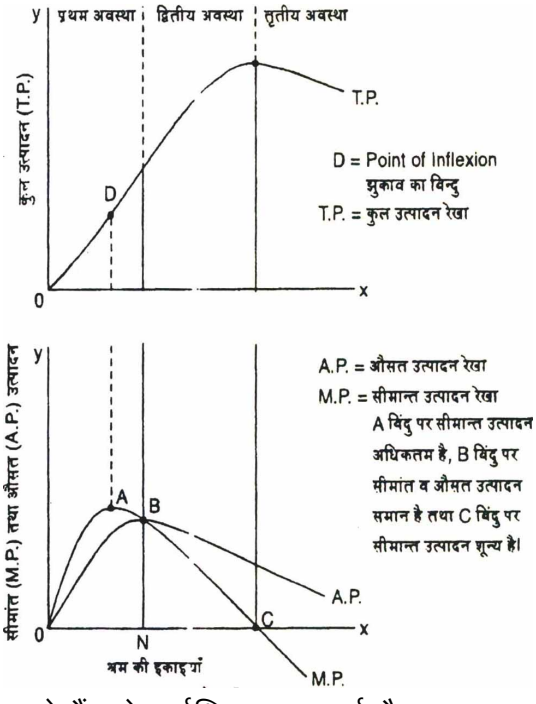

(2) **द्वितीय अवस्था -** इसमें श्रमिकों की संख्या N से C बिन्दु तक बढ़ाने पर कुल उत्पादन बढ़ता है, लेकिन घटती हुई दर से बढ़ता है । इस अवस्था में कुल उत्पादन अधिकतम हो जाता है । इस अवस्था में सीमान्त उत्पादन लगातार घटता जाता है और अन्त में शून्य हो जाता है । इसमें औसत उत्पादन लगातार गिरता रहता है, लेकिन शून्य से अधिक रहता है । इसमें सीमान्त उत्पादन वक्र 'C' बिन्दु पर X-axis से मिल जाती है । इस अवस्था में कुल उत्पादन अधिकतम होता है । 'इसे **घटते हुए प्रतिफल'** (Diminishing Return) की अवस्था कहते हैं, जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है ।

(2) तृतीय अवस्था - इस अवस्था में OC से अधिक श्रमिकों का प्रयोग करने पर कुल उत्पादन घटने लगता है, क्योंकि इस अवस्था में सीमान्त उत्पादन ऋणात्मक हो जाता है । इसका तात्पर्य यह है कि उत्पादन साधन की इकाइयाँ बढ़ाने पर उत्पादन में कमी आती है । इसी कारण MP रेखा X-axis के नीचे चली जाती है । इस अवस्था में औसत उत्पादन घटता है, लेकिन शून्य नहीं होता । इसे ऋणात्मक प्रतिफल (Negative Returns) की अवस्था कहते हैं । कोई भी उत्पादक इस अवस्था में

पहुँचने से पूर्व ही अपना उत्पादन बन्द कर देता है, क्योंकि इसमें उसे हानि उठानी पड़ेगी ।

उपर्युक्त तीनों अवस्थाओं के अध्ययन के आधार पर हम कह सकते हैं कि उत्पादन के अन्य साधनों को स्थिर रखकर किसी एक साधन (श्रम) की मात्रा में उत्तरोत्तर वृद्धि करने से सीमान्त उत्पादन, फिर औसत उत्पादन तथा अत्त में कुल उत्पादन में कमी आ जायेगी । इन अवस्थाओं में से द्वितीय अवस्था में उत्पादन करने पर ही उत्पादक को अधिकतम लाभ प्राप्त होगा, क्योंकि प्रथम अवस्था में उत्पादन बढ़ाकर वह अपने लाभ को बढ़ा सकता है । तृतीय अवस्था में उत्पादन करने से कुल उत्पादन घटेगा, जिससे उसे हानि होगी ।

उत्पत्ति के नियम प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की व्याख्या (Laws of Returns: The Classical Approach)

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने उत्पत्ति के नियम की तीन अवस्थाएँ बतायी हैं :-

(1) **उत्पत्ति वृद्धि नियम (Law of Increasing Returns) :** यदि उत्पादन के परिवर्तनशील साधन की। मात्रा में अधिक वृद्धि होती है, तो उसे उत्पत्ति वृद्धि नियम या लागत हास नियम कहा जाता है । यह नियम उत्पादन की प्रारम्भिक अवस्थाओं में लागू होता है । जब उत्पादन के स्थिर साधनों की तुलना में परिवर्तनशील साधनों का अनुपात कम होता है, तब परिवर्तनशील साधनों की मात्रा (इकाइयों) में वृद्धि से स्थिर साधनों के साथ उसका अनुकूलतम संयोग स्थापित होने लगता है, इसलिए हम जितनी मात्रा में परिवर्तनशील साधनों में वृद्धि करते हैं, उत्पादन की मात्रा उससे कहीं अधिक बढ़ती है ।

उत्पत्ति वृद्धि के नियम की व्याख्या (Laws of Increasing Returns) उत्पत्ति वृद्धि नियम इस मान्यता पर आधारित है कि उत्पादन के परिवर्तनशील साधन की इकाइयों में वृद्धि से उत्पादन संगठन में संधार होता है, इससे सीमान्त उत्पादन व औसत उत्पादन में वृद्धि होती है एवं कुल उत्पादन बढ़ती हुई दर से बढ़ता है । यह तभी होता है जब उत्पादन की प्रारम्भिक अवस्था में परिवर्तनशील साधनों की बहुत कम इकाइयों का प्रयोग हो रहा है । जैसे-जैसे साधन की मात्रा बढ़ाते जाते हैं, उत्पादन साधनों का उचित संयोग होने लगता है । अत: उत्पादन की मात्रा भी बढ़ने लगती है । एक सीमा पर समस्त साधनों का अनुकूलतम संयोग प्राप्त हो जाता है, वहाँ सीमान्त उत्पादन अधिकतम होता है ।

नियम का स्पष्टीकरण - इस नियम का स्पष्टीकरण निम्नलिखित उदाहरण हारा किया जा सकता है-

तालिका 92

उत्पादन साधनों की इकाइयों का उत्पादन

श्रम व पूँजी इकाइयों (परिवर्तनशील साधन)	कुल उत्पत्ति (T.P)	सीमान्त उत्पत्ति (M.P)	औसत उत्पत्ति (A.P)

1	8	8	8
2	18	10	9
3	32	14	10.6
4	49	17	12.2
5	69	20	13.8

तालिका 9.2 से स्पष्ट है कि परिवर्तनशील साधन (श्रम व पूँजी) की इकाइयों में उत्तरोत्तर वृद्धि करने से सीमान्त उत्पादन तथा औसत उत्पादन दोनों रहे हैं । सीमान्त उत्पादन, औसत उत्पादन की तुलना में अधिक तेजी से बढ़ रहा है तथा कुल उत्पादन बढती हुई दर से बढ़ रहा है । उत्पत्ति वृद्धि नियम के लागू होने के कारण या दशाएँ (Causes or Conditions of its Operaton) - उत्पत्ति वृद्धि नियम निम्न कारणों से लाग होता है -

(1) उत्पादन साधनों की अविभाज्यता - श्रीमती जॉन रॉबिन्सन के अनुसार, इस नियम की क्रियाशीलता का मुख्य कारण उत्पादन के साधनों की अविभाज्यता है । इसका अर्थ है कि उत्पादन के साधनों को छोटे-छोटे भागों में विभक्त नहीं किया जा सकता है । उत्पादन की प्रारम्भिक अवस्था में उत्पादन की मात्रा में ज्यों-ज्यों वृद्धि की जाती है, अविभाज्य साधनों (जैसे मशीन, प्रबन्धक) का त्यों-त्यों अधिक उपयोग होने लगता है । फलस्वरूप साधनों की तुलना में उत्पादन में अधिक वृद्धि होती है ।

(2) बडे पैमाने के उत्पादन की बचतें - उत्पादन की मात्रा में वृद्धि से उद्योग को बड़े पैमाने के उत्पादन की बचतें प्राप्त होने लगती हैं । फलस्वरूप उत्पादन लागत कम होने लगती है ।

(3) साधनों का प्रतिस्थापन - उत्पादन की मात्रा बढ़ाने के लिए उत्पादन साधनों में इस प्रकार परिवर्तन किया जाता है कि मँहगें साधनों पर सस्ते साधन प्रतिस्थापित हो सके । इस प्रतिस्थापित क्रिया से उत्पादन लागत घटती है व उत्पादन मात्रा बढ़ती है ।

(4) अनुकूलतम आकार - उत्पादन बढ़ाने पर फर्म अनुकूलतम आकार की ओर अग्रसर होती है । अत: अनुकूलतम बिन्दु पर पहुँचने तक उत्पादन लागत कम होती है ।

(5) साधनों की पूर्ति - यदि उत्पादन के साधन पर्याप्त मात्रा में उपलख हो तो उत्पादन में परिवर्तन द्वारा लागत को कम करने का प्रयत्न किया जाता है तथा उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू होता है ।

(6) कुशल प्रबन्ध - उत्पत्ति वृद्धि नियम के लागू होने का एक कारण व्यवसाय का कुशल प्रबन्ध भी है । इससे उत्पादन की प्रारम्भिक अवस्था में ही उत्पादन साधनों के मध्य उचित समन्वय स्थापित कर लिया जाता है । फलस्वरूप उत्पादन लागत कम होने लगती है ।

(7) मानवीय प्रभाव - जिन उद्योगों में प्रकृति का प्रभाव अधिक पड़ता है, वहाँ उत्पत्ति हास नियम शीघ्र ही क्रियाशील हो जाता है, जैसे कृषि । इसके विपरीत जिन पर

मानवीय प्रभाव अधिक पड़ता है, वहाँ उत्पत्ति वृद्धि नियम अधिक प्रभावी रहता है, जैसे निर्माणकारी उद्योग ।

(8) वैज्ञानिक आविष्कार - वैज्ञानिक आविष्कारों एवं नवीन तकनीक के प्रयोग द्वारा उत्पत्ति वृद्धि नियम को जारी रखा जाता है ।

(2) उत्पत्ति समता नियम या समता प्रतिफल नियम (Law of Constant Returns)

उत्पत्ति समता नियम, उत्पत्ति वृद्धि नियम की समाप्ति व उत्पत्ति ह्रास नियम के प्रारम्भ के बीच की अवस्था है । यह उत्पादन की अति अल्पकालीन अवस्था है । इस प्रकार यह उत्पत्ति वृद्धि एवं उत्पत्ति हास नियम के मध्य कड़ी का कार्य करता है । इस नियम के अनुसार जिस अनुपात में उत्पादन के साधनों में वृद्धि की जाती है, उत्पादन में भी ठीक उसी अनुपात में वृद्धि होती है, जैसे यदि उत्पादन के साधनों की मात्रा बढ़ाकर दुगुनी कर दी जाए तो उत्पादन की मात्रा भी बढ़कर दुगुनी हो जायेगी ।

नियम का स्पष्टीकरण (Explanation)

उत्पत्ति समता नियम यह प्रकट करता है कि उत्पादन क्रिया में परिवर्तनशील उत्पादन साधनों की मात्रा में वृद्धि की जाये तो सीमान्त उत्पत्ति ठीक उसी अनुपात में बढ़ेगी, जिस अनुपात में उत्पादन साधनों में वृद्धि की गई है । **मार्शल** ने इस नियम को इस प्रकार परिभाषित किया है, **'जब समस्त उत्पादन सेवाओं में एक दिये हुए अनुपात में वृद्धि कर दी जाती है तो उत्पत्ति उसी अनुपात से बढ जाती है ।'**

उदाहरणार्थ, यदि उत्पादन साधनों में 10 प्रतिशत वृद्धि की जाती है तो कुल उत्पादन भी 10 प्रतिशत से बढ़ जायेगा । इस नियम के अनुसार उत्पादन-साधनों में वृद्धि करने पर सीमान्त लागत' सदेव समान रहती है । अत: इस नियम को 'लागत समता नियम' (Law of Constant Cost) की भी संज्ञा दी गयी इस नियम को 'अनुकूलतम आकार (Optimium Size) के सन्दर्भ में भी स्पष्ट किया जा सकता है । यदि कोई फर्म 'अनुकूलतम आकार' प्राप्त करने की दिशा में प्रयत्नशील है, तो वह 'क्रमागत उत्पत्ति वृद्धि' प्राप्त करेगी । यदि फर्म 'अनुकूलतम आकार' की सीमा को पार कर जाती है तो वह 'क्रमागत उत्पत्ति हास' प्राप्त करेगी; परन्तु जब तक वह 'अनुकूलतम बिन्दु' पर उत्पादन कर रहीं है, उस समय तक क्रमागत उत्पत्ति समता प्राप्त करेगी । अत: यह फर्म के अनुकूलतम आकार का प्रतीक है ।

3. उत्पत्ति ह्रास नियम (Law of Diminishing Returns)

मार्शल के अनुसार यह नियम केवल कृषि (गहन कृषि) में लागू होता है, लेकिन आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार यह नियम उत्पादन के सभी क्षेत्रों में लागू होता है । आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार उत्पादन के एक साधन को स्थिर रखकर अन्य साधनों में परिवर्तन करने से उत्पत्ति हास नियम लागू होता है । उनके अनुसार एक साधन को स्थिर रखकर अन्य साधनों में परिवर्तन करने से उनके मध्य आनुपातिक परिवर्तन आ जाता है । फलस्वरूप उत्पत्ति हारा नियम लागू होने लगता है । यह सम्भव है कि प्रारम्भ में उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू हो । इसे आनुपातिकता का नियम,

परिवर्तनशील अनुपातों का नियम, हासमान प्रतिफल नियम आदि अनेक नामों से जाना जाता है ।

उत्पत्ति ह्रास नियम की मान्यतायें या सीमाएँ (Assumptions)

उत्पत्ति हास नियम निम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित है -

(1) उत्पादन एक निश्चित एवं दिए हुए तकनीकी स्तर पर किया जाता है ।

(2) उत्पादन में 'पैमाने की बचतें प्राप्त नहीं होती है ।

(3) इस नियम में वस्तु की उत्पादन मात्रा पर ध्यान दिया जाता है, वस्तु के मूल्य पर नहीं ।

(4) उत्पादन साधन को छोटी-छोटी इकाइयों में विभक्त किया जा सकता है ।

(5) यह नियम तभी लागू होता है जब उत्पादन के अन्य साधनों को स्थिर रखकर किसी एक साधन में परिवर्तन किया जाये ।

(6) परिवर्तनशील साधन की सभी इकाइयाँ समरूप हो ।

(7) इस नियम में यह मान लिया जाता है कि उत्पादन साधनों का संयोग पहले से ही सर्वोत्तम है ।

उत्पत्ति ह्रास नियम के लागू होने के कारण (Causes of Operation of Law)

उत्पत्ति ह्रास नियम के लाग होने के निम्नलिखित कारण हैं :-

(1) **एक या एक से अधिक साधनों का स्थिर रहना -** इस नियम की क्रियाशीलता का प्रमुख कारण यह है कि हम उत्पादन के एक या एक से अधिक साधनों को स्थिर मान लेते हैं तथा अन्य साधनों में परिवर्तन करते हैं । ऐसी स्थिति में उत्पादन साधनों का आदर्श संयोग भंग हो जाता है, तथा परिवर्तनशील साधन की मात्रा बढ़ने के बावजूद अन्य साधनों की मात्रा स्थिर रहने के कारण उत्पादन कम बढ़ता है ।

(2) **साधनों की अविभाज्यता -** उत्पादन के साधन सीमित होने के साथ-साथ अविभाज्य भी होते हैं । अविभाज्य साधन (मशीन) आदर्शतम बिन्दु (पूर्ण क्षमता) तक तो उत्पादन बढ़ाते जाते हैं, लेकिन इस आदर्श बिन्दु के बाद इसका प्रयोग करने पर उत्पादन में वृद्धि की दर कम हो जाती है ।

(3) **साधनों की सीमितता -** कुछ उत्पादन साधनों की पूर्ति सीमित होती है । अ?त: उत्पादन में वृद्धि करते समय तथा फर्म के संगठन में परिवर्तन करते समय साधनों की सीमितता को ध्यान में रखना होता है । कृषि व्यवसाय मे भूमि सीमित होती है । अत: यह नियम लागू होता है ।

(4) **उत्पादन साधनों का अपूर्ण स्थानापन्न होना -** उत्पादन के सभी साधन एक दूसरे के पूर्ण स्थानापन्न नहीं होते हैं । यदि हम उन्हें स्थानापन्न मान भी लें तो उन्हें एक सीमा तक ही एक दूसरे से प्रतिस्थापित किया जा सकता है ।

(5) **उत्पादन क्षमता से अधिक उत्पादन -** अल्पकाल में यदि कोई फर्म अपनी क्षमता से अधिक उत्पादन कर रही है, तो यह नियम लागू होगा । औसत लागत वक्र का निम्नतम बिन्दु, न्यूनतम लागत को प्रकट करता है । यदि कोई फर्म इस बिन्दु से

अधिक उत्पादन कर रही है, तो प्रति इकाई उत्पादन लागत बढ़ती है तथा उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होने लगता है ।

उत्पत्ति ह्रास नियम का महत्व -

यह नियम अर्थशास्त्र के क्षेत्र में एक आधारभूत नियम है । इसका महत्व निम्न विवरण से स्पष्ट है -

(1) **अर्थशास्त्र का आधारभूत नियम -** यह नियम उत्पत्ति के हर क्षेत्र, कृषि, मछली, खनन, निर्माण उद्योग आदि सभी क्षेत्रों में लागू होता है । इसीलिए यह नियम सार्वभौमिक है। अत: इसे अर्थशास्त्र का आधारभूत नियम माना जाता है ।

(2) **माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त इसी पर आधारित है -** माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त उत्पादन हास नियम पर आधारित है । माल्थस के सिद्धान्त के अनुसार एक देश में खाद्य-सामग्री में धीमी गति से वृद्धि का कारण उत्पादन हास नियम ही है ।

(3) **रिकार्डो का लगान सिद्धान्त भी इसी नियम पर आधारित है -** कृषि क्षेल में (गहन कृषि में) भूमि के एक निर्धारित टुकड़े पर श्रम तथा पूँजी की अधिकाधिक इकाइयों को प्रयोग करने से प्रारम्भिक इकाइयों की अपेक्षा बाद की इकाइयों की उत्पत्ति कम होती है । जिसका कारण उत्पत्ति हास नियम लागू होना है । इस नियम के कारण ही लगान प्राप्त होता है ।

(4) **वितरण के सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त का आधार -** उत्पादन साधनों के पुरस्कार निर्धारण का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त सीमान्त उत्पादकता का सिद्धान्त है, जो कि उत्पादन ह्रास नियम पर ही आधारित है । इस नियम के कारण ही परिवर्तनशील साधन की सीमान्त उत्पादकता घटती है । अत: उनका पुरस्कार घटता जाता है ।

(5) **प्रतिस्थापन सिद्धान्त का आधार**-प्रत्येक उत्पादक उत्पत्ति के साधनों की सीमान्त उत्पत्ति घटने के कारण ही ऐसे बिन्दु पर उनका संयोग बैठाता है, जहाँ सबके सीमान्त उत्पत्ति तथा मूल्य का अनुपात बराबर हो ।

(6) **आविष्कारों का प्रेरणास्त्रोत -** इस नियम की क्रियाशीलता की प्रवृत्ति को रोकने के लिए ही नये-नये आविष्कारों का जन्म हुआ है, क्योंकि इस नियम की क्रियाशीलता से उत्पादन घटाया जाता है । घटते हुए उत्पादन को रोकने के लिए नयी-नयी उत्पादन विधियों को जन्म मिलता है ।

(7) **जनसंख्या के प्रयास हेतु उत्तरदायी -** एक क्षेत्र में भूमि पर जनसंख्या का दबाव बढ़ने के कारण सीमान्त उत्पत्ति घटती है, जिसके परिणामस्वरूप जनसंख्या एक क्षेत्र से हटकर दूसरे क्षेत्र में प्रवास कर जाती है ।

इस प्रकार उत्पत्ति ह्रास नियम अर्थशास्त्र का महत्त्वपूर्ण एवं सर्वव्यापक नियम है । किसी भी प्रकार के उत्पादन में इसकी क्रियाशीलता निश्चित है । अत: यह सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी है ।

उत्पत्ति ह्रास का नियम की क्रियाशीलता को स्थगित किया जा सकता है

यह सत्य है कि उत्पत्ति हास नियम एक सर्वव्यापक नियम है जो उत्पादन के सभी क्षेत्रों जैसे; कृषि, उद्योग आदि में क्रियाशील होता है, लेकिन इस नियम की क्रियाशीलता को कुछ समय के लिए स्थगित किया जा सकता है । इसे पूर्णतया समाप्त नहीं किया जा सकता है । कृषि क्षेत्र में उन्नत बीज, रासायनिक खाद, कीटनाशक दवाईयाँ, कृषि यंत्र व उपकरणों के प्रयोग से इस नियम की क्रियाशीलता को भविष्य के लिए स्थगित किया जा सकता है । उद्योगों में भी नये-नये आविष्कारों, मशीनों के प्रयोग, नयी किस्म के कच्चे माल की प्राप्ति, नयी उत्पादन विधियों की खोज एवं उनके प्रयोग द्वारा इस नियम की क्रियाशीलता को बहुत समय तक रोके रखा जा सकता है । अधिकांश विकसित देशों ने नयी उत्पादन विधियों के प्रयोग व नये आविष्कारों तथा खोज की सहायता से उत्पत्ति हास नियम की क्रियाशीलता को रोक रखा है, लेकिन इस नियम को बिल्कुल समाप्त नहीं किया जा सकता है ।

उत्पत्ति हास नियम के सम्बन्ध में निष्कर्ष

1. यह नियम सर्वव्यापक है और उत्पादन के प्रत्येक क्षेत्र में लागू होता है । जहाँ प्रकृति का प्रभाव ज्यादा है, वहाँ यह शीघ्र क्रियाशील हो जाता है और जहाँ मानवीय प्रभाव ज्यादा है, वहाँ कुछ देर से क्रियाशील होता है ।
2. यह नियम उत्पादन के मूल्य से सम्बन्धित न होकर उत्पादन मात्रा से सम्बन्धित होता है ।
3. उत्पत्ति ह्रास नियम एक तर्कसंगत अनिवार्यता है । उत्पत्ति वृद्धि नियम एवं उत्पत्ति समता नियम तो इसकी अस्थायी अवस्थायें मात्र हैं ।
4. कुछ साधनों को स्थिर रखकर कुछ में परिवर्तन करने से अनुकूलतम संयोग भंग हो जागा है तभी यह नियम लागू होता है अर्थात यह नियम परिवर्तनशील साधनों के अनुकूलतम संयोग के बाद ही लग होता है।
5. वैज्ञानिक विधियों के प्रयोग द्वारा इसे भविष्य के लिए स्थगित किया जा सकता है ।

(B) दीर्घकाल में उत्पादन विश्लेषण (Production Analysis in Long-run)

दीर्घकाल में उत्पादक को इतना समय मिल जाता है कि वह उत्पादन के सभी साधनों में परिवर्तन कर सकता है । पैमाने का प्रतिफल उत्पादन साधनों में पूर्ण परिवर्तन या उत्पादन की दीर्घकालीन विचारधारा को बताता है । इसमें दीर्घकाल में उत्पादन के सभी साधनों में एक ही अनुपात में परिवर्तन करने से कुल उत्पादन पर क्या प्रभाव पड़ेगा, इसका अध्ययन किया जाता है । इस नियम को समोत्पत्ति वक्र एवं सम लागत वक्रों की सहायता से समझा जाता है ।

सम-उत्पादन (समोत्पत्ति) वक्र का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Isoquants)- जिस प्रकार वस्तुओं का संयुक्त (दो या दो से अधिक वस्तुओं का एक साथ) उपयोग किया जाता है, उसी प्रकार उत्पादन साधनों का भी संयुक्त रूप से प्रयोग होता है अर्थात् श्रम के साथ पूँजी, संगठन, साहस आदि को मिलाकर ही उत्पादन किया जा सकता है । समोत्पत्ति वक्र दो उत्पादन साधनों के ऐसे संयोग को बताते हैं, जिनसे

एक समान उत्पादन प्राप्त होता है । समोत्पत्ति वक्र दो साधनों के ऐसे विभिन्न संयोगों को बताता है, जिनसे एक फर्म उत्पादन की समान मात्रा उत्पादित करती है । **कीरस्टेड के अनुसार, " समोत्पत्ति रेखा दो साधनों के उन सभी सम्भावित संयोगों को बताती है जो कि एक समान कुल उत्पादन प्रदान करते हैं ।"**

व्याख्या - समोत्पत्ति वक्र की अवधारणा को निम्न तालिका द्वारा स्पष्ट " किया जा सकता है -

संयोजक	श्रम की इकाईयाँ (साधन X)	पूँजी की इकाईयाँ (साधन Y)	कुल उत्पादन इकाईयाँ में
A	1	8	50
B	2	5	50
C	3	3	50
D	4	2	50

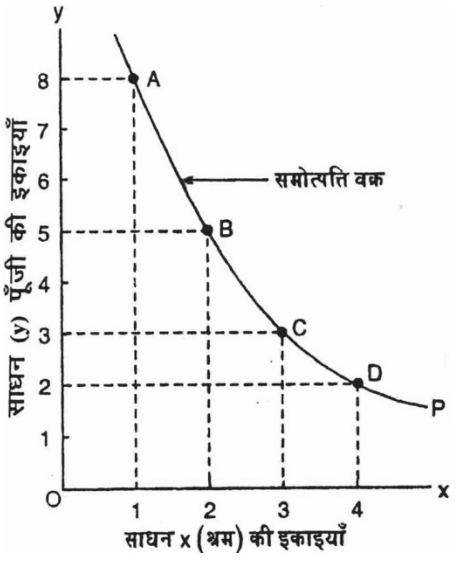

इस तालिका में हम यह मानकर चलते हैं कि किसी वस्तु का उत्पादन करने के लिए फर्म केवल दो साधनों X (श्रम) तथा Y (पूँजी) का प्रयोग करती है । उत्पादन की तकनीक स्थिर रहती है । इन दोनों साधनों के विभिन्न संयोगों (A, B, C तथा D) से फर्म श्रम को 50 इकाइयों के साधनों के समान उत्पादन प्राप्त होता है । तालिका के अनुसार संयोग A की स्थिति में फर्म श्रम की 1 इकाई व पूँजी की 8 इकाइयाँ लगाकर 50 इकाइयों का उत्पादन प्राप्त कर रही है । इसी प्रकार संयोग 'B' की स्थिति में 2 श्रम + 5 पूँजी, संयोग 'C' की स्थिति में 3 श्रम + 3 पूँजी तथा संयोग 'D' की स्थिति में 4 श्रम + 2 पूँजी लगाकर एक समान (50 इकाइयों) उत्पादन प्राप्त होता है । यदि इन विभिन्न संयोगों को रेखाचित्र के रूप में दर्शाया जाये तो जो रेखाचित्र उभरता है, उसे ही समोत्पत्ति वक्र कहते हैं । उदाहरण में दी गई तालिका को रेखाचित्र के रूप में प्रस्तुत कर समोत्पादन वक्र तैयार किया जा सकता है । रेखाचित्र में 'P' समोत्पत्ति वक्र है । यह दो उत्पादन साधनों के उन विभिन्न संयोगों को बताता है जिनसे एक समान उत्पादन प्राप्त होता है ।

समोत्पत्ति वक्र विश्लेषण की मान्यताएँ :

1. यह मान लिया जाता है कि एक समय विशेष पर उत्पादन के दो ही साधन हैं ।
2. उत्पादन की तकनीकी दशाएँ यथावत् हैं ।
3. उत्पादन के लिए प्रयुक्त साधन पूर्णतया विभाज्य है । इस विशेषता के कारण ही समतल समोत्पत्ति रेखाएँ खींची जा सकती है ।
4. उत्पादन की तकनीकी दशाओं में साधनों का अनुकूलतम (कुशलतम) संयोग किया गया है ।

समोत्पत्ति वक्रों की विशेषताएँ :

समोत्पत्ति वक्रों की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :-

1. ऊँचा समोत्पत्ति वक्र उत्पादन के ऊँचे स्तर को बताता है ।
2. समोत्पत्ति वक्र मूल बिन्दु के प्रति उन्नतोदर होते हैं ।
3. समोत्पत्ति वक्र सदैव नीचे की ओर दाहिने झुकते होते हैं ।
4. दो समोत्पत्ति वक्र एक-दूसरे को नहीं काटते हैं ।
5. समोत्पत्ति वक्र परिधि रेखाओं को अंकित करने में सहायक होते हैं ।

तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (Marginal Rate of Technical Substitution)

समोत्पत्ति वक्र विश्लेषण में तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर के विचार का विशेष महत्व है । समोत्पत्ति वक्र के बिन्दु उत्पादन की समान मात्रा के सूचक हैं । दो साधनों X (श्रम) तथा Y (पूँजी) के संयोग में यदि एक साधन (X) मात्रा बढ़ायी जाती है, तो स्वाभाविक रूप से दूसरे साधन 'Y' की मात्रा घटायी जायेगी । ऐसी स्थिति में पहले जितना उत्पादन होगा अर्थात् उत्पादन का स्तर पूर्ववत् बना रहेगा । एक साधन के स्थान पर दूसरे साधनों को प्रतिस्थापित करने की दर ही तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर कहलाती है ।

उत्पादन प्रक्रिया में एक साधन को दूसरे साधन के स्थान पर इस प्रकार प्रतिस्थापित किया जाता है, जिससे उत्पादन पूर्ववत् बना रहे । तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर के द्वारा ही साधन के प्रतिस्थापन की योग्यता को मापा जाता है । संक्षेप में, " **एक साधन X की साधन X के लिए तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर ' Y' की वह मात्रा है जो X की एक अतिरिक्त इकाई बढाने की प्रतिक्रिया में घटायी जाती है ताकि उत्पादन का स्तर पहले के समान ही बना रहें ।"**

तकनीकी प्रतिस्थापन की घटती हुई सीमान्त दर - तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर घटती हुई होती है । दो साधनों X तथा Y के संयोग में यदि एक साधन X की मात्रा बढ़ायी जाती है तो दूसरे साधन Y की मात्रा घटानी पड़ेगी तभी उत्पादन पूर्ववत् रहेगा । ऐसी स्थिति में साधन X की प्रत्येक अतिरिक्त इकाई को साधन Y की घटती हुई मात्रा से प्रतिस्थापित किया जाता है अर्थात् X की प्रत्येक अगली इकाई के लिए Y साधन की उत्तरोत्तर कम इकाइयाँ छोड़ी जायेंगी । इसे ही तकनीकी प्रतिस्थापन की घटती हुई सीमान्त दर कहा जाता है ।

9.5 सम-लागत वक्र (ISO-Cost Curve)

सम-लागत वक्र वह वक्र है जो साधनों के मूल्यों तथा उत्पादक द्वारा साधनों के क्रय पर व्यय की जाने वाली धनराशि को व्यक्त करता है । दूसरे शब्दों में, **सम लागत रेखा वह रेखा है जो दो साधनों के उन विभिन्न संयोगों को प्रकट करती है जो एक उत्पादक दी हुई व्यय राशि तथा दोनों साधनों के दिये हुए मूल्यों पर क्रय कर सकता है ।** इसे व्यय रेखा, आदा रेखा तथा साधन लागत रेखा के नाम से भी जाना जाता है।

पैमाने के प्रतिफल (Returns to Scale)

पैमाने के प्रतिफल का अर्थ यह है कि उत्पादन के सभी साधनों की मात्रा में आनुपातिक परिवर्तन करने से उनके प्रतिफल में क्या परिवर्तन होते हैं ? अर्थात् उत्पादन के सभी साधनों में समान अनुपात में परिवर्तन करने से उत्पादन में जो परिवर्तन होते हैं, उन्हें पैमाने के प्रतिफल की संज्ञा दी जाती है । यही यह ध्यान देने योग्य बात है कि उत्पादन के सभी साधनों में परिवर्तन केवल दीर्घकाल में ही हो सकता है । इसलिए पैमाने के प्रतिफल का सम्बन्ध दीर्घकालीन उत्पादन फलन से होता है । संक्षेप में यह कह सकते हैं कि पैमाने के प्रतिफल का तात्पर्य उत्पादन साधनों के अनुपात में परिवर्तन किए बिना उत्पादन साधनों में वृद्धि के फलस्वरूप उत्पादन मात्रा पर पड़ने वाले प्रभाव से है । यदि उत्पादन साधनों में वृद्धि (25%) से उत्पादन मात्रा भी (25%) बढ़ जाती है तो **"पैमाने के स्थिर प्रतिफल"** प्राप्त होगा । यदि साधनों में वृद्धि (25%) की तुलना में उत्पादन में (50%) वृद्धि होती है ? तो **"पैमाने के बढते हुए प्रतिफल"** प्राप्त होंगे । इसके विपरीत साधनों में वृद्धि (25%) की तुलना में ढ़,उत्पादन मात्रा में (10%) वृद्धि' होती है, तो **"पैमाने के घटते हुए प्रतिफल"** प्राप्त होंगे ।

पैमाने के प्रतिफल के विभिन्न रूप

(1) **पैमाने के वर्द्धमान प्रतिफल -** पैमाने के वर्द्धमान प्रतिफल का आशय उस स्थिति से है, जिसमें उत्पादन साधनों की मात्रा में की गई वृद्धि (माना 25%) के फलस्वरूप उत्पादन मात्रा में अधिक (माना 50%) वृद्धि होती है । इस प्रकार साधनों में वृद्धि की तुलना में उत्पादन मात्रा में अधिक वृद्धि होती है । इसे ही पैमाने का वर्द्धमान प्रतिफल कहते हैं।,

नियम के लागू होने के कारण

(a) **अविभाज्यताएँ -** छोटे पैमाने पर उत्पादन की दशा में कुछ साधनों के छोटे भागों में विभक्त न हो सकने के कारण उत्पादन (प्रति इकाई) कम होता है । उदाहरण के लिए यदि उत्पादन बहुत छोटे पैमाने पर किया जाता है तो कुछ पूँजी उचित प्रयोग में नहीं आ सकती ।

(b) **विशिष्टीकरण -** बढ़ते हुए पैमाने के प्रतिफल का दूसरा कारण विशेष दक्षता है । किसी भी छोटे पैमाने के उद्योग में लगे हुए व्यक्तियों को अनेक के कार्य करने पड़ते हैं । जब उत्पादन के पैमाने को बढ़ाया जाता है तो उनको वे कार्य करने को

दिये जा सकते हैं, जिनमें वे अधिक दक्ष हैं । इनसे दक्षता में वृद्धि होगी और अधिक उत्पादन प्राप्त होगा ।

(c) **आकार की दक्षता -** प्रो. बोमल ने पैमाने के वर्द्धमान प्रतिफल का कारण बड़े आकार के परिणामस्वरूप होने वाली कुशलता को बताया है । इसीलिए यह कहा जा सकता है कि पूँजीगत सम्पत्तियों में एक सीमा तक जिस अनुपात में विनियोजन में वृद्धि की जाती है, उससे अधिक अनुपात में उत्पादन-कुशलता बढ़ती है ।

(d) **आन्तरिक एवं बाह्य बचतें -** उत्पत्ति का पैमाना बढ़ाने पर अनेक आन्तरिक एवं बाह्य मितव्ययताएँ प्राप्त होती हैं । आन्तरिक मितव्ययताओं या बचतों में तकनीकी बचतें, विपणन बचतें, प्रबन्ध की बचतें, जोखिम उठाने की बचतें आदि आती हैं, जबकि बाह्य मितव्ययताओं या बचतों में केन्द्रीयकरण के लाभ सम्मिलित होते हैं । इन बचतों के कारण प्रति इकाई उत्पादन-लागत घट जाती है।

इस प्रकार यदि किसी उद्योग में प्रारम्भ में उत्पादन के कुछ साधनों का समुचित उपयोग नहीं किया जा रहा है, तो उत्पादन वृद्धि के प्रारम्भिक प्रयास में नये लगाये गये साधनों से अपेक्षित रूप से अधिक । उत्पादन प्राप्त होता है । पैमाने के बढ़ते प्रतिफल को निम्नलिखित तालिका तथा रेखाचित्र से समझा जा सकता है ।

श्रम+पूँजी की इकाइयाँ	कुल उत्पत्ति (इकाइयाँ में)	कुल लागत रु. (TC)	औसत लागत रु. (AC)	सीमान्त लागत रु. (MC)
1+1	5	20	4.00	4.00
2+2	12	40	3.33	2.90
4+4	24	60	2.50	1.67

तालिका में पैमाने के बढ़ते प्रतिफल को दर्शाया गया है, इसमें श्रम व पूँजी की इकाइयाँ बढ़ाने से कुल उत्पादन बढ़ता है । तालिका में कुल लागत को भी बढ़ता हुआ बताया गया है, लेकिन उत्पादन में वृद्धि के अनुपात में लागत में वृद्धि के अनुपात में लागत में कम वृद्धि हो रही है । फलस्वरूप लागत व सीमान्त लागत दोनों कम हो रही है, लेकिन सीमान्त लागत औसत लागत की तुलना में अधिक तेजी से घट रही है ।

1. **पैमाने के समता प्रतिफल -** पैमाने के समता प्रतिफल का तात्पर्य उस स्थिति से है, जिसमें उत्पादन साधनों में वृद्धि के अनुपात में ही उत्पादन मात्रा में भी वृद्धि होती है, जैसे, यदि उत्पादन साधनों में 20 प्रतिशत वृद्धि की जाये तो उत्पादन की मात्रा में 20 प्रतिशत ही बढ़ जायेगी । इस प्रकार यदि साधनों की मात्रा दुगुनी या तिगुनी कर दी जाये तो उत्पादन भी दुगुना या तिगुना हो जायेगा । इस दिशा को पैमाने का समता प्रतिफल कहते हैं ।

   इस स्थिति में समोत्पादक चित्र में सभी पैमाने की रेखाएँ मूल बिन्दु से प्रारम्भ होने वाली सरल रेखायें होगी । पैमाने के समता प्रतिफल में वस्तु की औसत लागत व

सीमान्त लागत यथास्थिर रहती है तथा कुल लागत-समान दर से बढ़ती है । इसको निम्न तालिका में दिखाया गया है ।

तालिका. पैमाने का समता प्रतिफल

श्रम+पूँजी की इकाइयाँ	कुल उत्पत्ति (इकाइयाँ में)	कुल लागत रु. (TC)	औसत लागत रु. (AC)	सीमान्त लागत रु. (MC)
1+1	1	8	8.00	8.00
2+2	2	16	8.33	8.90
4+4	4	32	8.00	8.00

तालिका में दिखाया गया है कि साधनों की मात्रा दुगुनी करने पर उत्पादन मात्रा भी दुगुनी हो गयी है तथा कुल लागत भी दुगुनी हो गयी है । इस स्थिति में औसत लागत व सीमान्त लागत स्थिर है ।

3. **पैमाने के घटते हुए प्रतिफल -** पैमाने के घटते हुए प्रतिफल का तात्पर्य उस स्थिति से है, जिसमें साधनों में वृद्धि के अनुपात से उत्पादन मात्रा में कम वृद्धि होती है, जैसे, यदि साधनों में 20 प्रतिशत वृद्धि की जाये तो उत्पादन की मात्रा 10 प्रतिशत ही बढ़े । यदि कोई फर्म अपने अनुकूलतम आकार से आगे उत्पादन बढ़ाने के लिए उत्पत्ति के साधनों की अतिरिक्त इकाइयाँ लगाती हैं तो उन अतिरिक्त इकाइयों के अनुपात से उत्पादन मात्रा में कम वृद्धि होती है । इसी स्थिति को पैमाने का घटता प्रतिफल कहते हैं । इसका कारण यह है कि अनुकूलतम संयोग के बाद उत्पादन बढ़ाने से अनेक जटिलताएँ व समस्यायें पैदा हो जाती हैं, जिससे औसत लागत व सीमान्त लागत बढ़ने लगती है तथा कुल लागत बढ़ती हुई दर से बढ़ने लगती है । इसे निम्न तालिका से दिखाया गया है :-

तालिका. पैमाने का घटता प्रतिफल

श्रम+पूँजी की इकाइयाँ	कुल उत्पत्ति (इकाइयाँ में)	कुल लागत रु. (TC)	औसत लागत रु. (AC)	सीमान्त लागत रु. (MC)
1+1	1	6	6	6
2+2	2	14	7	8
4+4	4	36	9	11

तालिका से स्पष्ट है कि उत्पादन बढ़ाने पर औसत लागत व सीमान्त लागत बढ़ती है। फलस्वरूप कुल लागत भी बढ़ती हुई दर से बढ़ रही है, क्योंकि जिस अनुपात में साधन बढ़े हैं, उत्पादन उससे कम अनुपात में बढ़ रहा है ।

पैमाने के बदलते प्रतिफल

वास्तव में अलग-अलग उत्पादन फलन विभिन्न प्रकार के पैमाने के प्रतिफल को प्रकट नहीं करते हैं । प्राय: एक ही उत्पादन फलन में पैमानों के तीनों प्रतिफल प्राप्त हो सकते हैं । जब कोई फर्म अपने उत्पादन का पैमाना बढ़ाती है तो प्रारम्भ में पैमाने के वर्द्धमान प्रतिफल लागू होते हैं, क्योंकि अविभाज्य साधनों का अधिकाधिक प्रयोग होने

लगता है । इसके बाद फर्म के साधनों के अनुकूलतम संयोग की स्थिति में तथा जब तक पैमाने के ह्रासमान प्रतिफल प्रारम्भ नहीं होते है, अल्प समय के लिए पैमाने के स्थिर प्रतिफल प्राप्त होते हैं तथा उत्पादन की मात्रा और बढ़ाने पर पैमाने के ह्रासमान प्रतिफल लाग होने लगते हैं ।

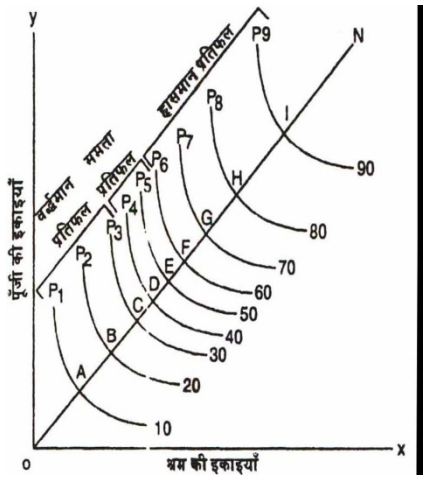

यह स्थिति साधनों के अनुकूलतम संयोग के बाद उत्पन्न होती है । इसका कारण उत्पादन के आकार में वृद्धि के कारण अनेक जटिलताओं व समस्याओं का पैदा होना है, जिसके कारण प्रति इकाई लागत बढ़ने लगती है । पैमाने के बदलते प्रतिफलों को रेखाचित्र में देखा जा सकता है ।

रेखाचित्र में OX-axis पर श्रम की इकाइयाँ व OY-axis पर पूँजी की इकाइयाँ दिखायी गई हैं । ON पैमाने की रेखा है, जो A, B, C,D, E, F, G H तथा I बिन्दुओं पर विभिन्न समोत्पादक वक्रों द्वारा विभक्त की गई है । P_1 से P_4 वक्र तक पैमाने के वर्तमान प्रतिफल बताये गये हैं । AB>BC>CD । P_4 से P_6 वक्र पैमाने के समता प्रतिफल बताते हैं । इसमें DE = EF है । P_6 से P_9 तक के समोत्पादक वक्र पैमाने के ह्रासमान प्रतिफल को बताते हैं । इस स्थिति में FG<GH<HI । इससे स्पष्ट है कि प्रारम्भ में वर्द्धमान प्रतिफल, मध्य में स्थिर प्रतिफल तथा अन्त में ह्रासमान प्रतिफल प्राप्त होता है । प्रारम्भिक स्थिति (वर्द्धमान प्रतिफल) में वक्रों की दूरी कम होती जा रही है । मध्य में (समता प्रतिफल) में वक्रों की दूरी समान है तथा अन्त में (ह्रासमान प्रतिफल) वक्रों की दूरी बढ़ती जाती है ।

9.6 सारांश

उत्पादन अर्थशास्त्र का एक प्रमुख भाग है । उत्पादन व उपयोग से ही समस्त आर्थिक गतिविधियों का संचालन होता है । उत्पादन पाँच साधनों भूमि, पूँजी, श्रम, संगठन एवं साहस के सामूहिक प्रयास का परिणाम है । उत्पादन पर तकनीकी साधनों का प्रभाव पड़ता है । सामान्यत: अल्पकाल में तकनीकी स्तर में विशेष सुधार नहीं होता है । इसलिए उत्पादन साधनों की मात्रा में परिवर्तन से उत्पादन की मात्रा एवं लागत उत्पादन के कुछ साधन स्थिर होते हैं तथा कुछ साधन परिवर्तनशील होते हैं जबकि दीर्घकाल में उत्पादन के सभी साधन परिवर्तनशील होते हैं । अल्पकाल में उत्पादन के परिवर्तनशील साधनों की मात्रा में वृद्धि होती है । इसे क्रमश: उत्पत्ति वृद्धि नियम, उत्पत्ति समता नियम एय उत्पत्ति हास नियम कहते हैं । इसे आनुपातिकता का नियम भी कहते हैं । दीर्घकाल में उत्पादन के सभी साधनों को घटाना-बढ़ाना सम्भव

होता है । अत: उत्पादन साधनों में समान अनुपात में परिवर्तन करने पर भी प्रारम्भ में बढ़ी हुई दर से (पैमाने के वर्द्धमान प्रतिफल), बाद में समान दर से (पैमाने के समता प्रतिफल) एवं अन्य में घटती हुई दर से (पैमाने के घटते प्रतिफल) उत्पादन प्राप्त होता है । यह उत्पादन के पैमाने में परिवर्तन के कारण होता है । इसलिए इन्हें 'पैमाने के प्रतिफल भी कहा जाता है । एक फर्म उप स्तर पर उत्पादन करती है जहाँ उसका लाभ अधिकतम हो । अत: एक फर्म के लिए इन नियमों का विशेष महत्व है ।

9.7 शब्दावली/पारिभाषिक शब्द

1. **उत्पादन फलन -** एक दी गई तकनीकी स्थिति में किसी फर्म के उत्पाद एवं पड़त के सम्बन्ध को उत्पादन फलन कहते हैं ।
2. **परिवर्तनशील अनुपातों का नियम -** उत्पादन साधनों के संयोग में एक साधन का अनुपात ज्यों-ज्यों बढ़ाया जाएगा, एक सीमा के बाद त्यों-त्यों उस साधन की सीमान्त तथा औसत उपज घटती जाएगी।
3. **समोत्पत्ति वक्र -** समोत्पत्ति वक्र दो उत्पादन साधनों के ऐसे संयोग को बताता है जिससे एक समान उत्पादन प्राप्त होता है ।
4. **तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर -** एक साधन के स्थान पर दूसरे साधन को प्रतिस्थापित करने की दर ही तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर कहलाती है ।
5. **सम लागत वक्र -** यह वह वक्र है जो साधनों के मूल्यों तथा उत्पादक द्वारा साधनों के क्रय पर व्यय की जाने वाली धनराशि को व्यक्त करता है ।

9.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. समोत्पत्ति वक्र की चार विशेषताएँ बताइये ।
2. पैमाने के विभिन्न प्रतिफलों के सम्बन्ध को स्पष्ट कीजिये ।
3. पैमाने के प्रतिफल के प्रकार बताइये ।
4. पैमाने के घटते प्रतिफल के नियम को स्पष्ट कीजिये ।
5. पैमाने के बढ़ते प्रतिफल के लागू होने के कोई चार कारण बताइये ।
6. पैमाने के प्रतिफल को समोत्पत्ति वक्रों द्वारा स्पष्ट कीजिए ।
7. पैमाने के ह्रासमान प्रतिफल की समोत्पत्ति वक्र विधि से व्याख्या कीजिए ।
8. पैमाने के प्रतिफलों को समझाइये । बढ़ते हुए पैमाने के प्रतिफल के लागू होने के कारणों पर प्रकाश डालिए ।
9. उत्पत्ति ह्रास नियम सार्वभौमिक है । स्पष्ट कीजिए ।
10. क्या उत्पत्ति ह्रास नियम की क्रियाशीलता को स्थगित किया जा सकता है ?
11. उत्पत्ति ह्रास नियम को समझाते हुए इसके लाग होने के कारण बताइये ।
12. उत्पत्ति के नियमों में पारस्परिक सम्बन्ध कीजिए ।
13. परिवर्तनशील अनुपातों के नियमों की व्याख्या कीजिए ।

14. उत्पत्ति के नियम की विभिन्न अवस्थाएँ कौन-कौनसी हैं ? इन अवस्थाओं के लागू होने के क्या कारण हैं ?

9.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. V.K Mankar, Business Economics, Himalaya Publishing House, Bombay and Delhi.
2. Dr. D.M. Mithani & V.S.R. Murthy, Fundamentals of Business Economics, Himalaya Publishing House, Dehli.
3. Dr. C.S. Barla, Managerial Economics, Malik & Company, Delhi, Jaipur.
4. M.L. Seth, Micro Economics.
5. Mishra and Puri, Business Economics, Himalaya Publishing House, Dehli.
6. Agarwal and Somdeo, Business Economics, RBD, Jaipur.
7. एम.एल. झिंगन, समष्टि अर्थशास्त्र, Vrinda Publication, Delhi.
8. एम.सी. वैश्य, समष्टि अर्थशास्त्र, मलिक एण्ड कम्पनी, जयपुर ।.

इकाई-10 लागत अवधारणाएँ (Cost Concepts)

इकाई की रूपरेखा -

10.1 प्रस्तावना
10.2 लागत अवधारणाएँ
10.3 अल्पकाल में लागत-उत्पादन सम्बन्ध
10.4 सीमान्त लागत
10.5 सीमान्त लागत (MC) एवं औसत लागत (AC) में सम्बन्ध
10.6 दीर्घकाल में लागत-उत्पादन सम्बन्ध
10.7 सारांश
10.8 शब्दावली/पारिभाषिक शब्द
10.9 अभ्यासार्थ प्रश्न
10.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

10.1 प्रस्तावना (Introduction)

किसी वस्तु का मूल्य उस वस्तु की माँग एवं पूर्ति की शक्तियों द्वारा निर्धारित है । वस्तु की पूर्ति उस वस्तु की उत्पादन लागत पर निर्भर करती है । अत: प्रत्येक उत्पादक वस्तु की को बढ़ाकर (उत्पादन का पैमाना बढ़ाकर) उसकी प्रति इकाई लागत कम करने का प्रयास करता है प्रत्येक वस्तु के उत्पादन के लिए अनेक व्यय करने पड़ते हैं, जैसे: कच्चा माल, श्रम, परिवहन, संचार, आदि के व्यय एक उत्पादक अपने लाभ को अधिकतम करने के लिए उत्पादन लागतें कम करने का प्रयास करता है । साथ ही वह यह भी ध्यान रखता है कि उसकी सीमान्त लागत व सीमान्त आय समान हो । उसी अवस्था में उत्पादन करने पर उत्पादक का लाभ अधिकतम होगा । आजकल लागतों में 'सामान्य' लाभ को भी शामिल किया जाने लगा है ।

10.2 लागत अवधारणाएँ (The Concepts of Cost)

अर्थशास्त्र में 'लागत' शब्द का अभिप्राय विभिन्न संदर्भो में अलग-अलग लगाया जाता है। इस प्रकार संदर्भ के साथ इसका अर्थ भी भिन्न हो जाता है । लागत शब्द के सम्बन्ध में निम्नलिखित तीन विचार प्रकट किये जाते हैं -

(A) मौद्रिक लागत, (B) वास्तविक लागत तथा (C) अवसर लागत

(A) मौद्रिक लागत (Monetary Cost)

किसी वस्तु का उत्पादन करने के लिए अनेक साधनों की आवश्यकता होती है । उत्पादन साधनों को आकर्षित करने के लिए उनका मूल्य चुकाना पड़ता है । इस प्रकार किसी वस्तु का उत्पादन करने के लिए उत्पादन साधनों को चुकाया गया मूल्य ही उसकी **मौद्रिक लागत** होती है । दूसरे शब्दों में, उत्पादन में प्रयुक्त साधनों के बाजार मूल्यों के योग को ही साधनों की **मौद्रिक लागत** कहते हैं और यही लागत वस्तु की,

मौद्रिक लागत कहलाती है । वास्तव में मौद्रिक लागत वह लागत है, जो किसी वस्तु के उत्पादन के लिए मुद्रा के रूप में व्यय की जाती है । **आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार 'मौद्रिक लागत' में अन्य लागतें (जिन्हें मुद्रा के रूप में व्यय नहीं किया जाता है) भी सम्मिलित, होती हैं ।** इनके अनुसार मौद्रिक लागत में निम्न लागतें सम्मिलित हैं -

(1) **स्पष्ट या व्यक्त लागतें (Explicit Costs) -** स्पष्ट लागतें वे मौद्रिक हैं, जिनका भुगतान उत्पादक द्वारा साधन के स्वामी को किया जाता है जैसे श्रमिक को मजदूरी, पूँजीपति को पूँजी का ब्याज आदि । स्पष्ट लागतों में निम्न व्यय सम्मिलित हैं - (i) उत्पादन लागतें - जैसे, कच्चे माल की कीमत, मजदूरी, प्रबन्धकों का वेतन, पूँजी पर ब्याज, भूमि का लगान, भवन का किराया, मशीन व प्लान्ट का घिसाई व्यय आदि । (ii) विक्रय लागतें - इसमें वस्तु का विक्रय बढ़ाने के लिए किए जाने वाले व्यय जैसे - विज्ञापन व प्रचार व व्यय, एजेन्टों के कमीशन आदि शामिल हैं । (iii) अन्य लागतें - इसमें बीमा व्यय, स्थानीय कर, सुरक्षा सम्बन्धी व्यय सम्मिलित हैं । ये सभी लागतें स्पष्ट लागतें हैं, जिनका भुगतान उत्पादक को करना पड़ता है ।

(2) **अस्पष्ट या अव्यक्त लागतें (Implicit Costs) -** अस्पष्ट या अव्यक्त लागतें वे हैं, जिनका भुगतान उत्पादक द्वारा 'किसी बाहरी व्यक्ति' को नहीं किया जाता, बल्कि स्वयं द्वारा लगाये गये साधनों व सेवाओं की लागत से है, जिसे वह स्वयं फर्म से वसूल करता है, जैसे: निजी पूँजी पर ब्याज, निजी कार्यालय (मकान) का किराया, स्वयं का वेतन आदि । यद्यपी उत्पादक को इनका भुगतान किसी दूसरे व्यक्ति को नहीं करना पड़ता है, लेकिन यदि वह स्वयं ये साधन नहीं लगाता तो उसे अन्य व्यक्तियों से साधन प्राप्त कर उनकी कीमत चुकानी पड़ती । अत: ये लागत में सम्मिलित होते हैं । लेकिन व्यवहार में उत्पादक अस्पष्ट लागतों को उत्पादन की कुल लागत में सम्मिलित नहीं करते हैं ।

(3) **सामान्य लाभ (Norma Profit)** - सामान्य लाभ से तात्पर्य लाभ की उस न्यूनतम मात्रा से है, जिनकी आशा में एक उत्पादक अपना उत्पादन कार्य चालू रख सकता है । यदि किसी उत्पादक को दीर्घकाल में सामान्य लाभ भी प्राप्त नहीं होता है, तो वह उत्पादन कार्य बन्द कर देगा । इस प्रकार लाभ उत्पादक को उद्योग में बनाये रखने के लिए प्रेरणा का काम करता है ।

इस प्रकार मौद्रिक लागत = स्पष्ट लागतें+अस्पष्ट लागतें + सामान्य लाभ हैं । अर्थशास्त्री की मौद्रिक लागत व लेखाकार की मौद्रिक लागत में अन्तर होता है । लेखाकार की मौद्रिक लागत में केवल 'स्पष्ट लागतें ही सम्मिलित होती हैं, जबकि अर्थशास्त्री की मौद्रिक लागत में उपर्युक्त तीनों लागतें (स्पष्ट, अस्पष्ट व सामान्य लाभ) सम्मिलित होती हैं ।

(B) वास्तविक लागत (Real Cost)

वास्तविक लागत का तात्पर्य किसी वस्तु के उत्पादन में लगाये गये समस्त प्रयासों, कष्टों एवं त्याग के योग से है । वास्तविक लागत को 'सामाजिक लागत' भी कहा जाता है, क्योंकि वस्तु का उत्पादन करने के लिए पूरे समाज को त्याग करना होता है तथा कष्ट उठाने पड़ते हैं । श्रमिक को वस्तु के उत्पादन में श्रम का प्रयोग कर कष्ट उठाना पड़ता है । पूँजीपति अपनी पूँजी के प्रयोगों से वंचित रहकर त्याग करता है । इस प्रकार वास्तविक लागत में वस्तु के उत्पादन के लिए वास्तव में व्यय किए गए श्रम, समय व शक्ति को सम्मिलित किया जाता है ।

प्राचीन अर्थशास्त्री वास्तविक लागत व मौद्रिक लागतें में कोई भेद नहीं मानते थे । उनके अनुसार मौद्रिक लागत ही वास्तविक लागत होती है । आधुनिक अर्थशास्त्री मौद्रिक लागत व वास्तविक लागत में अन्तर बताते है । व्यवहार में अनेक बार यह देखने में आता है कि किसी वस्तु की मौद्रिक लागत तो कम है; परन्तु वास्तविक लागत बहुत अधिक है, जैसे; मरे हुए जानवरों का चमड़ा निकालना । इसकी मौद्रिक लागत तो कम है; परन्तु वास्तविक लागत बहुत अधिक है, क्योंकि यह कार्य अस्वास्थ्यकर, अरूचिकर एवं घृणित है । अत: इसमें अधिक कष्ट व त्याग होता है, लेकिन इस प्रकार की लागत का मौद्रिक माप सम्भव नहीं है ।

प्रो. मार्शल ने वास्तविक लागत के सम्बन्ध में लिखा है कि, **"किसी वस्तु को बनाने में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में लगने वाले विभिन्न प्रकार के मजदूरों का परिश्रम साथ में उसके उत्पादन में प्रयुक्त पूँजी की बचत के लिए आवश्यक त्याग या प्रतीक्षा ये सब प्रयत्न और त्याग मिलकर उस वस्तु के उत्पादन की वास्तविक लागत कहलाते हैं ।** अत: जिन कार्यो में अधिक परिश्रम व त्याग करना पड़ता है, उनकी वास्तविक लागत मौद्रिक लागत से अधिक होती है । इस प्रकार सामाजिक दृष्टि से वास्तविक लागत की धारणा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है; लेकिन कष्ट व त्याग का कोई निश्चित मापदण्ड न होने से इसका अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाता है ।

वास्तविक लागत के विचार की आलोचनाएँ - प्रमुख सीमायें व आलोचनाएँ निम्न हैं -

(1) **त्याग तथा कष्ट मनोवैज्ञानिक धारणा -** वास्तविक लागत का विचार त्याग कष्ट पर आधारित है । त्याग एवं कष्ट एक मनोवैज्ञानिक एवं व्यक्तिगत धारणा है, इसलिए इसको सम्भव नहीं है, क्योंकि किसी एक कार्य में किसी व्यक्ति को आनन्द प्राप्त होता है, तो किसी व्यक्ति को कष्ट भी हो सकता है । इस प्रकार कष्ट व त्याग का माप सम्भव नहीं है ।

(2) **अव्यावहारिक -** वास्तविक लागत का विचार अव्यावहारिक है, क्योंकि इसके अनुसार जिस कार्य में अधिक कष्ट एवं त्याग करना पड़ता है; उसकी लागत अधिक होनी चाहिए । इसलिए उसकी कीमत भी अधिक होगी; लेकिन व्यावहारिक जीवन में कुली, मजदूर व सफाई करने वालों के कार्यो में कष्ट व त्याग अधिक होने पर भी इनकी मजदूरी कम होती है ।

इन सीमाओं के कारण ही वास्तविक लागत का विचार अधिक महत्त्व प्राप्त नहीं न,र सका तथा आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने इसे छोड़ दिया है ।

(C) अवसर लागत (Opportunity Cost)

आधुनिक अर्थशास्त्रियों (विशेषकर अमेरिकी अर्थशास्त्रियों) ने वास्तविक लागत के स्थान पर **'अवसर लागत'** का प्रयोग किया है । सर्वप्रथम ग्रीन नामक अर्थशास्त्री ने अवसर लागत का विचार प्रस्तुत किया । **श्रीमति जॉन रॉबिन्सन 'अवसर लागत'** के स्थान पर 'हस्तान्तरण आय' (Transfer earning) शब्द का प्रयोग करती हैं । इसे 'त्याग किया गया विकल्प' (Alternative foregone), 'वैकल्पिक लागत (Alternative Cost) तथा 'आरोपित लागत' (Imputed Cost) भी कहा जाता है ।

अवसर लागत का अर्थ : विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने अवसर लागत को निम्न प्रकार परिभाषित किया है-

श्रीमति जॉन रॉबिन्सन (Mrs. Joan Robinson) के अनुसार, "किसी उत्पादन साधन की दी हुई एक इकाई का वह मूल्य जो इसे उद्योग में बनाये रखने के लिए देना आवश्यक है. हस्तान्तरण आय या हस्तान्तरण मूल्य कहलाता है ।"

प्रो. बेनहम (prof. Benham) "द्रव्य की वह मात्रा जो कोई इकाई विशेष सर्वश्रेष्ठ वैकल्पिक प्रयोग में प्राप्त कर सकती है उसे हस्तान्तरण आय कहते हैं । "

परिभाषाओं की व्याख्या - अवसर लागत का विचार इस मान्यता पर आधारित है कि उत्पादन के साधन सीमित हैं तथा उनके वैकल्पिक उपयोग सम्भव हैं । साधनों की सीमितता के कारण उन्हें सभी प्रयोगों में नहीं लाया जा सकता है । सम्पूर्ण समाज की दृष्टि से यदि उत्पादन के साधन को किसी एक प्रयोग में लाया जाता है, तो उसे अन्य अवसरों का त्याग करना पड़ेगा ।

इस प्रकार त्याग किये गये अवसरों का मूल्य ही वस्तु की उत्पादन लागत होती है । उदाहरण के लिए एक पुस्तक भण्डार का प्रबन्धक पुस्तक भण्डार में कार्य करता है यदि वह किसी कारखाने में प्रबन्धक का कार्य करता तो उसे वहाँ भी कुछ वेतन प्राप्त होता; लेकिन वह पुस्तक भण्हार में प्रबन्धक है, अत: उसकी अवसर लागत कारखाने में कार्य न करने से होने वाले वेतन हानि के, बराबर होगी । उत्पादन साधन का एक अवसर में प्रयोग करने का तात्पर्य होगा कि उस साधन को अन्य अवसरों का त्याग करना पड़ेगा जिनमें उसका प्रयोग किया जा सकता था । इस प्रकार उस साधन को प्रयोग में लगाये रखने के लिए कम से कम इतना पुरस्कार या पारिश्रमिक अवश्य मिलना जितना कि वह अन्य सर्वश्रेष्ठ वैकल्पिक प्रयोग में प्राप्त कर सकता है । यदि उसे दूसरे सर्वश्रेष्ठ, में प्राप्त हो सकने वाले पुरस्कार के बराबर वेतन (वर्तमान उपयोग में) नहीं मिलेगा तो वह दूसरे श्रेष्ठ उपयोग में चला जायेगा । उदाहरण के लिए एक श्रमिक किसी एक उद्योग में प्रतिदिन 50 रू. प्राप्त करता है । उस श्रमिक को दूसरे सर्वश्रेष्ठ विकल्प के रूप में 40 रू प्रतिदिन मजदूरी प्राप्त हो सकती है । इस स्थिति में श्रमिक में श्रमिक की अवसर लागत 40 रू. के बराबर है, उसे वर्तमान उद्योग। में'

बनाये रखने के लिए कम से कम 40 रू० (अवसर लागत) अवश्य देने होंगे । यदि इससे कम मजदूरी दी जायेगी, तो वह वर्तमान उद्योग को छोड़कर दूसरे श्रेष्ठ विकल्प (40 रू. मजदूरी) में चला जायेगा । अवसर लागत ज्ञात करने के लिए त्याग को जानना एवं मापना आवश्यक है । यदि किसी उत्पादन साधन का प्रयोग करने के लिए किसी प्रकार का त्याग नहीं करना पड़े तो उस साधन की अवसर लागत शून्य होगी ।

अवसर लागत के विचार की मान्यताएँ :

(1) एक निश्चित समयावधि में उत्पादन के साधनों की मात्रा स्थिर रहती है । (2) अर्थव्यवस्था में केवल दो ही वस्तुओं X तथा Y का उत्पादन हो रहा है । (3) अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की स्थिति है । (4) पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति विद्यमान है ।

अवसर लागत की विशेषताएँ : - ये निम्नलिखित हैं :

(1) **अवसर लागतें मौद्रिक लागतें हैं -** अवसर लागत उन मौद्रिक लागतों का योग हैं, जिन्हें उत्पादन के साधन एक फर्म या उद्योग में कार्यरत होने के कारण प्राप्त करते हैं तथा जिनके कारण वे दूसरे उद्योगों में नहीं जाते । उदाहरण के लिए यदि मोटर-निर्माता कार बनाना चाहता है, तो ऐसी दशा में उसे कार बनाने वाले मजदूरों को कम से कम इतनी मजदूरी देनी चाहिए, जिससे वे मोटर उद्योग में लगे रहें ।

(2) **अवसर लागत का सिद्धान्त सब प्रकार के उद्योगों में लागू होता है -** यह नियम सभी उद्योगों एवं सभी उत्पादन साधनों पर लागू होता है, जैसे, उत्पादन सम्बन्धी संस्थान, श्रम, पूँजी आदि । यदि कोई व्यक्ति कुछ वस्तुएँ खरीदने के लिए बैंक से रूपया उधार लेता है, तो उसे बैंक को इतना ब्याज देना होगा जिससे बैंक किसी दूसरे को रूपया न देकर उसे ही दे सके ।

(3) **अवसर लागत का व्यय सदैव नकद ही नहीं होता -** एक व्यक्ति अपना व्यापार चलाता है । ऐसी अवस्था में उसे अपने लिए कम से कम इतना वेतन अवश्य रखना चाहिए, जितना वह अन्यत्र काम करने से प्राप्त कर सकता है । यदि वह अपने लिए वेतन नहीं रखता है, तो व्यापार का वास्तविक लाभ नहीं जाना जा सकता । यहाँ पर यह प्रश्न नहीं उठता है कि वेतन का भुगतान नकद किया जाता है या नहीं । यह बात अन्य खर्चो के सम्बन्ध में भी लागू होती है, जैसे; यदि कोई व्यक्ति अपने रूपयों से व्यापार आरम्भ करता है और अपने ही मकान में व्यापार करता है तो उसे क्रमश: ब्याज और किराया लेना चाहिए जिन्हें वह दूसरों से प्राप्त कर सकता था । इस प्रकार अवसर लागत यदि वास्तव में प्राप्त की जाती है तो वह वास्तविक आय का रूप ग्रहण कर लेती है ।

अवसर लागत का महत्व : अवसर लागत का महत्व निम्न तथ्यों से स्पष्ट हो जाता है -

(1) उत्पादन साधनों के वितरण में सहायक - उत्पादन के साधन सीमित एवं वैकल्पिक उपयोग वाले होते हैं । अवसर लागत का विचार यह निश्चित करता है कि उत्पादन साधन किस प्रयोग में लगाया जायेगा । इसके अनुसार उत्पादन के साधनों को किसी

एक प्रयोग में कम से कम इतना पारिश्रमिक अवश्य मिलना चाहिए जितना कि उसे दूसरे सर्वश्रेष्ठ वैकल्पिक प्रयोग में प्राप्त हो सकता है अन्यथा साधन दूसरे वैकल्पिक प्रयोग में चला जायेगा । इस प्रकार अवसर लागत का विचार मूल्य-प्रक्रिया के महत्वपूर्ण कार्य सीमित साधनों का प्रतियोगी प्रयोग में वितरण करने में सहायक होता है ।

(2) लगान निर्धारण में सहायक - लगान के आधुनिक सिद्धान्त के अनुसार उत्पादन का एक साधन अपने वर्तमान प्रयोग में अवसर लागत से जितना अधिक भुगतान प्राप्त करता है, वह समस्त 'आधिक्य' लगान होता है । दूसरे शब्दों में साधन को अवसर लागत के ऊपर प्राप्त आधिक्य ही उसका लगान है । उदाहरण के लिये श्रमिकों को 40 रू. प्रतिदिन पुरस्कार मिलता है जबकि उसकी अवसर लागत (दूसरे सर्वश्रेष्ठ प्रयोग में) 30 रू. प्रतिदिन है, तो उसका लगान (40-30) = 10 रू. के बराबर होगा । इस प्रकार अवसर लागत की सहायता से उत्पादन साधनों का लगान ज्ञात किया जा सकता है ।

(3) लागत में परिवर्तन के कारणों की जानकारी - अवसर लागत का विचार इस बात की जानकारी देता है कि उत्पादन की मात्रा वृद्धि के कारण उत्पादन लागत में परिवर्तन क्यों आता है ? उत्पादन में वृद्धि के लिए उत्पादन साधनों की अधिक आवश्यकता होती है । अत: उत्पादन बढ़ाने वाला उद्योग कुछ ऊँची कीमतें देकर उत्पादन साधनों को अपनी ओर आकर्षित करता है । उत्पादन साधन नये उद्योग में तभी आयेंगे, जब उन्हें वर्तमान उद्योग में प्राप्त पारिश्रमिक से अधिक पारिश्रमिक होगा । इस प्रकार पारिश्रमिक बढ़ने के लालच में साधन नये उद्योग में (साधनों को) बनाये रखने लिए उनका पारिश्रमिक बढ़ाना पड़ेगा । जिससे उत्पादन लागत बढ़ जायेगी । अत: अवसर लागत का वस्तु की उत्पादन लागत में वृद्धि के कारणों की जानकारी देता है ।

अवसर लागत की सीमाएँ एवं आलोचनाएँ (Limitations or Cristicisms of Opportunity Cost) : अवसर लागत के विचार की सीमाएँ एवं आलोचनाएँ निम्नलिखित हैं -

(1) **विशिष्ट साधनों के सम्बन्ध में लागू न होना -** उत्पादन साधन दो प्रकार के होते हैं - विशिष्ट तथा अविशिष्ट । विशिष्ट साधन वे साधन होते हैं, जिनका प्रयोग किसी विशिष्ट उत्पादन कार्य में किया जा सकता है अर्थात् उनके वैकल्पिक प्रयोग सम्भव नहीं होते हैं । ऐसे साधनों को विशिष्ट प्रयोग से हटा दिया जाये तो, उन्हें दूसरे प्रयोग में कोई पुरस्कार प्राप्त नहीं होगा । दूसरे शब्दों में विशिष्ट साधनों की अवसर लागत शून्य होती है । ऐसे साधनों को प्राप्त समस्त पुरस्कार लगान होता है ।

(2) **साधन पूर्ण गतिशील नहीं होते -** इस सिद्धान्त के अनुसार साधन को जिस उद्योग में अधिक पुरस्कार मिलेगा, वह पूर्ण उद्योग को अधिक को छोड़कर नये उद्योग में चला जायेगा; परन्तु व्यवहार में उत्पादन के साधन पूर्ण गतिशील नहीं होते हैं । अनेक कारणों से साधनों की गतिशीलता सीमित हो जाती है ।

(3) **पूर्ण प्रतियोगिता की अवास्तविक मान्यता -** अवसर लागत का सिद्धान्त तभी लागू होता है जब बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता विद्यमान हो; लेकिन व्यवहारिक जीवन में पूर्ण प्रतियोगिता नहीं पायी जाती है ।

(4) **साधन की इकाइयों का समरूप न होना -** यह सिद्धान्त इरा मान्यता पर आधारित है कि उत्पादन के साधन की सभी इकाइयाँ समरूप होती हैं; परन्तु व्यावहारिक जीवन में उत्पादन के साधन (जैसे; श्रम) की सभी इकाइयाँ (सभी श्रमिक) कार्यकुशलता की दृष्टि से समान नहीं होते है ।

(5) **साधन की पसन्दगी सम्बन्धी मान्यता गलत -** अवसर लागत का विचार । इस मान्यता पर आधारित है कि उत्पादन के साधन को सभी कार्यो में लगाने के लिए पसन्दगी एक है । दूसरे शब्दों में साधन पूर्ण गतिशील होते हैं; लेकिन व्यवहार में उत्पत्ति के साधन पूर्ण गतिशील नहीं है । उत्पादन के साधन अनेक कारणों से अधिक पुरस्कार का लालच होने पर भी अपने मूल व्यवसाय से नहीं हटते हैं ।

व्यावसायिक दृष्टिकोण से लागतें (Business View of Costs) : निम्नलिखित वर्गो में विभाजित किया जा सकता है -

(1) वृद्धिमान एवं डूबती लागतें (Incremental and Sunk Costs) - जब कोई फर्म अपनी व्यावसायिक क्रियाओं के स्तर अथवा प्रकृति में परिवर्तन करती है तब उससे जो अतिरिक्त लागतें आती हैं, उन लागतों को वृद्धिमान लागत कहते हैं । उदाहरणार्थ, उत्पादन में नयी वस्तु सम्मिलित करना, पुरानी मशीन के स्थान पर आधुनिक मशीन लगाने नवीन फर्म की स्थापना के समय वृद्धिमान लागतों की आवश्यकता नहीं होती है । इन लागतों की आवश्यकता तो तब उत्पन्न होती है, जब किसी पूर्व स्थापित व्यवसाय की क्रियाओं में परिवर्तन करना हो ।

डूबत लागतें (Sunk Costs) - ये वे लागतें होती हैं, जिन पर व्यावसायिक क्रिया की प्रवृत्ति अथवा स्तर में परिवर्तन का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है । जबकि डूबती लागतों का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है । प्रबन्धकीय निर्णयों में वृद्धिमान लागतों एवं डूबती लागतों में भेद करना, विकल्पों के मूल्यांकन के समय महत्वपूर्ण प्रतीत होता है, क्योंकि भिन्न-भिन्न विकल्पों के लिये वृद्धिशील लागतें भिन्न-भिन्न होती हैं, जबकि डूबती लागतों को विभिन्न विकल्प प्रभावित नहीं करते ।

(2) विगत एवं भावी लागतें (Past and Future Costs) - ऐसे सभी व्यय जो भूतकालीन अवधि में किये जा चुके हों तथा जिनकी सामान्यतया वित्तीय लेखों में प्रविष्टियाँ कर दी गयी हों, विगत लागतें कहलाती है । भूतकालीन लागतों के विश्लेषण से भावी निर्णय लिये जा सकते हैं । लागतें वास्तविक होती हैं, जिनको कम अथवा अधिक नहीं किया जा सेकता है ।

भावी लागतें - वे पूर्वानुमानित लागतें होती हैं, जो फर्म द्वारा भविष्य की किसी अवधि में वहन की जानी है । प्रबन्धकीय निर्णयों के लिये भावी लागतें अत्यधिक महत्तवपूर्ण होती हैं, क्योंकि ये भविष्य में की जानी होती है तथा प्रबन्ध द्वारा लागतों का

पूर्वानुमान करके इन पर नियन्त्रण किया जा सकता है । इन लागतों का प्रयोग लागत नियन्त्रण, आय पूर्वानुमान, पूँजीगत व्ययों के मूल्यांकन, लाभ पूर्वानुमान, नये उत्पादों एवं विस्तार कार्यक्रम पर निर्णय, कीमत सम्बन्धी फैसले आदि क्षेत्रों में किया जा सकता है ।

(3) प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष लागतें (Direct and Indirect Costs) - प्रत्यक्ष लागतों से अभिप्राय उन लागतों से है, जो किसी विभाग, प्रक्रिया या वस्तु के सम्बन्ध में निर्विवाद रूप से होती हैं । ऐसी लागतों को आसानी से पहचाना जा सकता है । उदाहरण के तौर पर हमें 'A' विभाग के उत्पादन की लागतों का निमार्ण करना है, तो 'A' विभाग के कर्मचारियों का वेतन तथा 'A' विभाग द्वारा खरीदी गयी सामग्री का मूल्य आदि प्रत्यक्ष लागतें होंगी ।

अप्रत्यक्ष लागतें वे लागतें होती हैं जो प्रत्यक्ष रूप से किसी विभाग, प्रक्रिया अथवा वस्तु से संबंधित नहीं होती है बल्कि इनका भुगतान एक साथ किया जाता है । इन लागतों में प्रमुख रूप से प्रबंधकीय कार्यालयों का खर्चा, अनेक वस्तुओं के सामूहिक विज्ञापन का खर्चा आदि सम्मिलित है । अप्रत्यक्ष लागतों का बंटवारा सभी विभागों, प्रक्रियाओं तथा वस्तुओं पर उचित तरीके से तथा सावधानी से करना चाहिये । प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष लागतों के विश्लेषण से संगठन किसी विभाग, प्रक्रिया अथवा वस्तु के उत्पादन के सम्बन्ध में हानि-लाभ का पृथक्-पृथक् मूल्यांकन करके यह निष्कर्ष निकाल सकता है कि किसी विभाग अथवा प्रक्रिया को जारी रखा जाये अथवा बन्द कर दिया जाये।

(4) सामूहिक उत्पादन-लागतें (Collective Production Costs) - कुछ उद्योगों जैसे; निर्माण उद्योगों में से एक ही कच्चे माल तथा एक ही उत्पादन प्रक्रिया से एक ही साथ दो या दो से अधिक वस्तुओं का उत्पादन होता है । इन वस्तुओं को सामूहिक प्रक्रिया की समाप्ति के पश्चात् ही अलग-अलग पहचाना जा सकता है । जिस बिन्दु पर सामूहिक उत्पादन से उत्पादित वस्तुएँ पृथक् रूप से पहचानी जाने लगती हैं, उस बिन्दु को विच्छेद बिन्दु (Split-off-Point) कहते हैं । इस विच्छेद बिन्दु तक वहन की गयी लागतें सामूहिक उत्पादन लागत कहलाती हैं ।

(5) रोकड़ी एवं पुस्तकीय लागतें (Outoff Pocket Costs and Books Costs) - रोकड़ी लागतें वे लागतें होती हैं जिनके लिये वर्तमान में नकद अथवा रोकड़ी भुगतान करना आवश्यक होता है । कच्चे माल का क्रय, मजदूरी का भुगतान, भवन का किराया आदि रोकड़ी लागतों के अच्छे उदाहरण हैं ।

पुस्तकीय लागतें वे लागतें होती हैं, जिनका फर्म को नकद भुगतान नहीं करना पड़ता है । उदाहरण के तौर पर ह्रास (Depreciation) एक पुस्तकीय लागत है, जिसे केवल बनियों में दिखाया जाता है ।

रोकड़ी एवं पुस्तकीय लागतों का अन्तर फर्म की नकद स्थिति जानने के लिये तथा व्यवसाय में कोषों की तरलता पर प्रबन्धकीय निर्णय लेने में सहायक होता हैं

(6) नियन्त्रणीय एवं अनियन्त्रणीय लागतें (Controllable and Uncontrollable Costs) - वे लागतें जो प्रबन्ध एवं संगठन के नियन्त्रण में रहती हैं, नियन्त्रणीय लागतें कहलाती हैं ।

वे लागतें जिन पर संगठन का अल्पकाल में नियंत्रण नहीं होता, अनियन्त्रणीय लागतें कहलाती हैं । सामान्यतया स्थिर लागतें अनियन्त्रणीय लागतें होती हैं ।

(7) प्रतिस्थापन एवं ऐतिहासिक लागतें (Replacement and Historical Costs) - किसी सम्पत्ति के स्थान पर उसी प्रकार की सम्पत्ति के वर्तमान में क्रय के लिये जितने अतिरिक्त धन की जरूरत होती है उसे पुरानी सम्पत्ति की प्रतिस्थापन लागत कहते हैं ।

इसके विपरीत किसी सम्पत्ति की मूल लागत को उसकी ऐतिहासिक लागत कहते हैं । सम्पत्ति के ह्रास की गणना उसकी ऐतिहासिक लागत पर ही की जाती है ।

मुद्रास्फीति के युग में प्रतिस्थापन लागत एवं ऐतिहासिक लागत का विचार प्रबंधकीय दृष्टि से महत्तवपूर्ण होता है ।

(8) अत्यावश्यक एवं स्थगन योग्य लागतें (Urgent Costs and Postponable Costs) - ऐसी लागतें जो फर्म के उत्थान को चालू रखने के लिये अत्यन्त आवश्यक हों तथा स्थगन असम्भव हो, वे अत्यावश्यक लागतें कहलाती हैं, जैसे; कच्चा माल, श्रम, ईधन आदि पर किया जाने वाला व्यय अत्यावश्यक लागतों की श्रेणी में आता है। दूसरी ओर स्थगन-योग्य लागतें वे लागतें होती हैं, जिन्हें कुछ समय के लिये स्थगित किया जा सकता है - जैसे फर्म की बिल्डिंग की रंगाई-पुताई, फर्नीचर पर वारनेश आदि स्थगन लागतों के अच्छे उदाहरण हैं ।

(9) तालाबंदी एवं परित्याग लागतें (Shut down and Abandonment) - वे लागतें जो अस्थायी तौर पर उत्पादन बन्द कर देने की दशा में भी फर्म को वहन करनी पड़ती हैं, तालाबन्दी लागतें कहलाती हैं । यदि उत्पादन जारी रहता है तब तालाबंदी लागतें उत्पन्न नहीं होती हैं । उदाहरण के तौर पर उत्पादित माल को भण्डारण करने पर किये जाने वाला व्यय तथा प्लाण्ट मशीनरी को सुरक्षित रखने के लिए किया जाने वाला व्यय तालाबंदी लागतों के अंग है ।

यदि फर्म किसी प्लाण्ट या स्थायी सम्पत्ति को सदैव के लिए बन्द कर देती है तो उसे अन्यत्र स्थानान्तरित करने के लिए जो लागत आती है, उसे परित्याग लागत कहते हैं। इस प्रकार की लागतें उत्पादन कार्य के स्थायी तौर पर बन्द करने की स्थिति में उत्पन्न होती हैं ।

10.3 अल्पकाल में लागत-उत्पादन सम्बन्ध (Cost-Output Relationship in Short Period) '

अल्पकाल वह समयावधि है जिसमें माँग के अनुरूप उत्पादन में परिवर्तन करने के लिए उत्पादक के पास पर्याप्त समय नहीं होता है । लिप्से के अनुसार, **"अल्पकाल उस**

अवधि को कहते हैं जिसमें उत्पादन के कुछ साधन सामान्यता: प्लान्ट तथा उपकरण एवं कभी-कभी भूमि की पूर्ति निश्चित होती है और उत्पादन में वृद्धि या कमी केवल स्थायी साधन के कम या अधिक गहन प्रयोग द्वारा ही की जा सकती है । " इस प्रकार अल्पकाल में उत्पादन क्षमता का अधिक प्रयोग कर उत्पादन की मात्रा में वृद्धि की जा सकती है, परन्तु अल्पकाल में लागतों का अध्ययन दो प्रकार से किया जा सकता है - (A) कुल लागत (Total Cost), तथा (B) औसत इकाई-लागत (Average Unit Cost)

(A) **कुल लागत (Total Cost), -** एक दी हुई मात्रा में वस्तु का उत्पादन करने पर जो व्यय होता है, उसे कुल व्यय अथवा कुल लागत कहते हैं । कुल लागत को दो भागों में बाँटा जा सकता है - (1) कुल स्थिर लागत (Total Fixed Cost) (2) कुल परिवर्तनशील लागत (Total Variable Cost) । मार्शल ने इन लागतों को क्रमश: पूरक लागत (Supplementary Cost) तथा प्रमुख लागत (Prime Cost) कहा है ।

(1) कुल स्थिर या पूरक लागत (Total Fixed or Supplementary Cost) - स्थिर लागत वह लागत है, जिसे फर्म द्वारा प्रत्येक अवस्था में वहन किया जाता है, चाहे फर्म उत्पादन क़,र रही हो अथवा नहीं । इस लागत पर उत्पादन की मात्रा का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है । उत्पादन की मात्रा कम हो अथवा अधिक, उत्पादक को यह लागत वहन करनी पडती है । संक्षेप में स्थितर लागतें वे लागतें हैं, जो उत्पादन के परिवर्तन से प्रभावित नहीं होती, **प्रो. बेन** के अनुसार, **"स्थिर लागत वह लागत है जिसकी कुल राशि अल्पकाल में उत्पादन की मात्रा में परिवर्तन होने पर भी पूर्णतया अपरिवर्तित रहती है ।"** यदि उत्पादन की मात्रा कुछ समय के लिए शून्य भी हो जाए तो इन लागतों का भार उत्पादकों को उठाना पड़ता है । इन लागतों में भूमि का लगान, मकान व भवन किराया; स्थायी कर्मचारियों के लिए वेतन, स्थिर पूँजी व दीर्घकालीन पूँजी का ब्याज, पूँजी सम्बन्धी सुविधाओं का ह्रास, बीमा शुल्क, रोशनी, पानी, सफाई व चौकीदारी के व्यय, लाइसेन्स शुल्का, कार्यालय व्यय आदि सम्मिलित हैं । निर्माणकारी इकाइयों में प्रारम्भ में औसत लागत में स्थिर लागत का भाग अधिक होता है, लेकिन उत्पादन की मात्रा में वृद्धि के साथ-साथ स्थिर लागत बढ़ी हुई इकाइयों पर बँट जाती है और औसत लागत में स्थिर लागत का भाग कम हो जाता है ।

(2) **कुल परिवर्तनशील या प्रमुख लागत (Total Variable or Prime Cost)-** इसे प्रमुख लागत (Prime Cost) प्रत्यक्ष लागत (Direct Cost) आदि नामों से भी जाना जाता है । परिवर्तनशील लागतें उत्पादन की मात्रा से सम्बन्धित होती है । उत्पादन की मात्रा में वृद्धि से ये लागतें बढ़ जाती हैं तथा उत्पादन की मात्रा में कमी से ये कम हो जाती हैं । यदि उत्पादन मात्रा शून्य होती हैं तो ये लागतें भी शून्य होती है । इन लागतों में कच्चे माल की लागत, प्रत्यक्ष श्रम पर व्यय, मशीनों के संचालन व्यय, मशीनों के संचालन व्यय, उत्पादन कर, ईधन आदि शामिल हैं । उत्पादन की मात्रा

बढ़ने के साथ-साथ इन साधनों की अधिक आवश्कता पड़ेगी, इससे परिवर्तनशील लागतें बढ़ जायेगी । **प्रो. बेन (Prof. Bain)** के अनुसार, **"परिवर्तनशील लागत वह लागत है जिसकी राशि उत्पादन की मात्रा में परिवर्तन होने पर परिवर्तित होती है ।"**

कुल लागत. स्थिर लागत एवं परिवर्तनशील लागतों का रेखाचित्र द्वारा निरूपण (Diagrammatic Representation of Total Cost, Fixed Cost and Variable Cost)

कुल लागत, स्थिर लागत एवं परिवर्तनशील लागतों को तालिका 10.1 एवं रेखाचित्र 10.2 की सहायता से भी दर्शाया जा सकता है -

तालिका 10.1 लागतें

(रूपयों में)

उत्पादन मात्रा	कुल स्थिर लागतें	कुल परिवर्तनशील लागतें	कुल लागत (स्थिर + परिवर्तनशील)
0	1,000	0	1,000
100	1,000	100	1,100
200	1,000	180	1,180
300	1,000	250	1,250
400	1,000	310	1,310
500	1,000	350	1,350

तालिका 10.1 से स्पष्ट है कि कुल स्थिर लागतें सदैव समान (1,000 रू॰) है, चाहे उत्पादन की मात्रा शून्य हों, 300 इकाइयाँ हो अथवा 500 । इसके विपरीत कुल परिवर्तनशील लागतें उत्पादन में वृद्धि के साथ बढ़ती जाती हैं । उत्पादन शून्य होने पर परिवर्तनशील लागतें भी शून्य हैं । 200 इकाईयों का उत्पादन होने पर परिवर्तनशील लागतें 160 रूपये व 400 इकाईयों का उत्पादन होने पर 310 रूपये हैं । इससे स्पष्ट है कि परिवर्तनशील लागतों का उत्पादन की मात्रा से प्रत्यक्ष संबंध है । कुल लागत मूल्य परिवर्तनशील लागतों का उत्पादन की मात्रा से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है । कुल लागत शून्य उत्पादन होने पर स्थिर लागत 1000 रू॰ के बराबर है तथा उत्पादन में वृद्धि के साथ बढ़ती जा रही है ।

रेखाचित्र 10.2 में स्थिर व परिवर्तनशील लागतों व कुल लागतों व कुल लागतों को बताया गया है । चित्र के अनुसार रेखा कुल लागत रेखा है । FC रेखा स्थिर लागत रेखा है । रेखा चित्र के अनुसार उत्पादन की मात्रा शून्य होने पर स्थिर लागत OP है; लेकिन इस स्थिति में परिवर्तनशील लागत शून्य है । उत्पादन की मात्रा बढ़कर OM होने पर स्थिर लागत OP अथवा AM पूर्ववत रहती है; लेकिन परिवर्तनशील लागत AB हो जाती है । इसी प्रकार उत्पादन की मात्रा बढ़कर OM_1 होने पर स्थिर लागत OP अथवा CM_1 रहती है जो पूर्ववत ही है; लेकिन परिवर्तनशील लागत बढ़कर CD

हो जाती है । इससे स्पष्ट है कि उत्पादन में वृद्धि होने पर स्थिर लागत पूर्ववत रहती है लेकिन परिवर्तनशील लागत बढ़ जाती है । रेखाचित्र में TC व FC रेखा के मध्य का क्षेत्र परिवर्तनशील लागतों को बताता है, जो उत्पादन की वृद्धि के साथ बढ़ता जा रहा है ।

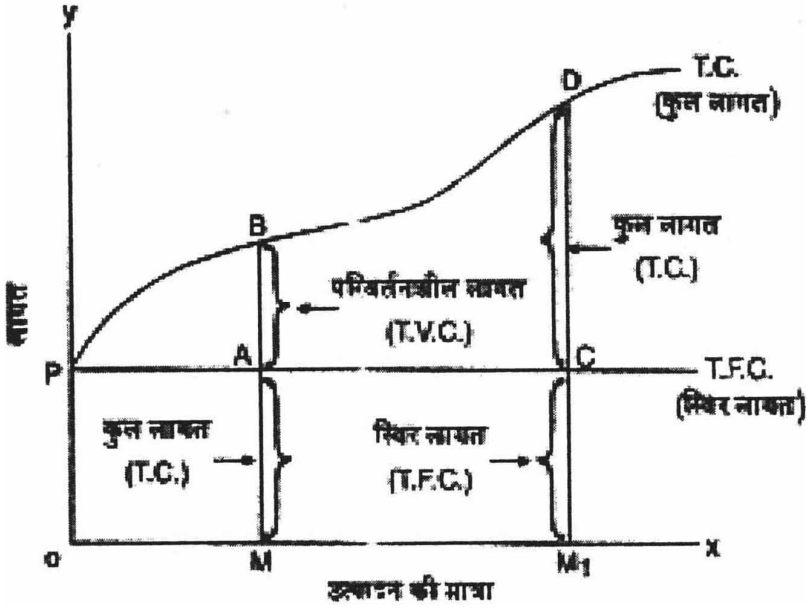

चित्र व 10.1

रेखाचित्र के अनुसार OM उत्पादन मात्रा की स्थिति में द्रप्र (स्थिर लागत) + AB (परिवर्तनशील लागत) = MB (कुल लागत) को बताती है 1 इसी प्रकार उत्पादन मात्रा OM_1 होने पर M_1D (कुल लागत)= M_1C (स्थिर लागत)+ CD परिवर्तनशील लागत।

स्थिर एवं परिवर्तनशील लागतों में अन्तर सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण बातें-

(1) उत्पादन के लिए स्थिर एवं परिवर्तनशील दोनों लागतों का होना अनिवार्य है ।

(2) स्थिर एवं परिवर्तनशील लागतों का अन्तर केवल अल्पकाल से सम्बन्धित है । दीर्घकाल में सभी लागतें परिवर्तनशील लागतें हो जाती हैं ।

(3) स्थिर एवं परिवर्तनशील लागतों में केवल श्रेणी का अन्तर है । उदाहरण के लिए एक क्लर्क को वेतन दिया जाता है । यदि उत्पादन बन्द होने पर उसे नौकरी से हटा दिया जाता है तो यह परिवर्तनशील लागत होगी तथा नौकरी से नहीं हटाने पर स्थिर लागत होगी ।

(B) **औसत लागतें या इकाई लागतें (Average Costs or Unit Costs) -** वस्तु की औसत लागत से प्रति इकाई लाभ अथवा हानि की मात्रा को ज्ञात किया जा सकता है, क्योंकि के औसत मूल्य अथवा कीमत तथा औसत लागत का अन्तर ही फर्म की प्रति इकाई लाभ अथवा होता है । अत: औसत लागत का विचार कुल लागत के विचार से भी अधिक उपयोगी है ।

जब कुल लागत में वस्तु की उत्पादित समस्त इकाइयों का भाग दिया जाता है औसत लागत या प्रति इकाई लागत प्राप्त होती है । औसत लागत उत्पादन की मात्रा परिवर्तन के साथ परिवर्तित होती रहती है । उत्पत्ति वृद्धि नियम की अवस्था में औसत लागत घटती है, जबकि उत्पत्ति हास नियम लाग होने पर औसत लागत बढ़ती है । मूल्य निर्धारण करते समय वस्तु की औसत लागत को ध्यान में रखना होता है । औसत लागतें तीन प्रकार की होती हैं । - (1) औसत स्थिर लागत (AFC) (2) औसत परिवर्तनशील लागत हैं (AVC), तथा (3) औसत कुल लागत (ATC) । इन्हें अलग-अलग ज्ञात करने के लिए इनके अलग-अलग कुल योग में उत्पादित वस्तु की मात्रा का भाग दिया जाता है । तालिका 10.2 में वस्तु की विभिन्न औसत लागतों व सीमान्त लागत को दर्शाया गया है -

तालिका 10.2

औसत लागत (रुपयों में)

कुल उत्पादन	कुल लागत (TC)			औसत लागत (AC)			सीमान्त लागत
	कुल स्थिर लागतें	कुल परिवर्तनशील लागत	कुल लागत (2+3)	औसत परिवर्तनशील लागत (2÷1)	औसत परिवर्तनशील लागत (3÷1)	औसत कुल लागत (4÷1)	
1	2	3	4	5	6	7	8
1	100	20	120	100	20	120	-
2	100	38	138	50	19	69	18
3	100	55	155	33	18.3	51.3	17
4	100	70	170	25	17.5	42.5	15
5	100	84	184	20	16.8	36.8	14
6	100	95	195	16.7	15.8	35.5	11
7	100	121	221	14.3	17.3	31.6	26
8	100	172	272	12.5	21.5	34	51

(1) **औसत स्थिर लागत (Average Fixed Cost) -** कुल स्थिर लागत में उत्पादन की कुल मात्रा का भाग देने से औसत स्थिर लागत (AFC) प्राप्त हो जाती है । औसत स्थिर लागतें उत्पादन की मात्रा में वृद्धि के साथ-साथ कम होती जाती हैं, क्योंकि कुल स्थिर लागतें स्थिर रहती हैं । जब उत्पादन में वृद्धि की जाती हैं, क्योंकि कुल स्थिर लागतें स्थिर रहती हैं । जब उत्पादन में वृद्धि की जाती है, तो यह स्थिर लागत अधिकाधिक इकाइयों में विभक्त होती चली जाती है । फलस्वरूप औसत स्थिर लागत

कम होती जाती है । उत्पादन में वृद्धि की प्रारम्भिक अवस्था में औसत स्थितर लागत शीघ्रता से घटती है, किन्तु बाद में यह धीमी गति से घटती जाती है, लेकिन औसत स्थिर लागत कभी शून्य नहीं होती है, इसे निम्न सूत्र द्वारा ज्ञात किया जा सकता है-

$$\text{Average Fixed Cost} = \frac{\text{Total Fixed Cost}}{\text{Total Output}}$$

रेखचित्र 10.2 में औसत स्थिर लागत रेखा को बताया गया है ।तालिका 10.2 के कॉलम 5 में (AFC) को दिखाया गया है, जो उत्पादन में वृद्धि के साथ कम होती जा रही है । रेखाचित्र 10.2 (AFC) रेखा एक गिरती रेखा है, प्रारम्भ में अधिक तेजी से गिरती है, लेकिन बाद में धीमी गति से गिरने लगती है । यह रेखा OX-axis को छूती नहीं है अर्थात् AFC शून्य नहीं होती है । अन्त में यह OX-axis के समान्तर होने लगती है ।

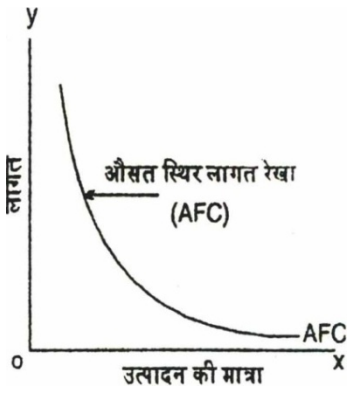

रेखाचित्र 10.2

(2) **औसत परिवर्तनशील लागत (Average Variable Cost) -** कुल परिवर्तनशील लागत में उत्पादन की कुल मात्रा का भाग देकर उतादन की मात्रा औसत परिवर्तनशील लागत ज्ञात की जा सकती है । उत्पादन की मात्रा में वृद्धि के साथ औसत परिवर्तनशील लागत कम हो जाती है; लेकिन यह कमी उस सीमा तक ही जारी रहती है, जब तक फर्म में साधनों का अनुकूलतम संयोग स्थापित नहीं हो जाता है । दूसरे शब्दों में, बड़े पैमाने के उत्पादन के लाभों की प्राप्ति के कारण औसत परिवर्तनशील लागत न्यूनतम होती है । यदि फर्म अपनी क्षमता से भी अधिक उत्पादन करने लगती है, तो औसत परिवर्तनशील लागत बढ़ने लगती है । औसत परिवर्तनशील लागत रेखा का आकार 'अंग्रेजी' के 'U' शब्द के समान होता है ।

$$\text{Average Variable Cost} = \frac{\text{Total Variable Cost}}{\text{Total Output}}$$

रेखाचित्र 10.3 में औसत परिवर्तन लागत रेखा को दर्शाया गया है । रेखाचित्र के अनुसार औसत परिवर्तनशील लागत रेखा 'U' आकार की है । प्रारम्भ में उत्पादन वृद्धि के साथ-साथ यह C से A बिन्दु तक गिरती है । 'A' बिन्दु पर औसत परिवर्तनशील लागत न्यूनतम हो जाती है । 'A' से 'B' बिन्दु तक अर्थात् 'A' बिन्दु के बाद उत्पादन की मात्रा बढ़ाने पर औसत परिवर्तनशील लागत बढ़ने लगती है । इसका कारण उत्पत्ति

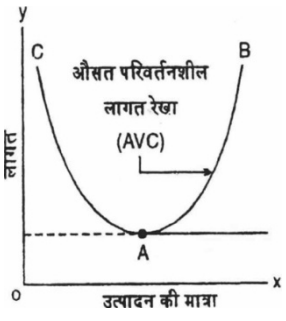

रेखाचित्र 10.3

के घटते प्रतिफल की अवस्था का प्रारम्भ होना है । 'A' बिन्दु आदर्शतम उत्पादन का बिन्दु (Point of Optimum Production) कहलाता है, क्योंकि इस बिन्दु पर औसत परिवर्तनशील लागत न्यूनतम होती है ।

औसत कुल लागत (Average Total Cost)C - यदि कुल लागत में उत्पादित वस्तुओं की कुल मात्रा का भाग दिया जाये, तो औसत कुल प्राप्त होगी । औसत स्थिर लागत तथा औसत परिवर्तनशील लागत को जोड़कर भी औसत कुल ज्ञात की जा सकती है ।

$$\text{Average Total Cost} = \frac{\text{Total Cost}}{\text{Total Output}}$$

अथवा

Average Total Cost = Average Fixed Cost+Average Variable Cost

औसत कुल लागत की मात्रा औसत स्थिर लागत एवं औसत लागत की मात्रा पर निर्भर करती है । सामान्यत: प्रारम्भिक अवस्था में उत्पादक में वृद्धि के साथ स्थिर लागत एवं औसत परिवर्तनशील लागत दोनों में कमी आती है । इस कारण औसत कुल में कमी होने लगती है, लेकिन एक सीमा के बाद (जब उत्पादन अनुकूलतम में पहुँच जाता है) उत्पादन वृद्धि के कारण औसत परिवर्तनशील लागतों में वृद्धि होने लगती है जबकि औसत स्थिर लागतें बहुत धीमी गति से कम होने लगती हैं । परिणामस्वरूप औसत कुल लागतें बढ़ने लगती हैं । इसे रेखाचित्र 10.4 में दर्शाया गया है ।

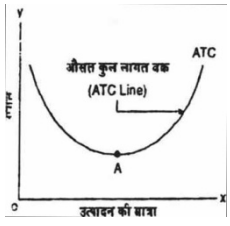

रेखाचित्र 10.4

रेखाचित्र के अनुसार ATC रेखा का आकार भी अंग्रेजी के शब्द 'U' के समान ही है । प्रारम्भ में उत्पादन वृद्धि के साथ ATC रेखा गिरती जाती है । 'A' पर औसत कुल लागत न्यूनतम होती है । इसके बाद उत्पादन बढ़ने के साथ औसत कुल लागत (ATC) रेखा ऊपर उठने लगती है ।

10.4 सीमान्त लागत (Marginal Cost)

किसी वस्तु की एक अतिरिक्त इकाई के उत्पादन से कुल लागत में जो वृद्धि होती है, उसे सीमान्त लागत कहते हैं । सीमान्त इकाई का तात्पर्य अन्तिम इकाई से है । अत: अन्तिम इकाई के उत्पादन पर होने वाला व्यय **सीमान्त लागत** कहलाता है । दूसरे शब्दों में, **एक अतिरिक्त इकाई उत्पादन करने से जो अतिरिक्त लागत आती है उसे सीमान्त लागत कहते हैं ।** उदाहरण के लिए यदि कोई उत्पादक 15 वस्तुओं का उत्पादन करता है, जो अन्तिम इकाई (पन्द्रहवीं इकाई) के उत्पादन पर जो व्यय होता है, उसे सीमान्त लागत कहेंगे इसे कुल लागत में अतिरिक्त वृद्धि के रूप में समझने के लिए तालिका 10.2 के कॉलम 4 व 8 को देखा जा सकता है । तालिका के कॉलम 4 में कुल लागत व कॉलम 8 में सीमान्त लागत को दिखाया गया है । तालिका से स्पष्ट है कि कुल लागत में अतिरिक्त वृद्धि ही सीमान्त लागत है ।

सीमान्त लागत भी उत्पादन की प्रारम्भिक अवस्था में घटती जाती है । लेकिन एक सीमा के बाद यह बढ़ने लगती है । इस कारण सीमान्त लागत रेखा भी अंग्रेजी के शब्द 'U' आकर की होती है । इसके 'U' आकार के होने का कारण यह है कि सीमान्त लागत रेखा कुल ' लागत या कुल परिवर्तनशील लागत में परिवर्तन को बताती हैं,क्योंकि अल्पकाल में स्थिर लागतों में कोई परिवर्तन नहीं होता है । अत:

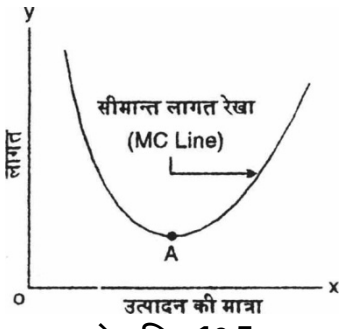

रेखाचित्र 10.5

परिवर्तनशील लागत में परिवर्तन के अनुसार ही कुल लागत में परिवर्तन आते हैं । दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि परिवर्तनशील लागतों में होने वाले परिवर्तन की मात्रा ही सीमान्त लागत होती है अर्थात् एक अतिरिक्त इकाई के उत्पादन से कुल परिवर्तनशील लागत में जो अतिरिक्त वृद्धि होती है, वही सीमान्त लागत कहलाती है । सीमान्त लागत रेखाचित्र 10.5 में दर्शाया गया है । अल्पकाल में उत्पादन की मात्रा में वृद्धि के साथ-साथ कुल लागत (TC) तथा कुल परिवर्तनशील लागत (TVC) घटती हुई दर से बढ़ती है । फलस्वरूप सीमान्त लागत (MC) पूर्व इकाई की तुलना में कम होती है अत: MC रेखा भी नीचे गिरती हुई होगी। एक बिन्दु (A) के बाद (MC) रेखा के गिरने की प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है । इस सीमा के बाद कुल लागत (TC) तथा कुल परिवर्तनशील लागतें बढ़ती हुई दर से बढ़ने लगती हैं । इसलिए इस सीमा के बाद सीमान्त लागत रेखा भी ऊपर उठने लगती है । इस कारण सीमान्त लागत रेखा 'U' आकार की होती है ।

10.5 सीमान्त लागत (MC) एव औसत लागत (AC) में सम्बन्ध

सीमान्त लागत (MC) एव औसत लागत (AC) एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं । इनके सम्बन्ध को रेखाचित्र 10.6 से दिखाया गया है । यह सम्बन्ध निम्न प्रकार है -

(1) प्रारम्भ में औसत लागत (AC) तथा सीमान्त लागत (MC) दोनों गिरती हैं; परन्तु सीमान्त लागत (MC) औसत लागत (AC) की अपेक्षा तीव्र गति से गिरती है ।

(2) उत्पादन के जिस बिन्दु पर सीमान्त लागत (MC) और औसत लागत (AC) बराबर होती है, उस बिन्दु पर औसत लागत (AC) न्यूनतम होती है । दूसरे शब्दों में (MC) में रेखा (AC) को उसके निम्नतमयहाँ पर उत्पादन की मात्रा OM_1 के बराबर है ।

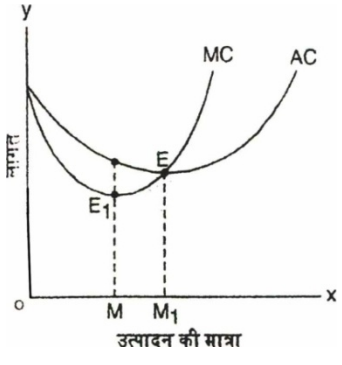

चित्र 10.6

(3) सीमान्त लागत (MC) एवं औसत लागत (AC) समान होने पर बिन्दु E के बाद दोनों बढ़ती है । परन्तु सीमान्त लागत (MC) औसत लागत (AC) की अपेक्षा तीव्र गति से बढ़ती है ।

(4) सीमान्त लागत रेखा का न्यूनतम बिन्दु E_1 कर्म उत्पादन मात्रा पर ही आ जाता है जबकि औसत लागत रेखा का न्यूनतम बिन्दु (E) उत्पादन की अधिक मात्रा पर आता है । रेखाचित्र के उतादन की मात्रा अनुसार OM मात्रा पर सीमान्त लागत न्यूनतम हो जाती है जबकि OM_1 उत्पादन होने पर औसत लागत न्यूनतम होती है ।

(5) यह आवश्यक नहीं है कि सीमान्त लागत (MC) तथा औसत लागत (AC) दोनों में एक ही दिशा में परिवर्तन हो अर्थात् MC रेखा बढ़ने पर भी AC रेखा गिरती हुई हो सकती है ।

रेखाचित्र में MM_1 के मध्य उत्पादन स्तर पर MC रेखा ऊपर बढ़ रही है; लेकिन AC रेखा नीचे गिर रही है ।

10.6 दीर्घकाल में लागत-उत्पादन सम्बन्ध (Cost-output Relationship in Long run)

दीर्घकाल का तात्पर्य उस समयावधि से है, जिसमें उत्पादक अपने उत्पादन के पैमाने में इच्छानुसार परिवर्तन कर सकता है । दीर्घकाल में उत्पादन के सभी साधनों में परिवर्तन, करने के लिये पर्याप्त समय मिल जाता है । इस कारण दीर्घकाल में सभी लागतें (VC) परिवर्तनशील लागतें हो जाती हैं, कोई भी लागत स्थिर लागत (FC) नहीं रहती हैं । इस कारण दीर्घकाल में स्थिर लागत ;परिवर्तनशील लागतों, का अन्तर समाप्त हो जाता है एवं कुल औसत लागत (ATC) तथा सीमान्त लागत (MC) ही रह जाती है । यद्यपि दीर्घकालीन लागतों का व्यावहारिक महत्व नहीं होता है, क्योंकि दीर्घकाल कभी नहीं आता, है । फिर भी उत्पादक भविष्य की आशाओं तथा सम्भावनाओं को ध्यान में रखकर ही निर्णय लेता है । इस प्रकार यदि अल्पकाल का सम्बन्ध आर्थिक कार्यों से है, तो दीर्घकाल का सम्बन्ध आर्थिक निर्णयों से है अर्थात् दीर्घकालीन लागत विश्लेषण निर्णय लेने में सहायक होते हैं ।

दीर्घकालीन सीमान्त लागत रेखा (Long Term Marginal Cost Curve)

दीर्घकाल में एक अतिरिक्त इकाई के उत्पादन से कुल लागत में जो वृद्धि होती है, उसे दीर्घकालीन सीमान्त लागत कहते हैं । वास्तव में अल्पकालीन सीमान्त लागत (SMC) लागत तथा दीर्घकालीन सीमान्त लागत (LMC) में कोई विशेष अन्तर नहीं होता है । इसका आकार भी अंग्रेजी के 'U' अक्षर के समान होता है । LMC तथा LAC का सम्बन्ध वैसा ही होता है, जैसा SMC तथा SAC का होता है । दीर्घकालीन सीमान्त लागत को परिवर्तनशील लागतों के रूप में व्यक्त नहीं कर सकते हैं, क्योंकि दीर्घकाल में स्थिर तथा परिवर्तनशील लागतों का अन्तर समाप्त हो जाता है ।

10.7 सारांश

उत्पादक लाभ प्राप्ति के उद्देश्य से उत्पादन करता है । लाभ की मात्रा मूल्य एवं उत्पादन लागत पर निर्भर करती है । अनेक बार प्रतिस्पर्धा के कारण मूल्यों पर उत्पादन का नियंत्रण नहीं रहता है । अत: अपने लाभ को बढ़ाने के लिए उसे लागत को कम करना होता है । प्रत्येक उत्पादक चाहता है कि वह इतनी मात्रा में उत्पादन करें जहाँ उसका लाभ अधिकतम हो । इन सब बातों के लिए उत्पादन की विभिन्न अवधारणाओं की जानकारी आवश्यक है । इस अध्याय में लागत की विभिन्न अवधारणाओं एवं उनके उत्पादन पर प्रभाव को समझाया गया है । इस अध्याय में मौद्रिक लागत, वास्तविक लागत, आर्थिक लागत, अवसर लागत, स्पष्ट व अस्पष्ट लागत, कुल लागत, स्थिर लागत, परिवर्तनशील लागत, औसत लागत व सीमान्त लागत एवं इनके प्रभावों एवं आपसी सम्बन्धों को रेखाचित्रों के माध्यम से समझाया गया है ।

10.8 शब्दावली / पारिभाषिक शब्द

1. स्पष्ट व व्यक्त लागत : स्पष्ट लागतें वे हैं जिनका भुगतान उत्पादक द्वारा साधन के स्वामी को किया जाता है ।
2. अस्पष्ट या अव्यक्त लागत : इनका भुगतान उत्पादक द्वारा स्वयं के साधनों के बदले में प्राप्त किया जाता है किसी बाहरी व्यक्ति को भुगतान नहीं किया जाता है ।
3. वास्तविक लागत : किसी वस्तु को बनाने में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में लगने वाले विभिन्न प्रकार के मजदूरों का परिश्रम, साथ में उसके उत्पादन में प्रयुक्त पूँजी की बचत के लिए आवश्यक त्याग या प्रतीक्षा, ये सब प्रयत्न और त्याग मिलकर उस वस्तु के उत्पादन की वास्तविक लागत कहलाते हैं ।
4. अवसर लागत : किसी उत्पादन साधन की दी हुई एक इकाई का वह मूल्य जो इसे उद्योग में बनाये रखने के लिए देना आवश्यक है, हस्तान्तरण आय या अवसर लागत कहलाती है ।
5. स्थिर लागत : यह वह लागत है जो उत्पादन की मात्रा से प्रभावित नहीं होती है । यह फर्म को प्रत्येक स्थिति में वहन करनी होती है ।
6. परिवर्तनशील लागत : यह उत्पादन मात्रा में वृद्धि के साथ बढ़ जाती है तथा कमी के साथ कम हो जाती है ।
7. औसत लागत : कुल लागत में वस्तु की उत्पादित इकाइयों का भाग देकर लागत ज्ञात की जाती है ।
8. सीमान्त लागत : वस्तु की एक अतिरिक्त इकाई का उत्पादन करने से जो अतिरिक्त लागत आती है उसे सीमान्त लागत कहते हैं ।

10.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. स्पष्ट लागतें क्या है ?

2. क्या सामान्य लाभ लागत का भाग माना जाता है ?
3. अवसर लागत का अर्थ बताइए ।
4. पुस्तकीय लागतें क्या हैं ?
5. औसत लागत क्या है ?
6. सीमान्त लागत को समझाइए ।
7. उत्पादन की सीमान्त लागत का क्या अर्थ है ?
8. स्पष्ट लागतें व अस्पष्ट लागतों में अन्तर बताइए ।
9. वास्तविक लागत के विचार को समझाइए ।
10. अवसर लागत की तीन विशेषताएँ लिखिए ।
11. प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष लागत में अन्तर बताइए ।
12. स्थिर व परिवर्तनशील लागत में अन्तर बताइए ।
13. औसत लागत व सीमान्त लागत में क्या सम्बन्ध है ?
14. औसत स्थिर लागत घटती हुई क्यों होती है ?
15. निम्नांकित तालिका को पूरा कीजिए -

Output	Total Fixed Cost (TFC)	Total Varivable Cost (TVC)	Tocal Cost (TC)	Marginal Cost (MC)	Average Fixed Cost (AFC)	Average Variable (AVC)	Average Cost (AC)
1	50	15	65				
2	50	30	80				
3	50	40	90				
4	50	45	95				
5	50	50	100				

(16) वास्तविक लागत तथा अवसर लागत में अन्तर बताइए तथा अवसर लागत के सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए ।

(17) प्रमुख लागत तथा पूरक लागत में भेद बतलाइए और इनका किसी वस्तु के मूल निर्धारण में महत्व समझाइए ।

(18) अल्पकाल तथा दीर्घकाल में औसत लागत वक्र के व्यवहार की विवेचना कीजिए । रेखाचित्रों की सहायता से इनके आकार में होने वाले परिवर्तनों की व्याख्या कीजिए ।

(19) औसत लागत तथा सीमान्त लागत में क्या सम्बन्ध होता है ? उपयुक्त रेखाचित्रों की सहायता से स्पष्ट समझाइये ।

(20) विभिन्न प्रकार के अल्पकालीन औसत वक्रों के सम्बन्ध को स्पष्ट कीजिए ।

10.10 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. V.K Mankar, Business Econonics, Himalaya Publishing House, Bombay and Delhi.
2. Dr. D.M. Mithani & V.S.R. Murthy, Fundamentals of Business Economics, Himalaya Publishing House, Dehli.
3. Dr. C.S. Barla, Managerial Economics, Malik & Company, Delhi, Jaipur.
4. M.L. Seth, Micro Economics.
5. Mishra and Puri, Business Economics, Himalaya Publishing House, Dehli.
6. Agarwal and Somdeo, Business Economics, RBD, Jaipur.
7. एच.एल. आहूजा, एस. चान्द, व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण ।
8. एम एल. झिंगन, समष्टि अर्थशास्त्र, Vrinda Publication Delhi.
9. एम.सी. वैश्य, समष्टि अर्थशास्त्र, मलिक एण्ड कम्पनी, जयपुर ।

इकाई-11 मूल्य निर्धारण का सिद्धान्त (Theory of Pricing)

इकाई की रूपरेखा-

11.1 प्रस्तावना

11.2 अर्थ एवं परिभाषा : मूल्य निर्धारण का सामान्य सिद्धान्त

11.3 सन्तुलन मूल्य का निर्धारण

11.4 माँग व पूर्ति में परिवर्तन का साम्य मूल्य पर प्रभाव

11.5 मूल्य का विरोधाभास : पानी व हीरे का उदाहरण

11.6 सारांश

11.7 शब्दावली/पारिभाषिक शब्द

11.8 अभ्यासार्थ प्र'न

11.9 सन्दर्भ ग्रन्थ

11.1 प्रस्तावना (Introduction)

आर्थिक वि'लेषण में मूल्य निर्धारण के सिद्धान्त का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है । वस्तु के उत्पादन को उपभोक्ता तक पहुँचाने के लिए वस्तु का विनिमय करना होता है। वस्तु के विनिमय के लिए मूल्य निर्धारण आवश्यक है । बिना मूल्य निर्धारण के वस्तु का विनिमय सम्भव नहीं होगा । इसके बिना वस्तु का उपभोग व उत्पादन भी नहीं हो सकेगा । इस प्रकार मूल्य निर्धारण का सिद्धान्त अर्थशास्त्र का महत्वपूर्ण सिद्धान्त है । प्रो. बोल्डिग ने लिखा है कि, **" यह कहना कोई अतिश्योक्ति नहीं है कि विनिमय का अध्ययन अर्थशास्त्र के साम्राज्य का 9/10 भाग है ।"**

11.2 अर्थ एवं परिभाषा : मूल्य निर्धारण का सामान्य सिद्धान्त (General Theory or Determination)

मूल्य निर्धारण का **उत्पादन लागत सिद्धान्त** वस्तु की पूर्ति को आधार मानता है, जबकि **उपयोगिता सिद्धान्त** वस्तु की माँग को आधार मानकर मूल्य निर्धारण करता है । वास्तव में ये दोनों सिद्धान्त एकपक्षीय हैं । अत: मार्शल ने इन दोनों सिद्धान्तों को सम्मिलित करते हुए वस्तु के मूल्य निर्धारण का **माँग-पूर्ति सिद्धान्त** विकसित किया है, इसे ही मूल्य निर्धारण का सामान्य सिद्धान्त कहते हैं । इस सिद्धान्त के अनुसार वस्तु का मूल्य उसकी माँग व पूर्ति की शक्तियों के साम्य बिन्दु पर निर्धारित होता है । इस प्रकार निर्धारित मूल्य को ही साम्य मूल्य या सन्तुलित कीमत कहते है तथा इस मूल्य पर बेची गयी मात्रा को साम्य राशि (Equilibrium Amount) कहते हैं ।

मार्शल के अनुसार, **'पूर्ण प्रतियोगिता में किसी वस्तु का मूल्य न तो केवल वस्तु की उत्पादन लागत से निर्धारित होता है और न केवल वस्तु की सीमान्त उपयोगिता से निर्धारित होता है बल्कि वह तो इन दोनों की सापेक्षिक शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है ।"** माँग व पूर्ति का कोई भी अकेला पक्ष वस्तु का मूल्य निर्धारित नहीं कर सकता

है । इसमें दोनों पक्षों का सहयोग होता है । इसको और अधिक स्पष्ट करते हुए मार्शल ने लिखा है कि, **'जिस प्रकार हम इस बात पर विवाद कर सकते हैं कि यह कैंची का ऊपर वाला फलक (blade) है अथवा नीचे वाला जिसने कि कागज के दुकडे को काटा है. उसी प्रकार इस बात पर विवाद हो सकता है कि मूल्य को उपयोगिता निर्धारित करती है अथवा उत्पादन लागत । यह सत्य है कि जिस समय एक फलक को स्थिर रखा जाता है और काटने का काम दूसरे फलक से किया जाता है तो हम लापरवाही से कह सकते हैं कि काटने का कार्य दूसरे ने किया है. किन्तु यह पूर्णतया सत्य नहीं है ।**" मार्शल के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि जिस प्रकार कैंची के दोनों फलकों के सहयोग के बिना कागज को नहीं काटा जा सकता है, उसी प्रकार माँग व पूर्ति के सहयोग के बिना मूल्य निर्धारण नहीं किया जा सकता है । यह सम्भव है कि किसी समय विशेष में माँग अथवा पूर्ति में से एक पक्ष स्थिर रहे और दूसरा पक्ष ही मूल्य निर्धारण में अधिक योगदान दें । लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि स्थिर पक्ष का मूल्य निर्धारण में कोई योगदान नहीं है, जैसे, कैंची का स्थिर फलक आधार का काम करता है । स्पष्ट है कि दोनों शक्तियों के बिना मूल्य निर्धारण सम्भव नहीं हैं ।

व्याख्या : इस सिद्धान्त के अनुसार पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में वस्तु का मूल्य उस बिन्दु पर निर्धारित होता है, जहाँ माँग व पूर्ति की शक्तियों में सन्तुलन स्थापित हो जाता है । इस स्थिति में माँग व पूर्ति की शक्तियाँ एक-दूसरे के प्रभाव को समाप्त कर देती हैं तथा बाजार में स्थिरता की दशा उत्पन्न हो जाती है । इस स्थिति में निर्धारित मूल्य को साम्य मूल्य कहते हैं । **मार्शल के अनुसार, " साम्य मूल्य वह मूल्य है जिस पर किसी वस्तु की मात्रा जो कि विक्रेता बेचने के इच्छुक है, उस मात्रा के बराबर होती है जो क्रेता खरीदने को तैयार है, यह वह मूल्य है जिस पर बाजार साफ हो जाता है । "** अर्थात् न तो अपूरित माँग शेष रहती है न अतिरिक्त पूर्ति ही । वस्तु के मूल्य निर्धारण को समझने के लिए माँग व पूर्ति को समझना आवश्यक है ।

वस्तु की माँग (Demand for Commodity) : माँग पक्ष इस बात का अध्ययन करता है कि किसी वस्तु की माँग क्यों की जाती है तथा उपभोक्ता वस्तु की कितनी मात्रा के लिए कितना मूल्य देने को तत्पर है । वस्तु में उपयोगिता (मानवीय आवश्यकता को सन्तुष्ट करने का गुण) होती है । अत: एक उपभोक्ता अपनी आवश्यकता को सन्तुष्ट करने के लिए वस्तु की माँग करता है व उसके लिए वह कुछ त्याग करने को तैयार रहता है, यह त्याग द्रव्य के रूप में होता है । यदि किसी वस्तु से अधिक उपयोगिता प्राप्त हो रही है, तो उपभोक्ता उसके लिए अधिक त्याग करने को तैयार हो जाता है । फलस्वरूप उसकी कीमत बढ़ जाती है । उसके विपरीत वस्तु का मूल्य भी उपयोगिता को प्रभावित करता है । मूल्य अधिक होने पर वह वस्तु की कम इकाइयाँ खरीदना चाहेगा । कोई क्रेता वस्तु की कितनी इकाइयाँ खरीदेगा, यह वस्तु की सीमान्त उपयोगिता पर निर्भर करता है ।

एक क्रेता कभी भी सीमान्त उपयोगिता से अधिक मूल्य नहीं देना चाहेगा । इस प्रकार वस्तु के माँग पक्ष की ओर से वस्तु का मूल्य उसकी सीमान्त उपयोगिता से अधिक नहीं हो सकता है अर्थात् माँग पक्ष की ओर से वस्तु की सीमान्त उपयोगिता ही उसके मूल्य की अधिकतम सीमा है ।

वस्तु की माँग मात्रा व मूल्य में ऋणात्मक सम्बन्ध होता है । जिस मूल्य पर उपभोक्ता वस्तु की एक निश्चित मात्रा खरीदने के लिए तैयार हो जाता है, उसे माँग मूल्य कहते हैं । वस्तु के विभिन्न मूल्यों पर उपभोक्ता द्वारा खरीदी जाने वाली विभिन्न मात्राओं की अनुसूची को माँग तालिका कहते हैं । यह इस बात की जानकारी देती है कि वस्तु के भिन्न-भिन्न मूल्यों पर वस्तु की माँग कितनी होगी । रेखाचित्र 1 में माँग रेखा को दर्शाया गया है । चित्र में दो बातें बतायी गई हैं :-

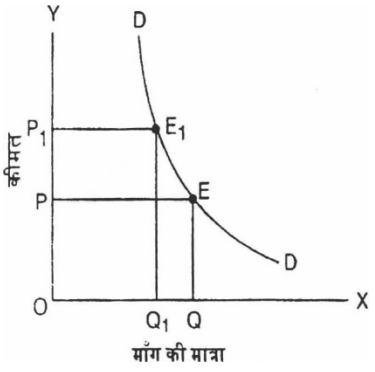

चित्र - 1

(i) माँग रेखा का प्रत्येक बिन्दु एक निश्चित मूल्य पर वस्तु की माँगी जाने वाली मात्रा को बताता है, जैसे, E_1 बिन्दु पर OP_1कीमत होगी तथा OO_1 मात्रा की माँग की जायेगी।

(ii) माँग रेखा का प्रत्येक बिन्दु वस्तु की निश्चित मात्रा से प्राप्त सीमान्त उपयोगिता को बताता है, जैसे OP_1 मूल्य पर वस्तु की OQ_1 मात्रा माँगी जा रही है । इसमें वस्तु की सीमान्त उपयोगिता OP_1 है जो कीमत के बराबर है । यदि वस्तु का मूल्य घटकर OP हो जाये, तो वस्तु की माँग OQ हो जायेगी तथा सीमान्त उपयोगिता EQ अथवा OP होगी । इस प्रकार वस्तु का अधिकतम मूल्य सीमान्त उपयोगिता के बराबर होता है, यह सम्भव है कि उपभोक्ता उससे कम मूल्य देता हो ।

वस्तु की पूर्ति (Supply of Commodity) : प्रत्येक वस्तु के उत्पादन में कुछ न कुछ व्यय करना होता है अर्थात् वस्तु की कुछ न कुछ उत्पादन लागत होती है । इसलिए एक उत्पादक वस्तु के लिए मूल्य लेना चाहता है । एक उत्पादक अपने लाभ को अधिकतम करने के उद्देश्य से यह प्रयास करता है कि उसे वस्तु का अधिकतम मूल्य मिले । यदि उसे अधिक लाभ मिलता है तो वह उत्पादन की मात्रा बढ़ाकर अपने लाभ कों अधिकतम करने का प्रयास करता है । इस प्रकार बढ़ी हुई लागत पर पूर्ति की मात्रा बढ़ने लगती है, लेकिन पूर्ति की मात्रा में वृद्धि के कारण मूल्यों में कमी आने लगती है । फलस्वरूप उत्पादक के लाभ में कमी होने लगती है, इससे वह उत्पादन घटाने लगता है । सामान्य रूप से एक उत्पादक वस्तु का उत्पादन उस सीमा तक करता है , जहाँ वस्तु की उत्पादन लागत उसके मूल्य के बराबर हो जाती है । इससे अधिक उत्पादन करने पर (लागत वृद्धि नियम के कारण) उसकी उत्पादन लागत बढ़ जाती है जबकि मूल्य नहीं बढ़ता है । अत: उसे हानि होगी ।

कोई भी उत्पादक अपनी वस्तु का मूल्य कम से कम सीमान्त लागत के बराबर अवश्य लेना चाहता है । लेकिन दीर्घकाल में वस्तु का मूल्य न केवल सीमान्त लागत के बराबर बल्कि औसत लागत के बराबर भी होना चाहिए, अन्यथा -उत्पादक को हानि होगी और वह वस्तु का उत्पादन बन्द कर देगा । इस प्रकार पूर्ति पक्ष की ओर से सीमान्त लागत वस्तु के मूल्य की निम्नतम सीमा होती है । एक उत्पादक द्वारा विभिन्न मूल्यों पर वस्तु की बेची जाने वाली मात्राओं को तालिका में रखने से पूर्ति तालिका बनाती है । पूर्ति तालिका को रेखा में व्यक्त करने से पूर्तिr रेखा बनती है । रेखाचित्र 2 में पूर्ति रेखा को बताया गया है । चित्र के अनुसार वस्तु का मूल्य OP होने पर पूर्ति की मात्रा OQ है । यदि मूल्य में वृद्धि हो जाती है

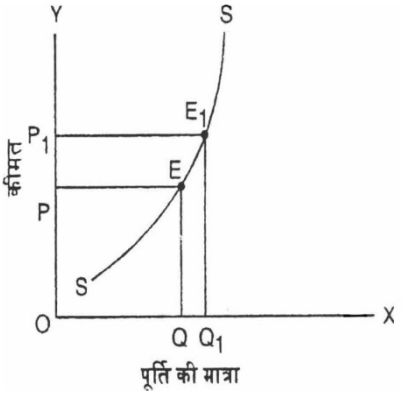

चित्र - 2

अर्थात् OP_1 मूल्य हो जाता है तो पूर्ति की मात्रा बढ़कर 00_1 हो जायेगी । इस प्रकार मूल्य में कमी होने पर पूर्ति की मात्रा कम हो जायेगी । रेखाचित्र में पूर्ति रेखा दो बातों को स्पष्ट करती है - (i) एक निश्चित मूल्य पर वस्तु की पूर्ति की मात्रा तथा (ii) पूर्ति मात्रा की सीमान्त लागत । वस्तु की OQ_1 पूर्ति होने पर इसकी सीमान्त लागत EQ या OP है ।

11.3 सन्तुलन मूल्य का निर्धारण (Determination of Equilibrium Price)

माँग एवं पूर्ति के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि वस्तु के मूल्य निर्धारण की दो सीमाएँ होती हैं । माँग पक्ष (क्रेता) की ओर से वस्तु की सीमान्त उपयोगिता मूल्य की उच्चतम सीमा होती है । क्रेता इससे अधिक मूल्य नहीं देना चाहता है । पूर्ति पक्ष (विक्रेता) की ओर से सीमान्त लागत मूल्य की निम्नतम सीमा होती है । विक्रेता इससे कम मूल्य नहीं लेना चाहता है । वास्तविक मूल्य इन दोनों सीमाओं के मध्य निर्धारित होता है । वास्तविक मूल्य नहीं निर्धारित होगा, यह माँग व पूर्ति की सापेक्षित शक्तियों पर निर्भर करेगा ।

पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में माँग व पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियाँ मूल्य निर्धारित करती हैं । इसमें क्रेताओं व विक्रेताओं के मध्य सौदेबाजी चलती रहती है । एक क्रेता यह चाहता है कि वह वस्तु का कम से कम मूल्य दे, ताकि उसे अधिकाधिक उपभोक्ता की बचत प्राप्त हो । वह सीमान्त उपयोगिता से अधिक मूल्य नहीं देगा, क्योंकि इससे अधिक मूल्य देने पर उसे हानि होगी । दूसरी ओर, विक्रेता यह चाहता है कि उसे वस्तु का अधिक से अधिक मूल्य मिले ताकि उसका लाभ अधिकतम हो । वह किसी भी

हालत में सीमान्त लागत से कम मूल्य पर वस्तु को नहीं बेचेगा । इस सौदेबाजी में वस्तु का मूल्य उस स्थान पर निर्धारित होता है, जहाँ माँग व पूर्ति की शक्तियों में साम्य होता है अर्थात् उस मूल्य पर जहाँ क्रेता वस्तु को खरीदने के लिए तैयार है एवं विक्रेता बेचने के लिए तैयार है, इसे ही साम्य मूल्य या सन्तुलन मूल्य कहते हैं । इस मूल्य पर वस्तु की माँग व पूर्ति की मात्रा समान हो जाती है । मार्शल के अनुसार, " वस्तु का मूल्य सीमान्त उपयोगिता तथा सीमान्त लागत के बीच माँग व पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियों द्वारा उस स्थान पर निर्धारित होता है जहाँ पर वस्तु की पूर्ति उसकी माँग के बराबर होती है ।"

उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण

साम्य मूल्य का निर्धारण

वस्तु X की माँग (इकाईयों में)	मूल्य प्रति इकाई (रु. में)	वस्तु X की पूर्ति (इकाईयों में)	विशेष विवरण
1000	1	200 ↓	माँग अधिक पूर्ति कम होने से मूल्य में वृद्धि
800	2	400 ↓	
600	3	600 =	साम्य (माँग व पूर्ति बराबर माँग कम व पूर्ति अधिक होने से मूल्य में कमी)
400	4	800 ↑	
200	5	1000 ↑	

तालिका से स्पष्ट है कि साम्य मूल्य 3 रु. प्रति इकाई है । इस मूल्य पर वस्तु की 600 इकाइयों की माँग तथा 600 इकाइयों की पूर्ति दोनों बराबर है । इसमें प्रत्येक क्रेता को वस्तु मिल जाती है तथा प्रत्येक विक्रेता वस्तु बेच लेता है । वस्तु की माँग 100 इकाइयाँ होने पर वस्तु की पूर्ति 200 इकाइयाँ दिखाई गई है । इस स्थिति में वस्तु का मूल्य 1 रु. प्रति इकाई है । माँग के नियम के अनुसार मूल्य बढ़ने से पूर्ति बढ़ती है व माँग कम होती है । 2 रु. मूल्य होने पर पूर्ति की मात्रा बढ़कर 400 इकाइयाँ तथा माँग घटकर 800 इकाइयाँ हो जाती हैं । इस स्थिति में भी अतिरिक्त माँग (800-400) =400 इकाइयों की रहती है । अपूरित माँग रहने से मूल्य बढ़ता है तथा 3 रु. प्रति इकाई हो जाता है । इस में माँग घटकर 600 इकाइयाँ तथा पूर्ति बढ़कर 600 इकाइयाँ हो जाती हैं । यह साम्य की स्थिति है, ' न तो अतिरिक्त माँग है और न ही अतिरिक्त पूर्ति । साम्य मूल्य को सामान्य मूल्य, सन्तुलित मूल्य या दीर्घकालीन मूल्य भी कहा जाता है ।

रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण -

सन्तुलित मूल्य निर्धारण की प्रक्रिया को रेखाचित्र 3 से समझाया गया है ।

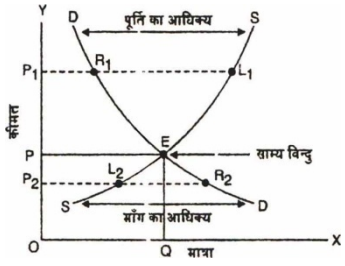

चित्र 3

रेखाचित्र में OX-axis पर वस्तु की माँग व पूर्ति की मात्रा को तथा OY-axis पर वस्तु की कीमत को दर्शाया गया है । DD रेखा वस्तु की माँग रेखा है जबकि SS रेखा वस्तु की पूर्ति रेखा है । माँग व पूर्ति रेखा E बिन्दु पर एक दूसरे को काटती हैं अत: यह साम्य बिन्दु है, इस पर वस्तु की OQ मात्रा तथा OP कीमत निर्धारित होती है । इस प्रकार OP वस्तु का साम्य तथा OQ वस्तु साम्य मात्रा है । मान लीजिये वस्तु का मूल्य OP_1 है जो साम्य मूल्य से अधिक है तो इस मूल्य पर वस्तु की माँग $P_1 R_1$ तथा $R_1 L_1$ के बराबर पूर्ति की मात्रा अधिक होगी । इस अतिरिक्त पूर्ति को बेचने के लिए विक्रेताओं में प्रतियोगिता होगी । फलस्वरूप मूल्य घटकर OP हो जायेगा, जहाँ माँग व पूर्ति समान होगी ।

इसी प्रकार यदि मूल्य OP_2 होता है जो साम्य मूल्य से कम है, तो इस स्थिति में पूर्ति की मात्रा P_2L_2 तथा माँग की मात्रा P_2R_2 होगी । इस प्रकार माँग की मात्रा L_2R_2 अधिक होगी । इस अतिरिक्त माँग के कारण क्रेताओं में प्रतियोगिता होगी और वे वस्तु का अधिक मूल्य देने को तैयार हो जायेंगे । फलस्वरूप मूल्य बढ़कर OP हो जाएगा । इस प्रकार क्रेताओं की प्रतियोगिता मूल्य को वृद्धि की ओर धकेलेगी तथा विक्रेताओं की प्रतियोगिता मूल्य को कमी की ओर । अन्तत: साम्य मूल्य ही बाजार में प्रचलित रह सकेगा ।

11.4 माँग व पूर्ति में परिवर्तन का साम्य मूल्य पर प्रभाव (Effect of The Change of Demand and Supply)

यहाँ यह बात ध्यान रखने योग्य है कि साम्य मूल्य सदैव स्थायी नहीं होता । माँग व पूर्ति की शक्तियों में परिवर्तन न होने तक साम्य मूल्य स्थिर बना रहता है, लेकिन व्यावहारिक जगत में माँग व पूर्ति की शक्तियाँ अनेक कारणों से परिवर्तित होती रहती हैं । अत: पुराना साम्य मूल्य भंग होकर नया साम्य मूल्य स्थापित हो जाता है । माँग व पूर्ति में परिवर्तन के साम्य मूल्य पर प्रभाव को तीन भागों में बाँटा जा सकता -

(1) माँग में परिवर्तन व साम्य मूल्य,

(2) पूर्ति में परिवर्तन व साम्य मूल्य, तथा

(3) माँग व पूर्ति दोनों में परिवर्तन व साम्य मूल्य ।

(1) **माँग में परिवर्तन व साम्य मूल्य (Change In Demand and Equilibrium Price) -** वस्तु की माँग में कमी या वृद्धि से है । किसी भी वस्तु की माँग अनेक तत्वों से प्रभावित होती है, जैसे, उपभोक्ता की आय, रूचि, सम्बन्धित वस्तुओं की कीमत आदि । जब हम माँग में परिवर्तन के साम्य मूल्य पर प्रभाव का अध्ययन करते हैं, तो यह मान लेते हैं कि पूर्ति स्थिर रहेगी । सामान्य रूप से वस्तु की माँग बढ़ने पर वस्तु की कीमत बढ़ जाती है तथा माँग कम होने पर कीमत कम हो जाती है, लेकिन माँग में परिवर्तन का वस्तु के मूल्य पर कितना प्रभाव पड़ेगा यह वस्तु की 'पूर्ति की लोच' (Elasticity of Supply) पर निर्भर करेगा ।

यदि वस्तु की **पूर्ति की लोच कम लोचदार** है तो वस्तु की माँग में वृद्धि होने पर पूर्ति में बहुत कम वृद्धि हो पायेगी । फलस्वरूप कीमत में अधिक वृद्धि होगी । इसके विपरीत माँग में कमी होने पर पूर्ति में कमी न होने से मूल्य में अधिक कमी होगी । इसे रेखाचित्र 4 में दिखाया गया है । चित्र के अनुसार SS रेखा कम लोचदार पूर्ति रेखा है तथा DD रेखा प्रारम्भिक माँग रेखा है । इस स्थिति में E बिन्दु साम्य बिन्दु है तथा वस्तु की OP कीमत पर OQ मात्रा बेची जा रही है । माँग में वृद्धि होने पर D_1D_1 नयी माँग रेखा बनती है । कम लोचदार पूर्ति के कारणपूर्ति में बहुत कम वृद्धि OQ_1 के बराबर होती है जबकि नया सन्तुलन E_1 बिन्दु पर होता है । इस स्थिति में कीमत बढ़कर OP_1 हो जाती है ।

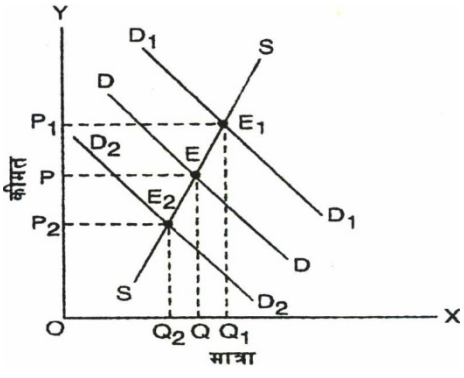

चित्र 4

इसके विपरीत माँग घटने पर D_2D_2 नयी माँग रेखा बनती है जो पूर्ति रेखा को E_2, बिन्दु पर काटती है । अत: नया साम्य मूल्य OP_2 तथा साम्य OQ_2 हो जाती है । इससे स्पष्ट है कि कम लोचदार पूर्ति रेखा की स्थिति में माँग की मात्रा मूल्य को अधिक प्रभावित करती है ।

यदि वस्तु की **पूर्ति में लोच 'इकाई के बराबर'** है अर्थात् औसत लोचदार पूर्ति रेखा है, तो वस्तु की माँग में परिवर्तन से मूल्य एवं पूर्ति दोनों में आनुपातिक परिवर्तन समान होगा । रेखाचित्र 5 में औसत लोचदार पूर्ति की स्थिति में माँग में परिवर्तन के प्रभाव को दिखाया गया है । रेखाचित्र के अनुसार SS पूर्ति रेखा है तथा DD प्रारम्भिक माँग रेखा है । दोनों E बिन्दु पर साम्य की स्थिति में है । अत: OP साम्य मूल्य व OQ साम्य मात्रा है । माँग बढ़ने पर नयी माँग रेखा D_1D_1 हो जाती है तथा नया साम्य बिन्दु E_1 होता है । अत: OP_1 नयी कीमत एवं OP_1 नयी साम्य मात्रा है, यहाँ यह ध्यान रखने योग्य बात है कि माँग में वृद्धि से एक ओर कीमत बढ़ी है, तो दूसरी ओर उसी अनुपात में पूर्ति की मात्रा भी बढ़ी है ।

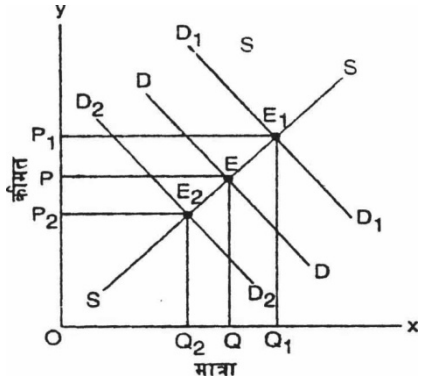

चित्र 5

यदि वस्तु की **पूर्ति रेखा अत्यधिक लोचदार है** तो माँग में परिवर्तन के फलस्वरूप मूल्य में कम परिवर्तन होगा जबकि पूर्ति के मात्रा में अधिक परिवर्तन होगा । रेखाचित्र 6 द्वारा इसे दर्शाया गया है । चित्र के अनुसार SS पूर्ति रेखा है तथा DD प्रारम्भिक माँग रेखा है तो E बिन्दु साम्य बिन्दु है जिस पर OP साम्य मूल्य व OQ साम्य मात्रा है । माँग में वृद्धि होने पर नया माँग वक्र D_1D_1होगा तथा नया साम्य बिन्दु E_1 होगा । इससे नयी साम्य कीमत OP_1 तथा साम्य मात्रा OQ_1 होगी । चित्र से स्पष्ट है कि लोचदार पूर्ति के कारण माँग में वृद्धि की तुलना में मूल्य में कम वृद्धि हुई है तथा पूर्ति में अधिक वृद्धि हुई है ।

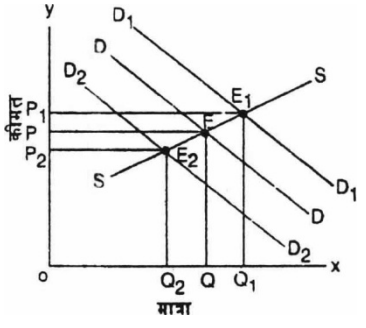

चित्र 6

(2) **पूर्ति में परिवर्तन व साम्य मूल्य (Change in Supply and Equilibrium Price)-** वस्तु की पूर्ति में अनेक कारणों से परिवर्तन होते हैं, जैसे, नये आविष्कार, नये कच्चे माल की खोज, नयी तकनीक की खोज आदि । माँग के स्थिर रहने पर पूर्ति में वृद्धि से मूल्य में कमी आती है तथा पूर्ति में कमी से मूल्य में वृद्धि होती है । पूर्ति में परिवर्तन व साम्य के प्रभाव की माँग की लोच के आधार पर निम्न प्रकार देखा जा सकता है - यदि माँग कम लोचदार है, तो पूर्ति में वृद्धि से आनुपातिक रूप से मूल्य में अधिक कमी होगी । इसके विपरीत पूर्ति में कमी से आनुपातिक रूप से मूल्य में अधिक वृद्धि होगी । रेखाचित्र 7 में बताया गया है । चित्र में DD रेखा कम लोचदार माँग रेखा है तथा SS प्रारम्भिक पूर्ति रेखा है । E बिन्दु साम्य बिन्दु है जिस पर OP साम्य मूल्यु व OQ साम्य मात्रा है । पूर्ति बढ़ने पर नयी पूर्ति रेखाS_1S_1 तथा नया साम्य बिन्दु E_1 होगा । इससे नही साम्य कीमत OP_1 तथा साम्य मात्रा OQ_1 होगी ।

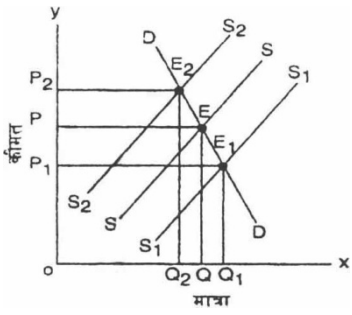

चित्र 7

चित्र से स्पष्ट है कि पूर्ति में परिवर्तन होने पर कीमत में कमी की तुलना में विनिमय मात्रा में कम वृद्धि हुई । इसी प्रकार पूर्ति कम होने पर कीमत में आनुपातिक वृद्धि की तुलना में विनिमय मात्रा में कमी आयी है ।

यदि **माँग इकाई के बराबर लोचदार** (औसत लोचदार) है तो पूर्ति में परिवर्तन के प्रभाव को निम्न रेखाचित्र 8 द्वारा देखा जा सकता है । चित्र में प्रारम्भिक साम्य E बिन्दु पर है, तथा साम्य कीमत OP व साम्य मात्रा OQ है । पूर्ति बढ़ने पर नया साम्य E_1 बिन्दु पर होगा तथा साम्य कीमत OP_1 साम्य मात्रा OQ होगी । चित्र से स्पष्ट है कि पूर्ति में परिवर्तन से कीमत व विनिमय मात्रा में आनुपातिक परिवर्तन एक समान है । चित्र में PP_1 व OQ_1 की दूरी समान है, जो यह बताती है कि दोनों में परिवर्तन समान है ।

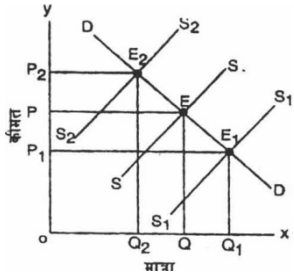

चित्र 8

यदि **माँग की लोच इकाई से अधिक है** अर्थात् लोचदार माँग है तो पूर्ति' में परिवर्तन की कीमत व विनिमय मात्रा में पड़ने वाले प्रभाव को रेखाचित्र 9 से देखा जा सकता है। चित्र के अनुसार प्रारम्भिक सन्तुलन बिन्दु E है, जहाँ OP साम्य मूल्य व OQ साम्य मात्रा है । पूर्ति में वृद्धि होने पर नया साम्य E_1 बिन्दु पर होगा जहाँ साम्य मूल्य OP_1 व साम्य मात्रा OQ_1 होगी । चित्र से स्पष्ट है कि पूर्ति में परिवर्तन होने पर कीमत के अनुपात से विनिमय मात्रा में अधिक परिवर्तन हुआ है। चित्र में PP_1 तथा विनिमय मात्रा में परिवर्तन OQ_1है जो PP_1 से अधिक है ।

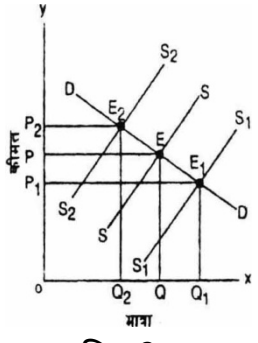

चित्र 9

(3) माँग व पूर्ति दोनों में परिवर्तन व साम्य मूल्य (Combined Change in Demand and Supply and Equilibrium Price) - अभी तक माँग व पूर्ति में से एक को स्थिर रखकर दूसरे में परिवर्तन के प्रभावों का अध्ययन किया गया है । अब हम यह देखेंगे कि माँग पूर्ति दोनों में परिवर्तन होने पर साम्य मूल्य पर क्या प्रभाव पड़ता है । माँग व पूर्ति में संयुक्त परिवर्तन के साम्य मूल्य पर प्रभाव को निम्न चार शीर्षकों में देखा जा सकता है:-

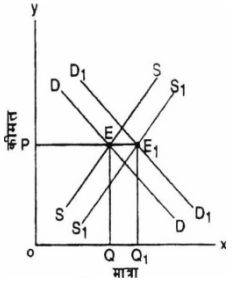

चित्र 10 (A)

(A) **माँग व पूर्ति दोनों में वृद्धि व साम्य मूल्य -** माँग व पूर्ति दोनों में वृद्धि होने पर वस्तु के मूल्य एवं मात्रा में परिवर्तन इस बात पर निर्भर करेगा कि दोनों की परिवर्तन दर क्या है । इसमें तीन स्थितियाँ हो सकती हैं - (i) जब माँग व पूर्ति दोनों में एक ही अनुपात में वृद्धि होती है, तो वस्तु के मूल्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, लेकिन विनिमय की मात्रा बढ़ जाती है । रेखाचित्र 10(A) में इसे दिखाया गया है । (ii) जब वस्तु की माँग पूर्ति की तुलना में अधिक बढ़ती है तो वस्तु का मूल्य तथा विनिमय मात्रा दोनों बढ़ते हैं । देखिए रेखाचित्र 10(B) तथा (iii) जब वस्तु की माँग पूर्ति की तुलना में कम बढ़ती है, तो मूल्य में कमी तथा विनिमय की मात्रा में वृद्धि होती है । इसे रेखाचित्र 10(C) में दिखाया गया है ।

(B) **माँग व पूर्ति दोनों में कमी व साम्य मूल्य -** माँग व पूर्ति दोनों में कमी से वस्तु के मूल्य एवं मात्रा में परिवर्तन इस बात पर निर्भर करेगा कि दोनों में परिवर्तन की दर क्या है, इसमें तीन स्थितियाँ हो सकती हैं - (i) जब माँग व पूर्ति दोनों एक ही अनुपात में कम होती है तो मूल्य अपरिवर्तित रहेगा । लेकिन विनिमय की मात्रा कम हो जायेगी । (ii) जब माँग-पूर्ति की तुलना में अधिक कम होती है, तो मूल्य व विनिमय मात्रा दोनों में कमी आ जायेगी । (iii) जब पूर्ति माँग की तुलना में अधिक कम होती है, तो मूल्य बढ़ेगा और विनिमय मात्रा कम हो जायेगी ।

(C) **माँग में वृद्धि व पूर्ति में कमी तथा साम्य मूल्य -** जब वस्तु की माँग में वृद्धि होती है

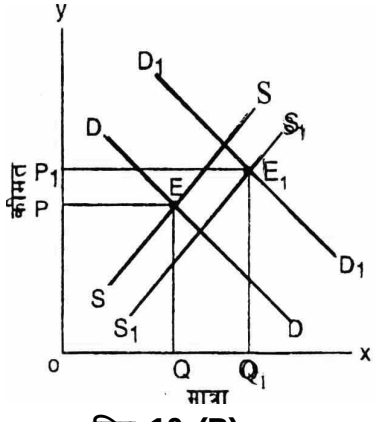

चित्र 10 (B)

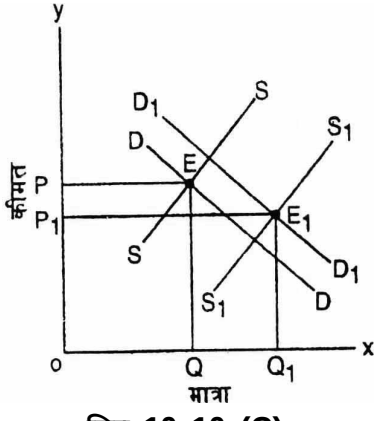

चित्र 10 10 (C)

तथा पूर्ति में कमी होती है, तो दोनों के प्रभाव से मूल्य बढ़ेगा । क्योंकि एक ओर माँग में वृद्धि से मूल्य बढ़ेगा तो दूसरी ओर पूर्ति में कमी से मूल्य बढ़ेगा । इससे मूल्य में तेजी से वृद्धि होगी जबकि विनिमय की मात्रा कम हो जायेगी । इसे रेखाचित्र' 11 में दिखाया गया है । रेखाचित्र में SS प्रारम्भिक पूर्ति रेखा है व DD प्रारम्भिक रेखा मांग है । S_1S_1 नयी घटी हुई पूर्ति रेखा है तथा D_1D_1 बढ़ी हुई माँग रेखा है । पुराना साम्य E बिन्दु पर है, जहाँ OP कीमत व OQ

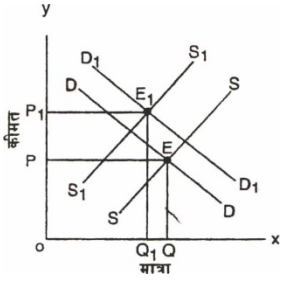

चित्र 11

साम्य मात्रा है । नया साम्य E_1 बिन्दु पर होगा जहाँ OP_1 मूल्य व OQ_1 साम्य मात्रा होगी । चित्र से स्पष्ट है कि नये साम्य की स्थिति में मूल्य में अधिक वृद्धि PP_1 हुई है जबकि विनिमय मात्रा Q_1Q में कमी आयी है ।

(D) **माँग में कमी व पूर्ति में वृद्धि तथा साम्य -** माँग में कमी होने, पर मूल्य में कमी होगी तथा पूर्ति में वृद्धि होने पर भी मूल्य में कमी होगी । इस प्रकार दोनों के प्रभाव से मूल्य में अधिक कमी आयेगी ।

माँग में कमी विनिमय की मात्रा को घटायेगी जबकि पूर्ति में वृद्धि विनिमय की मात्रा को बढ़ायेगी । वास्तविक परिवर्तन की दिशा माँग व पूर्ति में सापेक्षिक परिवर्तन के आकार पर निर्भर करेगी । रेखाचित्र 12 में इसे देखा जा सकता है । चित्र से स्पष्ट है कि प्रारम्भिक साम्य बिन्दु E है । इस बिन्दु पर कीमत OP कीमत व OQ साम्य मात्रा है । माँग में कमी व पूर्ति में वृद्धि के फलस्वरूप नया साम्य बिन्दु E_1 हुआ । जहाँ OP_1 कीमत व OQ_1 साम्य मात्रा है । स्पष्ट है कि कीमत में अधिक कमी आयी है तथा माँग में थोड़ी-सी वृद्धि हुई है । इसका तात्पर्य यह है कि माँग में कमी की अपेक्षा पूर्ति में वृद्धि का प्रभाव वस्तु की मात्रा पर अधिक पड़ा है ।

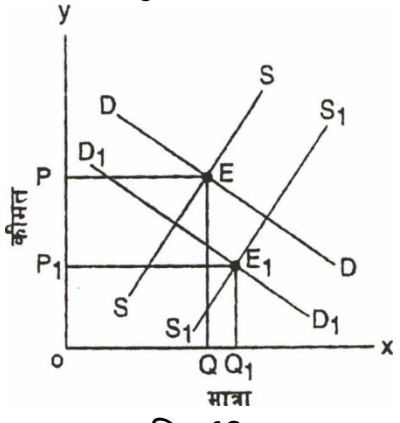

चित्र 12

11.5 मूल्य का विरोधाभास : पानी व हीरे का उदाहरण (The Paradox of Value: Example of Water and Diamond)

मूल्य निर्धारण के सामान्य सिद्धान्त के अनुसार किसी वस्तु का मूल्य उस वस्तु की माँग व पूर्ति की शक्तियों द्वारा निर्धारण होता है । प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने उपयोगिता की धारणा के आधार पर वस्तु मूल्य निर्धारण की व्याख्या की, किन्तु उपयोगिता के आधार पर मूल्य निर्धारण में यह कठिनाई थी कि बहुत-सी वस्तुओं के मूल्य उनकी उपयोगिता के अनुसार नहीं थे । उदाहरणार्थ हीरा मानव के लिए पानी की अपेक्षा कम उपयोगी होते हुए भी तुलना में बहुत अधिक कीमती है । प्राचीन अर्थशास्त्री मूल्य निर्धारण के इस विरोधाभास की व्याख्या नहीं कर सके ।

सन् 1870 में जेवन्स, मेन्जर तथा वालरस ने आधुनिक उपयोगिता सिद्धान्त का प्रतिपादन किया । उन्होंने आधुनिक सिद्धान्त द्वारा हीरा व पानी के विरोधाभास को

सरलतापूर्वक स्पष्ट किया । इस विरोधाभास का उत्तर मूल्य निर्धारण के सामान्य सिद्धान्त के आधार पर इस प्रकार दे सकते हैं, **'पानी की माँग तथा पूर्ति की रेखाएँ इस प्रकार की होती है कि वे एक-दूसरे को बहुत नीची कीमत पर काटती है. किन्तु हीरे की माँग एवं पूर्ति रेखाएँ इस प्रकार की होती है कि वे ऊँचे मूल्य को काटती हैं ।** 'इस समस्या के समाधान के लिए वस्तु के माँग पक्ष व पूर्ति पक्ष का अध्ययन करना होगा-

माँग पक्ष (Demand Side) - प्राचीन अर्थशास्त्री कुल उपयोगिता तथा सीमान्त उपयोगिता में भेद नहीं कर पाये अर्थात् ये इस बात को नहीं समझ पाये कि मूल्य केवल कुल उपयोगिता द्वारा ही नहीं बल्कि सीमान्त उपयोगिता द्वारा निर्धारित होता है । हीरों की सीमित मात्रा में उपलब्धि के कारण इनकी सीमान्त उपयोगिता बहुत होती है और उनका मूल्य भी ऊँचा होता है जबकि पानी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होने के कारण इसकी सीमान्त उपयोगिता बहुत कम होती है और इसलिए इसका मूल्य कम होता है ।

प्रतिपक्ष (Supply Side) - हीरा अति दुर्लभ तथा सीमित होता है । इनकी अतिरिक्त इकाइयों को प्राप्त करने की लागत बहुत अधिक खेती है । इसी कारण हीरों का मूल्य ऊँचा होता है । दूसरी ओर पानी बहुतायत से उपलब्ध होता है, इसकी अतिरिक्त इकाइयाँ प्राप्त करने में लागत बहुत कम आती है, इसलिए पानी का मूल्य हीरे की तुलना में कम होता है ।

परिस्थितियों में परिवर्तन का हीरे व पानी की कीमत पर प्रभाव - साधारण परिस्थितियों में पानी की प्रचुरता और हीरों की सीमितता पाई जाती है, किन्तु विशेष परिस्थितियों में सीमान्त उपयोगिता के आधार पर मूल्य निर्धारण की धारणा बदल जाती है । उदाहरण के लिए यदि रेगिस्तान में हीरों के एक प्यासे मालिक को पानी की थोड़ी-सी मात्रा रखने वाले व्यक्ति से सौदा करना पड़े, तो पानी की सीमान्त उपयोगिता बढ़ जायेगी । इसलिए पानी का मूल्य हीरों की अपेक्षा अधिक होगा तथा हीरों की सीमान्त उपयोगिता कम होने से उसका मूल्य कम होगा, लेकिन सामान्य परिस्थितियों में पानी की पूर्ति अधिक होती है तथा उसकी एक अतिरिक्त इकाई प्राप्त करने के लिए विशेष व्यय नहीं करना पड़ता है । यद्यपि पानी की कुल उपयोगिता बहुत अधिक होती है, लेकिन इसकी सीमान्त उपयोगिता (एक अतिरिक्त इकाई की उपयोगिता) बहुत कम होने से इसकी कीमत कम होती है । हीरे की पूर्ति सीमित होती है । यद्यपि इसकी कुल उपयोगिता कम होती है, लेकिन सीमान्त उपयोगिता अधिक होने से इसकी कीमत अधिक होती है । स्पष्ट है कि वस्तु की कीमत सीमान्त उपयोगिता द्वारा निर्धारित होती है, न की कुल उपयोगिता द्वारा ।

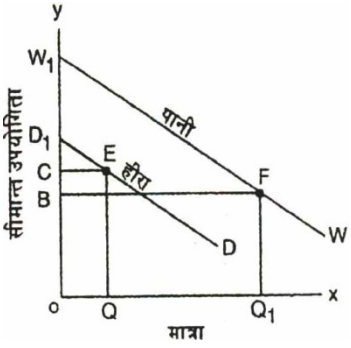

चित्र 13

रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण - हीरे व पानी के विरोधाभास को निम्न रेखाचित्र 13 में समझाया गया है । चित्र में DD_1 हीरे की सामान्य उपयोगिता रेखा है तथा WW_1 पानी की सीमान्त उपयोगिता रेखा है । पानी की पूर्ति अधिक होने अर्थात् OQ_1 होने से इसकी सीमान्त उपयोगिता FQ_1 अथवा BO है । इसके विपरीत हीरे की मात्रा पूर्ति कम OQ होने से इसकी सीमान्त उपयोगिता EQ अथवा CO है । चित्र से स्पष्ट है कि हीरे की सीमान्त उपयोगिता EQ अथवा CO पानी की सीमान्त उपयोगिता FQ_1 अथवा BO से अधिक है । अत: हीरे का मूल्य अधिक (CO) है, जबकि पानी का मूल्य कम अर्थात् (BO) है । इस प्रकार हीरे की सीमान्त उपयोगिता अधिक होने से इसका मूल्य अधिक है एवं पानी की सीमान्त उपयोगिता कम होने से मूल्य कम है । यद्यपि पानी की कुल उपयोगिता OQ_1FB की कुल उपयोगिता OQ_1FC से अधिक है, परन्तु मूल्य कुल उपयोगिता से नहीं बल्कि सीमान्त ' उपयोगिता से निर्धारित होता है । अत: पानी की कुल उपयोगिता अधिक होने पर भी सीमान्त उपयोगित कम होने के कारण उसका मूल्य कम है, जबकि हीरे की कुल उपयोगिता कम होने पर भी उसकी सीमान्त उपयोगिता अधिक होने से उसका मूल्य अधिक है ।

11.6 सारांश

उपभोग एवं उत्पादन के लिए विनिमय अर्थशास्त्र का एक महत्वपूर्ण भाग है । उत्पादक उत्पादन बेचना चाहता है और उपभोक्ता उसे खरीदना चाहता है किन्तु क्रय-विक्रय की । इस प्रक्रिया के लिए बाजार, वस्तु एवं उसका मूल्य होना आवश्यक है । बिना मूल्य के वस्तु का विनिमय सम्भव नहीं है । अर्थशास्त्र में सामान्य रूप से वस्तु की माँग उपभोक्ता द्वारा वस्तु के उपभोग के लिए की जाती है तथा वस्तु के बदले वह मूल्य चुकाने को तैयार रहता है । इसी प्रकार वस्तु की पूर्ति उत्पादक द्वारा की जाती है वह वस्तु को बेचकर लाभ कमाने के लिए तत्पर रहता है । वस्तु का मूल्य वही निर्धारित होता है जहाँ माँग व पूर्ति की शक्तियों में सन्तुलन (समानता) होती है । माँग बढ़ने पर मूल्य बढ़ जाता है तथा माँग कम होने पर मूल्य कम हो जाता है । इसी प्रकार पूर्ति बढ़ने पर मूल्य कम हो जाता है तथा पूर्ति घटने पर मूल्य बढ़ जाता है । वास्तव में वस्तु का मूल्य उसकी कुल उपयोगिता द्वारा निर्धारित न होकर सीमान्त उपयोगिता द्वारा निर्धारित न होकर सीमान्त उपयोगिता द्वारा निर्धारित होता है ।

11.7 शब्दावली

1 साम्य मूल्य: जिस मूल्य पर क्रेता वस्तु खरीदने व विक्रेता वस्तु बेचने को तैयार रहता है, वह साम्य मूल्य कहलाता है ।

2 कम लोचदार पूर्ति : जब मूल्य बढ़ने पर भी पूर्ति को एक निर्धारित सीमा तक ही बढ़ाया जा सकता है तो उसे कम लोचदार पूर्ति कहते हैं ।

3 इकाई के बराबर पूर्ति के लोच जब मूल्य बढ़ने पर पूर्ति को उसी अनुपात में बढ़ाया जा सकता है तो उसे इकाई के बराबर लोचदार पूर्ति कहते हैं ।

4 सीमान्त उपयोगिता: एक अतिरिक्त इकाई के उपयोग से उपभोक्ता को लो अतिरिक्त उपयोगिता प्राप्त होती है, उसे सीमान्त उपयोगिता कहते हैं ।

11.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

1 कीमत निर्धारण का सामान्य सिद्धान्त क्या है ?
2 माँग बढ़ने एवं पूर्ति स्थिर रहने से मूल्य पर क्या प्रभाव पड़ता है ?
3 वस्तु का मूल्य कुल उपयोगिता से निर्धारित होता है या सीमान्त उपयोगिता से ।
4 सन्तुलन मूल्य किस प्रकार निर्धारित होता है ?
5 जिस अनुपात में माँग बढ़ती है, यदि उसी अनुपात में पूर्ति भी बढ़ जाये तो मूल्य पर क्या प्रभाव पड़ेगा ?
6 क्या कारण है कि पानी हीरे की तुलना में अधिक उपयोगी होते हुए भी कम मूल्यवान (कम कीमत) है ?
7 सन्तुलन मूल्य की परिभाषा देते हुए बताइये कि माँग व पूर्ति में परिवर्तन होने से सन्तुलन मूल्य किस प्रकार प्रभावित होता है ?
8 " हम इन यह विवाद कर सकते हैं कि कैंची का ऊपरी फलक या नीचे का फलक (blade) कागज को काटता है, जिस प्रकार कि मूल्य उपयोगिता से या उत्पादन व्यय से नियंत्रित होता है । " इस कथन की विवेचना कीजिए ।
9 " हीरा पानी की तुलना में, मानव जीवन के लिए कम उपयोगी होता है, फिर भी हीरों की कीमत पानी की तुलना में ऊँची होती है । " इस विरोधाभास को स्पष्ट कीजिए ।

11.9 संदर्भ ग्रन्थ

1 V.K Mankar, Business Econonics, Himalaya Publishing House, Bombay and Delhi.
2 Dr. D.M. Mithani & V.S.R. Murthy, Fundamentals of Business Economics, Himalaya Publishing House, Dehli.
3 Dr. C.S. Barla, Managerial Economics, Malik & Company, Delhi, Jaipur.
4 M.L. Seth, Micro Economics.
5 Mishra and Puri, Business Economics, Himalaya Publishing House, Dehli.
6 Agarwal and Somdeo, Business Economics, RBD, Jaipur.
7 एच.एल. आहूजा, एस. चान्द, व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण ।
8 एम.एल. झिंगन, समष्टि अर्थशास्त्र, Vrinda publication Delhi.
9 एम.सी. वैश्य, समष्टि अर्थशास्त्र, मलिक एण्ड कम्पनी, जयपुर ।

इकाई-12 कीमत एवं उत्पादन निर्णय (Price and Output Decision)

इकाई की रूपरेखा -

12.0 प्रस्तावना ।

12.1 पूर्ण प्रतियोगिता में साम्य

12.2 फर्म एवं उद्योग का अर्थ

12.3 पूर्ण प्रतियोगिता में फर्म का साम्य

12.4 पूर्ण प्रतियोगिता में उद्योग का साम्य

12.5 एकाधिकार के अन्तर्गत मूल्य निर्धारण

12.6 एकाधिकार की विशेषताएँ

12.7 एकाधिकार के अन्तर्गत मूल्य व उत्पादन निर्धारण

12.8 एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता का अर्थ एवं परिभाषा

12.9 एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता की विशेषताएँ

12.10 एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता के अन्तर्गत मूल्य एवं उत्पादन निर्धारण

12.11 अल्पाधिकार का अर्थ एवं परिभाषा

12.12 अल्पाधिकार की विशेषताएँ

12.13 अल्पाधिकार के अन्तर्गत मूल्य निर्धारण

12.14 मूल्य विभेद में कीमत निर्धारण

12.15 विभेदात्मक एकाधिकार में मूल्य एवं उत्पादन निर्धारण

12.16 सारांश

12.17 शब्दावली/पारिभाषिक शब्द

12.18 अभ्यासार्थ प्रश्न

12.19 सन्दर्भ ग्रन्थ

12.0 प्रस्तावना (Introduction)

बाजार के विभिन्न स्वरूप हो सकते हैं । कुछ स्वरूप काल्पनिक हैं जैसे प्रतियोगिता तथा एकाधिकार, जबकि कुछ स्वरूप व्यवहार में प्रचलित होते हैं जैसे एकाधिकारात्मक, अल्पाधिकार आदि । बाजार के भिन्न-भिन्न स्वरूपों में एक फर्म की उत्पादन एवं मूल्य नीति भिन्न-भिन्न होती हैं । इस अध्याय में बाजार के विभिन्न रूपों में कीमत एवं उत्पादन निर्णय की स्थिति को समझाया जा रहा है ।

12.1 पूर्ण प्रतियोगिता में साम्य (Equilibrium in Perfect Competition),

पूर्ण प्रतियोगिता का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Perfect Competition) पूर्ण प्रतियोगिता बाजार की वह स्थिति होती है, जिसमें वस्तु के बहुत से व विक्रेता होते हैं । उनमें वस्तु को क्रय एवं विक्रय करने के लिए परस्पर प्रतियोगिता होती है । क्रेता या विक्रेता वस्तु के मूल्य को प्रभावित करने की स्थिति में नही होता है । बाजार में । वस्तु तथा एक समान मूल्य प्रचलित होता है । पूर्ण प्रतियोगिता की कुछ परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं -

प्रो. मार्शल के अनुसार, "बाजार जितना अधिक पूर्ण होगा, उतनी ही उसके अनेक भागो में किसी एक वस्तु के लिए एक समय पर एक ही कीमत भुगतान करने की प्रवृत्ति पायी जायेगी ।

श्रीमति जोन रॉबिन्सन के अनुसार, " पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति तब पाई जाती है जबकि प्रत्येक उत्पादक की उत्पत्ति की माँग पूर्णतया लोचदार होती है । इसके अन्तर्गत प्रथम विक्रेताओं की संख्या अधिक होती है, जिससे किसी भी एक विक्रेता की उत्पत्ति वस्तु की कुल उत्पत्ति का एक बहुत तुच्छ भाग होती है और द्वितीय, सभी क्रेता विभिन्न प्रतियोगी विक्रेताओं के बीच चुनाव करने के सम्बन्ध में समान –ष्टि रखते हैं, जिससे बाजार पूर्ण हो जाता है । "

पूर्ण प्रतियोगिता की विशेषताएँ (Characteristics of Perfect Competition)

पूर्ण प्रतियोगिता के लिए बाजार में निम्नलिखित दशाओं का होना आवश्यक है -

(1) वस्तु के क्रेताओं एवं विक्रेताओं की अधिक संख्या (Large Number of Buyers and Sellers)- पूर्ण प्रतियोगिता में क्रेताओं तथा विक्रेताओं की संख्या बहुत अधिक होती है । उत्पादकों एवं विक्रेताओं के व्यवसाय का आकार बहुत छोटा होता है तथा उनके द्वारा किया गया उत्पादन कुल उत्पादन का बहुत थोड़ा भाग होता है, इसलिए वे उत्पादन में कमी या वृद्धि करके वस्तु के मूल्य को प्रभावित नहीं कर सकते । इसी तरह प्रत्येक क्रेता वस्तु की क्रय की गयी मात्रा में कमी या वृद्धि करके बाजार मूल्य को प्रभावित नहीं कर सकता है ।

(2) वस्तु का समरूप होना (Homogeneous Product) - पूर्ण प्रतियोगिता के लिए यह आवश्यक है कि हम जिस वस्तु का उत्पादन या क्रय कर रहे हैं, उसकी प्रत्येक इकाई एक समान हो, अर्थात् वस्तु की प्रत्येक इकाई रूप-रंग, आकार-प्रकार, पैकिंग, गुण आदि सभी –ष्टियों से समान हो । वस्तु की इकाइयों के एकरूप होने से वस्तु विभेद नहीं रहेगा तथा क्रेता वस्तु की सभी इकाइयों को समान महत्व देगा । ऐसी वस्तु का मूल्य सम्पूर्ण बाजार में एक समान होगा ।

(3) बाजार का पूर्ण ज्ञान (Perfect Knowledge of Market) - पूर्ण प्रतियोगिता में क्रेताओं एवं विक्रेताओं को बाजार का पूर्ण ज्ञान होता है, इसलिए कोई भी क्रेता अथवा

विक्रेता वस्तु का मूल्य अधिक अथवा कम नहीं ले-दे सकता है । बाजार का पूर्ण ज्ञान तभी होगा जब क्रेताओं और विक्रेताओं में निकट सम्पर्क हो ।

(4) फर्मो का स्वतन्त्र प्रवेश एवं बहिर्गमन (Free and exit of firms) - पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में दीर्घकाल में नये उत्पादकों या फर्मो को उद्योग में प्रवेश करने या उससे हटने की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है । अर्थात् यदि पूर्ण प्रतियोगिता में फर्म सामान्य से अधिक लाभ कमाती हैं, तो उससे आकर्षित होकर नयी फर्मे उद्योग में प्रवेश करेंगी, जिससे पूर्ति बढ़ेगी, मूल्यों में कमी आयेगी और अधि-सामान्य लाभ समाप्त हो जायेंगे । इसी प्रकार यदि कोई फर्म हानि पर कार्य कर रही है, तो वह उद्योग को छोड़ देगी । फलस्वरूप वस्तु की पूर्ति में कमी आयेगी तथा मूल्य बढ़ेंगे और हानि के स्थान पर सामान्य लाभ प्राप्त होने लगेगा । अत: दीर्घकाल में कोई भी फर्म केवल सामान्य लाभ (**Normal Profit**) ही कमा सकती है ।

(5) नियन्त्रण एवं प्रतिबन्धों का अभाव (Absence of Controls and Restrictions) - पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में फर्म की व्यावसायिक गतिविधियों पर किसी प्रकार के नियन्त्रण एवं प्रतिबन्ध नहीं होते हैं । वस्तु का मूल्य स्वतन्त्र रूप से माँग व पूर्ति की शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है ।

(6) सभी उत्पादकों या फर्मो का निकट होना (All the Producers are Sufficiently close to each other)- पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में यह माना जाता है कि समस्त उत्पादक एक दूसरे के निकट होते हैं, जिससे उनकी कोई परिवहन लागत नहीं आती । इससे बाजार के मूल्य एक समान रहते हैं । प्रो. मार्शल ने मूल्य में परिवहन लागत के अन्तर तक की स्थिति को भी पूर्ण प्रतियोगिता की संज्ञा दी है ।

(7) उत्पादन साधनों में पूर्ण गतिशीलता (Perfect mobility in the factors of Productions) - पूर्ण प्रतियोगिता में उत्पादन के साधनों में पूर्ण गतिशीलता पायी जाती है अर्थात् उत्पादन का कोई भी साधन वहीं कार्य करेगा, जहाँ उसे सर्वाधिक पारिश्रमिक प्राप्त होगा । पूर्ण प्रतियोगिता में दीर्घकाल में उत्पादन लागत में समानता पायी जायेगी ।

(8) क्रेताओं एवं विक्रेताओं का निष्पक्ष प्रकृति का होना (Unbiased Nature of Buyers and Sellers) - पूर्ण प्रतियोगिता में क्रेताओं और विक्रेताओं के बीच किसी प्रकार का लगाव तथा वरीयता नहीं होती है । उन्हें केवल मूल्य से लगाव होना चाहिए।

(9) औसत आय एवं सीमान्त आय दोनों ही बराबर होती हैं (Average Revenue and Marginal Revenue are always equal) - पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में कोई भी विक्रेता दिए हुए मूल्य पर वस्तु की कितनी भी मात्रा बेच सकता है अर्थात् उसका माँग वक्र पूर्णतया लोचदार होता है । बाजार में वस्तु का मूल्य सभी जगह एक-समान होता है, इसलिए औसत आय एवं सीमान्त आय हमेशा समान होती है और ये कीमत के बराबर होती है ।

(10) एक मूल्य की उपस्थिति (Existence of Single Price) - पूर्ण प्रतियोगिता में उद्योग द्वारा निर्धारित मूल्य बाजार में प्रचलित रहता है । सभी फर्मे इस मूल्य पर वस्तु को बेचने के लिए तत्पर रहती हैं ।

12.2 फर्म एवं उद्योग का अर्थ (Meaning of Firm and Industry)-

फर्म एक या अधिक उत्पादन इकाइयों को कहते हैं. जो एक ही स्वामित्व के अन्तर्गत हो । इस प्रकार फर्म एक व्यक्तिगत उत्पादन इकाई होती है, जिसका बाजार की कुल पूर्ति में नगण्य भाग होता है । वह प्रचलित बाजार मूल्य में अपने समस्त उत्पादन को बेच सकती है, पूर्ति पर प्रभाव न होने के कारण वह बाजार मूल्य को प्रभावित करने की स्थिति में नहीं होती है । **उद्योग बहुत-सी ऐसी फर्मो के समूह को कहा जाता है. जो किसी एक वस्तु का उत्पादन कर रही हों ।** इस प्रकार एक ही प्रकार की वस्तु उत्पादित करने वाली विभिन्न फर्मो के समूह को उद्योग कहते हैं ।

पूर्ण प्रतियोगिता में एक फर्म का माँग **OX** अक्ष के समानान्तर क्षितिजीय होता है । यह माँग वक्र ही फर्म का औसत आय वक्र **(Average revenge Curve)** एवं सीमान्त आगम वक्र **(Marginal Revenue Curve)** भी होता है । **AR** व MR समान समान होने का कारण यह है कि एक निश्चित मूल्य पर फर्म अपनी समस्त वस्तुएँ बेच सकती है । इसे अपनी अतिरिक्त इकाइयाँ बेचने के लिए मूल्य घटाने की आवश्यकता नहीं पड़ती है । पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में वस्तु का मूल्य उद्योग की माँग व पूर्ति की शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है । इसी मूल्य को एक फर्म द्वारा स्वीकार किया जाता है ।

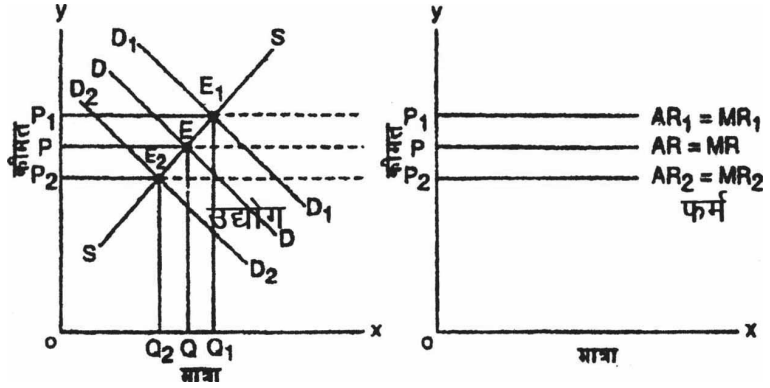

रेखाचित्र 12.1

रेखाचित्र 12.1 में उद्योग द्वारा मूल्य निर्धारण व एक फर्म द्वारा मूल्य ग्रहण करने की स्थिति को दिखाया गया है । चित्र में 88 उद्योग का पूर्ति वक्र है तथा DD उद्योग का माँग वक्र है जो E बिन्दु पर साम्य में होते हैं, जहाँ OP कीमत व उत्पादन मात्रा OQ निर्धारित होती है । एक फर्म OP मूल्य को दिया हुआ मानकर स्वीकार करती है । अत: फर्म की कीमत भी OP तथा उसका सीमान्त आगम व

औसत आगम वक्र भी OP मूल्य स्तर पर OX अक्ष के समानान्तर AR=MR वक्र होगा । यदि वस्तु की माँग बढ़कर D_1D_1 हो जाती है तो नया साम्य E_1 बिन्दु पर होगा, जहाँ OP_1कीमत निर्धारित होगी । अब फर्म को भी नयी कीमत OP_1 को स्वीकार करना होगा तथा उसका $MR_1=AR_1$ वक्र नया सीमान्त आगम व औसत आगम वक्र होगा । इसी प्रकार माँग घटने पर नया साम्य 82 बिन्दु पर होगा जहाँ कीमत OP_2 होगी । फलस्वरूप फर्म को भी OP_2 कीमत स्वीकार करनी होगी । इससे स्पष्ट है कि कीमत का निर्धारण कुल माँग व कुल पूर्ति की शक्तियों द्वारा होता है, यह कार्य उद्योग का है । फर्म उद्योग द्वारा निर्धारित कीमत को स्वीकार करती है ।

12.3 पूर्ण प्रतियोगिता में फर्म का साम्य (Equilibrium of the Firm under Perfect Competition)-

कोई भी फर्म सदैव अपने लाभ को अधिकतम करने का प्रयास करती है । फर्म को अधिकतम लाभ तब प्राप्त होता है जब वह साम्य की अवस्था में होती है । सामान्यतया उत्पादन की जिस मात्रा पर सीमान्त आगम तथा सीमान्त लागत बराबर होते हैं, उत्पादन की वह मात्रा अधिकतम लाभ प्रदान करती है । फर्म की प्रति इकाई लाभ, औसत आगम (AR) तथा औसत लागत (AC) के अन्तर से जाना जा सकता है। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रत्येक दशा में MR = MC होने से लाभ की मात्रा अधिकतम नहीं होगी । यह अवस्था न्यूनतम हानि की अवस्था भी हो सकती है। फर्म के साम्य के लिए निम्नलिखित दो शर्तें पूरी होनी चाहिए -

(i) फर्म उस बिन्दु पर साम्य की स्थिति में होगी, जहाँ फर्म की MR=MC के हो; तथा

(ii) साम्य बिन्दु पर फर्म का MC वक्र MR वक्र को नीचे की ओर से काटना चाहिए ।

पूर्ण प्रतियोगिता में एक फर्म का औसत आय वक्र अथवा माँग वक्र निश्चित बाजार की कीमत पर OX अक्ष के समानान्तर रेखा होती है । इसका आशय यह है कि वह फर्म वस्तु को बाजार कीमत पर अनन्त मात्रा में बेच सकती है, और इसके ऐसा करने से बाजार की कीमत प्रभावित नहीं होगी । इस प्रकार वस्तु की एक अतिरिक्त इकाई बेचने पर उसकी कुल आय में जो वृद्धि होती है (अर्थात् उसकी सीमान्त आय), वह उस वस्तु के मूल्य के बराबर होती है । हम जानते हैं कि मूल्य तथा औसत आय एक ही होती है, इसीलिए सीमान्त आय बराबर होने का अर्थ हुआ कि सीमान्त आय और औसत आय बराबर होती है अर्थात् पूर्ण प्रतियोगिता में फर्म का औसत आय वक्र सीमान्त आय वक्र भी होता हैं

फर्म के साम्य को सीमान्त आगम तथा सीमान्त लागत वक्रों की विधि से रेखाचित्र **12.2** द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है ।

रेखाचित्र के अनुसार जब वस्तु की बाजार कीमत OP है, तो PM उस फर्म का AR वक्र तथा MR वक्र दोनों ही हैं **(AR=MR)** । MC उस फर्म का सीमान्त लागत वक्र है जो PM को A तथा B बिन्दुओं पर काटता है । अब प्रश्न उठता है कि क्या फर्म

इन दोनों बिन्दुओं पर अधिकतम लाभ कमा रही है ? फर्म इन दोनों बिन्दुओं पर अधिकतम लाभ नहीं कमा रही होती है । केवल इनमें से एक बिन्दु B पर जहाँ MC वक्र MR वक्र को नीचे से आकर काटता है, वहाँ लाभ अधिकतम है । A बिन्दु तक तो MC (सीमान्त लागत) MR (सीमान्त आय) से ऊपर है, जिससे फर्म को केवल हानि ही होती है । A बिन्दु के बाद फर्म को और अधिक हानि नहीं होगी ।

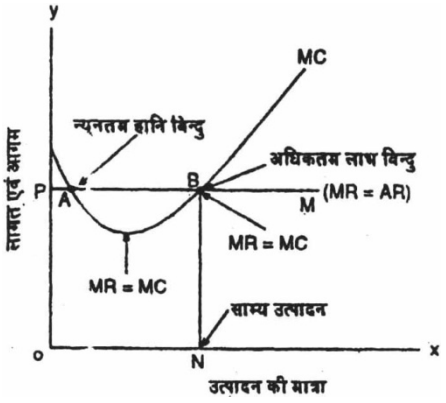

रेखाचित्र 12.2

अब A बिन्दु से आगे दायीं ओर उसकी सीमान्त लागत उसकी सीमान्त आय से कम है और फर्म आशान्वित है कि उत्पादन मात्रा को और बढ़ाने पर वह न केवल कम उत्पादन मात्रा पर हुई हानि को पूरा कर सकती है, बल्कि लाभ कमा सकती है । अब यह भी देखना है कि उत्पादन मात्रा को किस सीमा तक बढ़ाया जाये कि उसका लाभ अधिकतम हो जाये । फर्म की यह स्थिति उत्पादन मात्रा ON पर होगी, जिस पर MC वक्र MR को B बिन्दु पर नीचे से काटता है । यह फर्म के लिए अधिकतम लाभ की स्थिति होगी ।

अल्पकाल में फर्म का साम्य (Equilibrium of the Firm in the Short period)

अल्पकाल वह समयावधि है, जिसमें फर्म अपने परिवर्तनशील साधनों द्वारा उत्पादन की मात्रा में परिवर्तन कर सकती है, परन्तु स्थिर उत्पादन साधनों की मात्रा में परिवर्तन नहीं कर सकती है । फर्मे केवल मूल्य ग्रहणकर्ता होती हैं, निर्धारक नहीं । अत: उद्योग द्वारा निर्धारित मूल्य पर फर्म को अल्पकाल में साम्य की स्थिति में असामान्य लाभ हो सकता है, हानि हो सकती है तथा केवल सामान्य लाभ भी मिल सकता है । इन तीनों प्रकार की स्थितियों को रेखाचित्र की सहायता से स्पष्ट किया जा सकता है -

(i) असामान्य लाभ की स्थिति (State of Abnormal Profit) - कोई फर्म अल्पकाल में असामान्य लाभ उस समय प्राप्त करती है जबकि सन्तुलन बिन्दु पर फर्म की औसत आय फर्म की औसत लागत से अधिक हो । अल्पकाल में फर्म उस उत्पादन मात्रा पर साम्य में होती है जिस पर कीमत या सीमान्त आय, सीमान्त लागत के बराबर होती है, इस स्थिति को रेखाचित्र **12.3** से स्पष्ट किया जा सकता है ।

रेखाचित्र में PM फर्म का औसत तथा सीमान्त आय वक्र है । फर्म का अल्पकालीन सीमान्त लागत वक्र SMC' है जो फर्म के सीमान्त आय वक्र को E बिन्दु पर काटता है । यही फर्म का साम्य बिन्दु है । जिस पर फर्म ON मात्रा का उत्पादन करेगी । औसत लागत OL या NC है, जबकि औसत आय OP या NE है । अत: फर्म को CE या LP के बराबर प्रति इकाई लाभ मिल रहा है तथा फर्म LCEP के बराबर कुल लाभ कमा रही है । रेखाचित्र का छायादार भाग असामान्य लाभ को दर्शाता है ।

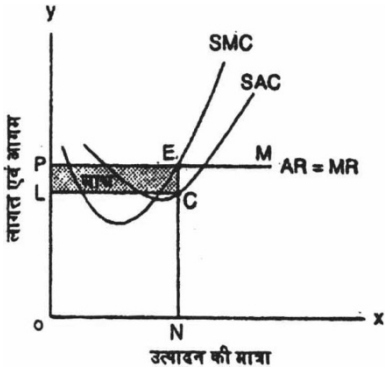

रेखाचित्र 12.3

(ii) सामान्य लाभ की स्थिति (State of Normal Profit) - अल्पकाल में फर्म को सामान्य लाभ मिल सकता है, अर्थात् अल्पकाल में फर्म न लाभ, न हानि की स्थिति में भी हो सकती । है । जब साम्य बिन्दु पर फर्म की औसत आय तथा औसत लागत दोनों बराबर होते हैं, तो उस समय फर्म सामान्य लाभ की स्थिति में होती है । रेखाचित्र **12.4** में इस स्थिति को स्पष्ट किया गया है ।

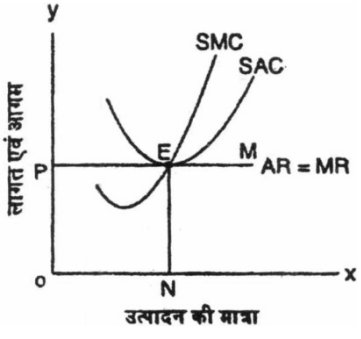

रेखाचित्र 12.4

खाचित्र में PM फर्म का औसत एवं सीमान्त आय वक्र है । फर्म का अल्पकालीन औसत लागत वक्र (SMC) तथा अल्पकालीन सीमान्त लागत वक्र (SMC) है । फर्म का सीमान्त लागत वक्र

(SMC) फर्म के सीमान्त आय वक्र (MR) को E बिन्दु पर काटता है, अत: E सन्तुलन बिन्दु है । इस साम्य बिन्दु पर फर्म ON मात्रा का उत्पादन एवं विक्रय करेगी । इसकी औसत लागत NE या OP है, अत: फर्म को कोई लाभ या हानि नहीं हो रही है । फर्म केवल सामान्य लाभ कमा रही है ।

(iii) हानि की स्थिति (State of Loss) - पूर्ण प्रतियोगिता में अल्पकाल में फर्म को हानि भी हो सकती है; किन्तु फर्म अल्पकाल में अधिकतम हानि स्थिर लागतों के बराबर उठा सकती है, क्योंकि अल्पकाल में उत्पादन बन्द करने पर भी फर्म को स्थिर लागतों का भुगतान तो करना ही पड़ेगा । यदि साम्य बिन्दु पर फर्म की औसत लागत औसत

आय से अधिक है तो फर्म को हानि होती है । अल्पकाल में हानि की । स्थिति को रेखाचित्र **12.5** में स्पष्ट किया गया है । फर्म का MC वक्र फर्म के MR वक्र को E बिन्दु पर काटता है, अत: E फर्म का साम्य बिन्दु है । इस सन्तुलन बिन्दु पर फर्म ON मात्रा में वस्तु का उत्पादन एवं विक्रय करेगी । इस उत्पादन की औसत लागत NC या OL है, जबकि औसत आय NE या OP है । अत: फर्म को EC अथवा PL के बराबर औसत हानि हो रही है, अर्थात् LCEP के बराबर कुल हानि हो रही है ।

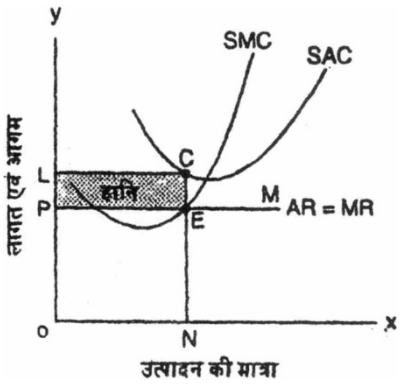

रेखाचित्र 12.5

क्या फर्म हानि उठाकर भी उत्पादन जारी रख सकती है ? (Can a firm continue to produce even at a lose) उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि फर्म साम्य अवस्था में उस समय होगी, जबकि फर्म की सीमान्त लागत उसकी सीमान्त आय के बराबर हो । परन्तु अल्पकाल में सीमान्त आगम तथा सीमान्त लागत के बराबर होने पर फर्म को हानि हो सकती है । यदि फर्म को हानि हो रही है, तो उसे ये निर्णय लेना पड़ेगा कि उत्पादन जारी रखा जाये या बन्द कर दिया जाये । हम यह जानते हैं कि फर्म की कुल लागत में स्थिर लागतें (Fixed Costs) तथा परिवर्तनशील लागतें (Variable Costs) सम्मिलित होती हैं । सामान्यतया वस्तु का मूल्य फर्म की कुल औसत उत्पादन लागत के बराबर होना चाहिए, परन्तु अल्पकाल में उत्पादक कुल औसत उत्पादन लागत से कम कीमत प्राप्त होने पर भी उत्पादन जारी रखेगा, क्योंकि उत्पादक यह जानता है कि उत्पादन बन्द कर देने पर भी उसे स्थिर लागत का भार तो वहन करना ही पड़ेगा । अत: अल्पकाल में यदि उत्पादक को केवल परिवर्तनशील लागत के बराबर भी कीमत प्राप्त हो जाती है तो वह उत्पादन जारी रखेगा । यदि उसे परिवर्तनशील लागत से कम कीमत मिलती है तो वह उत्पादन बन्द कर देगा ।

दीर्घकाल में फर्म का साम्य (Equilibrium of the Firm in the Long run)-

दीर्घकाल में स्थिर तथा परिवर्तनशील लागतों का भेद समाप्त हो जाता है । अत: फर्म को कुल औसत लागत के बराबर कीमत प्राप्त होनी चाहिए, तभी वह उत्पादन जारी रख सकती है । यहाँ **'कुल औसत लागत'** में सामान्य लाभ को सम्मिलित माना जाता है ।

दीर्घकाल में फर्म कुल औसत लागत के बराबर कीमत प्राप्त होने पर ही उत्पादन जारी रखती है । ऐसा तभी सम्भव है जबकि उत्पादन की मात्रा में इस प्रकार समायोजन किया जाए, जिससे दीर्घकालीन सीमान्त आय सीमान्त लागत के समान हो **(LMR=LMC)** क्योंकि इस अवस्था में ही फर्म का लाभ अधिकतम होगा । दीर्घकाल

में साम्य के लिए फर्म को दो शर्तो की एकसाथ पूर्ति करनी होगी - **(i)** दीर्घकालीन सीमान्त आय व दीर्घकालीन सीमान्त लागत बराबर हों (LMR=LMC) तथा **(ii)** कीमत या औसत आय, औसत लागत के बराबर हो **P=AR=AC** । इस प्रकार दीर्घकाल में फर्म साम्यावस्था में उस समय होगी, जबकि P = LMR = LMC = LAC=LAR हो ।

पूर्ण प्रतियोगिता में अल्पकाल में यह सम्भव है कि कुछ फर्मो को अधिक लाभ प्राप्त हो रहा हो; परन्तु यह स्थिति दीर्घकाल में नहीं पायी जाएगी; क्योंकि **(i)** कम कार्यकुशल फर्मे उद्योग को छोड़ देंगी, तथा **(ii)** अधिक कुशल फर्मे उद्योग में प्रवेश करेंगी । अत: यह आवश्यक हो जाएगा कि प्रत्येक फर्म को केवल सामान्य लाभ प्राप्त हो । फर्म के दीर्घकालीन साम्य को रेखाचित्र **12.6** से दर्शाया गया है :

रेखाचित्र में PM फर्म का दीर्घकालीन औसत आगम तथा, सीमान्त आगम वक्र है । LMC फर्म का दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्र है तथा LAC दीर्घकालीन औसत लागत वक्र है । LMC तथा LMR *E * बिन्दु पर एक-दूसरे को काटते हैं । अत: E बिन्दु फर्म का साम्य बिन्दु है । साम्य बिन्दु पर फर्म ON मात्रा का उत्पादन करेगी । इस बिन्दु पर फर्म को केवल सामान्य लाभ ही मिलता है, क्योंकि इस बिन्दु पर फर्म की स्थिति P=LMC=LMR=LAC=LARहै । इस प्रकार दीर्घकाल में फर्म की औसत लागत (AC) तथा औसत आगम (AR) भी समान होती है । तभी वह सामान्य लाभ की स्थिति में होगी ।

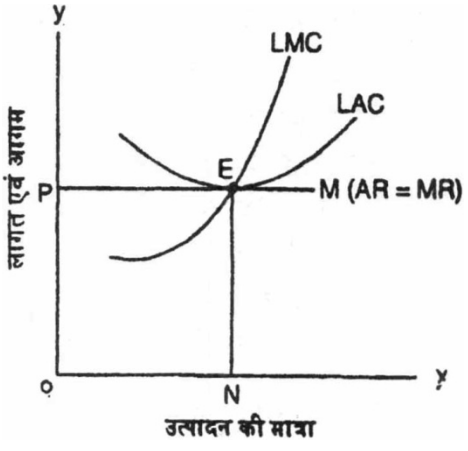

रेखाचित्र 12.6

12.4 पूर्ण प्रतियोगिता में उद्योग का साम्य (Equilibrium of Industry in perfect Competition)

अल्पकाल में उद्योग की साम्यावस्था (Short-run Industry Equilibrium)

फर्मो के समूह को उद्योग कहते हैं । एक उद्योग अल्पकाल में साम्य की स्थिति में उस समय होता है जब अल्पकाल में उसका उत्पादन स्थिर हो जाता है तथा उसमें परिवर्तन की कोई शक्ति क्रियाशील नहीं रह जाती है । संक्षेप में यह कहा जा सकता है। कि अल्पकाल में उद्योग में लगी सभी फर्मे साम्य की स्थिति में होती हैं, तब उद्योग भी अल्पकालीन साम्य की स्थिति में होता है । एक फर्म अल्पकाल में साम्य की स्थिति में अतिरिक्त लाभ, सामान्य लाभ या हानि उठाते हुए हो सकती है । अत: उद्योग भी अल्पकालीन साम्य की स्थिति में अतिरिक्त लाभ, सामान्य लाभ या हानि

उठा सकता है । उद्योग की सभी फर्मो को अल्पकाल में मात्र सामान्य लाभ ही प्राप्त हो, तो यह उद्योग के पूर्ण साम्य की_स्थिति होती है जो केवल संयोगवश ही होती है। यहाँ पर यह याद रखना चाहिए कि कीमत का सम्बन्ध उद्योग से है, किसी फर्म विशेष से नहीं । अत: कीमत का निर्धारण सम्पूर्ण उद्योग की माँग तथा से किया जाता है ।

(1) **उद्योग का अल्पकाल में माँग-चक्र (Short-run Demand Curve of the Industry) -** किसी वस्तु की माँग (सम्पूर्ण उद्योग के लिए) उपभोक्ताओं की व्यक्तिगत माँग का योग। होती है । माँग-वक्र यह प्रदर्शित करता है कि विभिन्न मूल्यों पर उपभोक्ता किसी वस्तु की कितनी माथा खरीदना चाहेंगे । अत: सभी उपभोक्ताओं की माँगों का योग उद्योग की **'माँग'** को प्रकट करेगा ।

(2) **उद्योग का अल्पकाल में पूर्ति-वक्र (Short-run Supply Curve of the Industry) -** उद्योग का पूर्ति-वक्र सभी फर्मो के पूर्ति-वक्र का योग है । अत: अल्पकालीन पूर्ति-वक्र यह प्रदर्शित करता है कि विभिन्न कीमतों पर एक उद्योग की समस्त फर्मे कुल कितनी मात्रा बेचने को प्रस्तुत करती हैं ।

(3) **उद्योग की साम्यावस्था (Industry Equilibrium) -** उद्योग के माँग तथा पूर्ति वक्र जिस बिन्दु पर एक दूसरे को काटेंगे; उसी बिन्दु पर अल्पकालीन मूल्य निर्धारित होगा। इसका स्पष्टीकरण रेखाचित्र **12.7** में किया गया है-

रेखाचित्र के अनुसार जब उद्योग में D_2 D_2 माँग-वक्र होता है, तो उद्योग की कुल माँग तथा कुल पूर्ति का साम्य बिन्दु N बिन्दु पर होता है । अत: उद्योग में कीमत OP_2 तथा उत्पादन OM_2 होता है । इस कीमत पर उद्योग को अल्पकाल में अतिरिक्त लाभ मिलता है, क्योंकि इस कीमत पर फर्मो की औसत लागत, औसत आगम से कम है (अर्थात् AR_2 >AC) । अत: फर्म को प्रति इकाई NC अधिक लाभ मिलता है । जब उद्योग की माँग अल्पकाल में गिरकर DD हो जाती है उद्योग का मान्य E बिन्दु पर तथा OM उत्पादन मात्रा पर होगा तथा कीमत गिरकर OP रह जायेगी । इससे उद्योग में सामान्य लाभ ही प्राप्त होगा क्योंकि इस कीमत पर AR = AC के । यदि उद्योग की माँग घटकर D_1D_1 ही रह जाती है तो उद्योग में माँग व पूर्ति साम्य L बिन्दु पर होगा, जहाँ उद्योग की उत्पादन मात्रा OM_1। होगी तथा मूल्य OP_1 होगा । उद्योग के इस साम्य में उद्योग को हानि होगी क्योंकि फर्म में AR_1 <AC से । अत: L बिन्दु पर फर्म को प्रति इकाई LP हानि होगी, तो उद्योग भी हानि में रहेगा ।

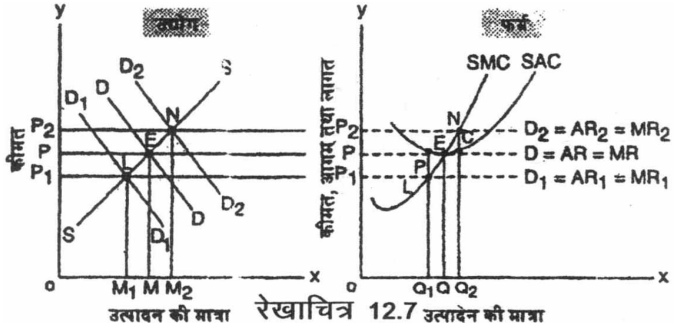

रेखाचित्र 12.7

दीर्घकाल में उद्योग की साम्यावस्था (Industry's Equilibrium in the Long Period)-

पूर्ण प्रतियोगिता में दीर्घकाल में उद्योग साम्य की अवस्था में उस समय होगा जबकि फर्मो की संख्या में परिवर्तन की प्रवृत्ति नहीं हो । ऐसी अवस्था में फर्मो द्वारा अर्जित लाभ सामान्य होता है । यदि किसी फर्म को अधिक लाभ होता है तो नई फर्मे उद्योग में प्रवेश करेंगी, जिससे वस्तु की पूर्ति बढ़ जायेगी और कीमत कम हो जायेगी । इस प्रकार अधिसामान्य लाभ समाप्त हो जाएगा । सभी फर्मे न्यूनतम उत्पादन लागत पर उत्पादन करने लगेंगी तथा कीमत उत्पादन-लागत के बराबर होगी । उद्योग के दीर्घकालीन साम्यावस्था में होने के लिए यह आवश्यक है कि सभी फर्म न्यूनतम लागत पर उत्पादन करें तथा उनका आकार अनुकूलतम हो । अत: दीर्घकाल में उद्योग के साम्यावस्था में होने के लिए उन्हीं शर्तो का पूरा होना आवश्यक है जो कि फर्म के लिए भी आवश्यक है । अन्तर केवल इतना ही है कि उद्योग के दीर्घकालीन सन्तुलन के लिए उसकी सभी फर्मो का दीर्घकालीन सन्तुलन की स्थिति में होना आवश्यक है । लैफ्टबिच के अनुसार, " एक फर्म लाभ अर्जित करते हुए भी दीर्घकालीन साम्यावस्था में हो सकती है; परन्तु इस अवस्था में उद्योग सन्तुलन की स्थिति में नहीं होगा । उद्योग के सन्तुलन की स्थिति में होने के लिए यह आवश्यक है कि सभी फर्म व्यक्तिगत रूप से साम्यावस्था में हों तथा उन्हें न लाभ हो रहा हो और न हानि, अर्थात् सभी फर्मो के लिए कीमत औसत लागत के बराबर हो ।"

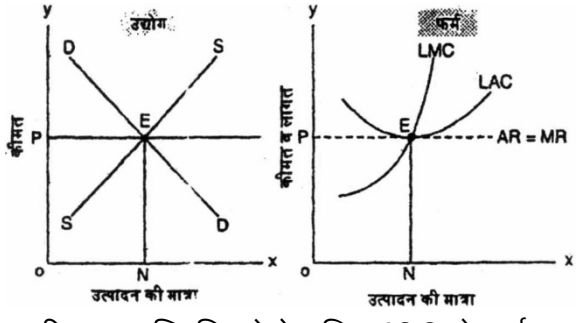

दीर्घकाल में उद्योग की साम्य स्थिति को रेखाचित्र 12.8 से दर्शाया गया है । रेखाचित्र में उद्योग का दीर्घकालीन कुल माँग वक्र DD है तथा कुल पूर्ति वक्र SS है । DD तथा SS एक दूसरे को E बिन्दु पर काटते हैं । अत: उद्योग का दीर्घकालीन साम्य बिन्दु E है । इस साम्य की स्थिति में कीमत OP निर्धारित होती है, जो फर्म के

लिए पहले से निर्ा'चत होती है । फर्म इस कीमत के अनुसार उत्पादन का समायोजन करेगी । फर्म का भी सन्तुलन बिन्दु E पर होगा, जहाँ फर्म की LMC तथा MR बराबर है । इस बिन्दु पर फर्म का LAC तथा AR भी LMC तथा MR के बराबर है । अत फर्म भी ON मात्रा का उत्पादन करेगी तथा सामान्य लाभ प्राप्त करेगी ।

12.5 एकाधिकार के अन्तर्गत मूल्य निधारण(Price Determination under Monopoly)

एकाधिकार का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition)-

एकाधिकार बाजार की वह स्थिति होती है, जिसमें वस्तु का एक ही उत्पादक होता है तथा वस्तु की समस्त पूर्ति पर उसका पूर्ण नियन्त्रण होता है । एकाधिकार में एक ही फर्म उत्पादन कार्य करती है तथा वही उद्योग होता है । एकाधिकार उसी वस्तु के सम्बन्ध में हो सकता है, जिसकी कोई निकट स्थानापन्न वस्तु नहीं होती । इसके कारण वस्तु की कीमत में होने वाला परिवर्तन अन्य वस्तुओं की कीमत को प्रभावित नहीं कर सकता है । विशुद्ध एकाधिकार की स्थिति व्यावहारिक जीवन में नहीं पाई जाती है । यद्यपि कुछ क्षेत्रों; जैसे - रेल, पानी, बिजली आदि सेवाओं में एकाधिकार के नजदीक की स्थिति (ढीले रूप में) पायी जाती है ।

चेम्बरलिन के अनुसार, **"**एक एकाधिकारी उसे समझना चाहिए जो कि किसी वस्तु पर नियन्त्रण रखता है । अधिकांशत: यह प्रत्यक्ष रूप से पूर्ति द्वारा कार्य नहीं करता, बल्कि कीमत द्वारा करता है ।**"**

स्टोनियर और हेग के अनुसार, **"**एकाधिकारी वह उत्पादक होता है, जो किसी एक वस्तु की पूर्ति पर पूर्ण अधिकार रखता है तथा उस वस्तु का कोई स्थानापन्न नहीं होता है।**"**

प्रो. लेफ्टविच के अनुसार, "विशुद्ध एकाधिकार बाजार की वह स्थिति है, जिसमें एक वस्तु विशेष का, जिसके लिए उत्तम स्थानापन्न पदार्थ उपलब्ध नहीं होते हैं, वह एक ही विक्रेता होता है ।"

प्रो. वाटसन के अनुसार, "एकाधिकारी एक वस्तु का अकेला उत्पादक होता है, जिसकी कोई निकट स्थानापन्न वस्तु नहीं होती है ।"

12.6 एकाधिकार की विशेषताएँ (Characteristics of Monopoly)

(1) एक उत्पादक अथवा विक्रेता (Single Producer or Seller) - एकाधिकार में वस्तु का उत्पादन एवं विक्रय करने वाली एक ही फर्म होती है, इसका वस्तु की पूर्ति पर पूर्ण नियन्त्रण होता है ।

(2) स्थानापन्न वस्तुओं का अभाव (Lack of Close Subsitutes) - एकाधिकारी ऐसी वस्तु का उत्पादन एवं विक्रय करता है, जिसकी निकट स्थानापन्न वस्तु बाजार में उपलब्ध नहीं होती है ।

(3) नई फर्मो के प्रवेश पर प्रभावपूर्ण रोक (Effective check on the entry of new firm) - एकाधिकार में अल्पकाल एवं दीर्घकाल दोनों में ही नई फर्मो के उद्योग में प्रवेश पर प्रभावपूर्ण रोक लगी होती है ।

(4) फर्म एवं उद्योग एक ही (Firm and Industry is one and the same) - एकाधिकार में केवल एक फर्म ही वस्तु का उत्पादन करती है । पूरे उद्योग में केवल एक ही फर्म होने से फर्म एवं उद्योग एक दूसरे के पर्यायवाची हो जाते हैं । ।

(5) बेलोचदार माँग (Inelastic Demand) - एकाधिकारी वस्तु की माँग बेलोचदार होती है, इसलिए यह मूल्य बढ़ाकर अपने लाभ को अधिकतम करने का प्रयास करता है ।

(6) वस्तु की पूर्ति पर पूर्ण नियन्त्रण (Complete Control over the Supply of Commodity) - एकाधिकारी का अपनी वस्तु की पूर्ति पर पूर्ण नियन्त्रण होता है ।

(7) दीर्घकाल में असामान्य लाभ (Abnormal Profit in the Long-run)- सामान्य रूप से एकाधिकारी अल्पकाल एवं दीर्घकाल दोनों में ही सामान्य से अधिक लाभ प्राप्त करता है , परन्तु अल्पकाल में यह कभी-कभी न लाभ न हानि या हानि की स्थिति में भी उत्पादन कर सकता है, लेकिन दीर्घकाल में वह सदैव असामान्य लाभ प्राप्त करेगा।

एकाधिकारी का उद्देश्य (The Aim of the Monopolist) - प्रत्येक एकाधिकारी का उद्देश्य अधिक से अधिक लाभ कमाना होता है । एकाधिकारी अपनी एकाधिकारिक शक्ति का प्रयोग करके अपने लाभ को अधिकतम करने का प्रयत्न करता है । एकाधिकारी का कोई प्रतियोगी नहीं होता है । अत: यह बाजार में अपनी वस्तु अधिक से अधिक मूल्य पर बेचकर अधिकाधिक लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न करता है । अधिकतम लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से एकाधिकारी केवल प्रति इकाई लाभ को अधिकतम करने का प्रयत्न नहीं करता, बल्कि वह पूर्ति को माँग के साथ इस प्रकार व्यवस्थित करता है, कि वह अपनी वस्तु की अधिक से अधिक मात्रा अधिक से अधिक मूल्य पर बेचकर अपने कुल लाभ को अधिकतम कर सके ।

12.7 एकाधिकार के अन्तर्गत मूल्य व उत्पादन निर्धारण (Determination of Price and output under Monopoly)-

एकाधिकारी में मूल्य एवं उत्पादन निर्धारण को जानने से पूर्व निम्न बातों की जानकारी आवश्यक है -

(1) एकाधिकारी का उद्देश्य अधिकतम लाभ कमाना होता है ।

(2) एकाधिकारी वस्तु को बेची जाने वाली मात्रा अथवा वस्तु के मूल्य में किसी एक का निर्धारण कर सकता हे, वह दोनों को एकसाथ निर्धारित नहीं कर सकता । सामान्य रूप से वह वस्तु का मूल्य निर्धारित नहीं कर सकता ।

(3) एकाधिकारी वस्तु की माँग बेलोचदार होती है ।

श्रीमति जॉन रॉबिन्सन के अनुसार, एकाधिकारी का उद्देश्य अपने लाभ को अधिकतम करना होता है । इस उद्देश्य की पूर्ति उस समय होती है, जबकि एकाधिकारी की

सीमान्त आय (MR), सीमान्त लागत (MC) के बराबर हो । अत: एकाधिकारी साम्य की स्थिति के लिए यह चेष्टा करता है कि उत्पादन प्रक्रिया में उसकी सीमान्त आय, सीमान्त लागत के बराबर हो । उत्पादन की जिस मात्रा पर सीमान्त आय, सीमान्त लागत के बराबर होती है, एकाधिकारी वही मात्रा व कीमत निर्धारित करता है । इसी बिन्दु पर एकाधिकारी साम्य की स्थिति में होता है । अल्पकाल में यह साम्य बिन्दु अधिकतम एकाधिकारी लाभ, सामान्य लाभ या न्यूनतम हानि का प्रतीक हो सकता है। दीर्घकाल में एकाधिकारी साम्य बिन्दु पर अधिकतम लाभ कमाता हुआ होता है ।

रेखाचित्र **12.9** में एकाधिकारी साम्य की स्थिति को, बताया गया है । चित्र के अनुसार ARव MR फर्म के औसत आगम एवं सीमान्त आगम वक्र हैं, जबकि AC व MC क्रमश: औसत लागत तथा सीमान्त लागत वक्र है ।

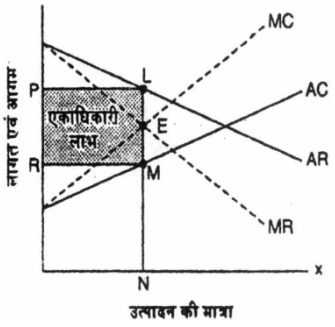

रेखाचित्र 12.9

E बिन्दु साम्य बिन्दु है, क्योंकि इस बिन्दु पर MR=MC है । इस बिन्दु से OX आधार रेखा पर सीधा लम्ब डाला जाये, तो एकाधिकारी की उत्पादन एवं विक्रय मात्रा स्पष्ट होती है, जो कि ON है । एकाधिकारी की कीमत LN या OP होगी । एकाधिकारी का प्रति इकाई लाभ LM होगा जो कि AR तथा AC के बीच अन्तर को बतलाता है । फर्म को इस साम्य बिन्दु पर PRML के बराबर कुल लाभ प्राप्त होता है, क्योंकि एकाधिकारी का कुल लाभ = (औसत आगम - औसत लागत) x उत्पादन मात्रा के बराबर होता है ।

अल्पकाल में मूल्य एवं उत्पादन निर्धारण (Price and Output Determination in the Short-Run) अल्पकाल में एकाधिकारी के पास इतना कम समय होता है कि वह अपने स्थायी साधनों में परिवर्तन कर उत्पादन बढ़ाने की स्थिति में नहीं होता है । वह उत्पादन के साधनों द्वारा ही पूर्ति में वृद्धि कर उत्पादन को बढ़ा सकता है । ऐसी अवस्था में बाजार में मूल्य निर्धारण पर माँग पक्ष का ही प्रभाव रहता है ।

अल्पकाल में भी उसका उद्देश्य अधिकतम लाभ प्राप्त करना होता है । एकाधिकारी की अल्पकाल में तीन स्थितियाँ हो सकती हैं :-

(1) सामान्य से अधिक लाभ(Super-Normal Profit)- सामान्य रूप से एकाधिकारी अल्पकाल में भी सामान्य लाभ प्राप्त करता है । अल्पकाल में इसका साम्य उस बिन्दु पर होगा, जहाँ MC=MR हो । अल्पकाल में सामान्य से अधिक लाभ की स्थिति को रेखाचित्र **12.10** में दर्शाया गया है । रेखाचित्र में OX अक्ष पर लागत एवं आगम तथा OY अक्ष पर उत्पादन मात्रो को दर्शाया गया है । AR फर्म का औसत आय वक्र

अथवा माँग वक्र है । MR सीमान्त आय वक्र है । MR तथा MC 'E' बिन्दु एक-दूसरे को काटते हैं । इस स्थिति में फर्म OQ का उत्पादन करेगी । उसे प्रति इकाई OP कीमत प्राप्त होगी । OT या NQ प्रति इकाई लागत है। अत: फर्म को PT या MN प्रति इकाई लाभ प्राप्त होगा तथा OQ उत्पादन करने पर कुल PTNM के बराबर लाभ प्राप्त होगा ।

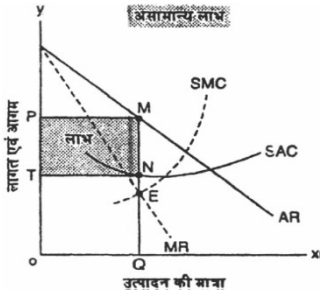

रेखाचित्र 12.10

(2) सामान्य लाभ (Normal Profit) - अल्पकाल में एकाधिकारी को केवल सामान्य लाभ भी प्राप्त हो सकता है । अल्पकाल में मूल्य निर्धारण में माँग पक्ष का ही प्रभाव रहता है । यदि वस्तु की माँग कम हो जाये, तो वस्तु का मूल्य इतना कम हो सकता है कि एकाधिकारी को केवल औसत लागत ही मिले । ऐसी स्थिति में उसे केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त होगा । यहाँ औसत लागत में सामान्य लाभ सम्मिलित है । अल्पकाल में एकाधिकारी सामान्य लाभ की स्थिति को रेखाचित्र **12.11** में दर्शाया गया है ।

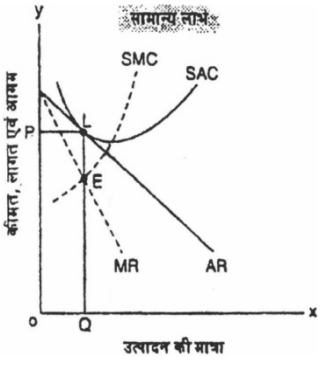

रेखाचित्र 12.11

रेखाचित्र में एकाधिकारी को अल्पकाल में सामान्य लाभ ही प्राप्त हो रहा है । E साम्य बिन्दु है, जहाँ MC ने MR वक्र को नीचे से काटा है, अर्थात् MC=MR हैं । इस सन्तुलन बिन्दु पर OQ मात्रा का उत्पादन एवं विक्रय किया जाता है । OQ उत्पादन मात्रा की औसत लागत QL या OP है तथा एकाधिकारी का औसत आगम (AR) भी QL या OP हैं, अत: एकाधिकारी को न लाभ प्राप्त हो रहा है । और न हानि ।

(3) हानि की स्थिति (Loss) - यह आवश्यक नहीं है कि एकाधिकारी सदैव लाभ ही प्राप्त करे । अल्पकाल में वह हानि की स्थिति में भी कार्य कर सकता है । यदि फर्म की उत्पादन लागत अधिक है और माँग कम होने से मूल्य कम हो जाता है तो वह कीमत द्वारा औसत लागत भी वसूल नहीं कर पायेगा और हानि उठाते हुए उत्पादन जारी रखेगा । लेकिन वह औसत स्थिर लागत से अधिक हानि नहीं उठायेगा । अर्थात् यदि वस्तु का मूल्य औसत परिवर्तनशील लागत से भी कम हो जाता, तो वह अल्पकाल में भी उत्पादन बन्द कर देगा ।

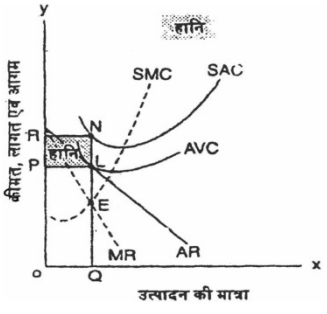

रेखाचित्र 12.12

अत: उसे कम से कम परिवर्तनशील लागत के बराबर कीमत अवश्य मिलनी चाहिए ।स्थिति को रेखाचित्र **12.12** में दर्शाया गया है ।

रेखाचित्र में एकाधिकारी की अल्पकालीन सीमान्त लागत (SMC) एवं सीमान्त आय (MR) दोनों E बिन्दु पर बराबर हैं, अर्थात् E बिन्दु पर SMC=MR । इस साम्य पर एकाधिकारी का औसत आगम QL या OP हैं, जो औसत लागत से नीचा है । अत: एकाधिकारी को हानि प्राप्त हो रही है; किन्तु यहाँ एकाधिकारी औसत परिवर्तनशील लागतों के बराबर मूल्य प्राप्त कर रहा है । अत: उतरने स्थायी लागत के बराबर ही हानि हो रही है । यदि कीमत QL या OP से कम हो जाये, तो फर्म को अस्थायी तौर पर उत्पादन बन्द करना पड़ेगा, क्योंकि मूल्य के OP कम होने पर फर्म को परिवर्तनशील लागतों के बराबर भी भुगतान प्राप्त नहीं होगा ।

दीर्घकाल में मूल्य एवं उत्पादन निर्धारण (Price and output Determination in the Long Run) दीर्घकाल में एकाधिकारी के पास इतना समय होता है कि वह अपने स्थिर साधनों में परिवर्तन कर अर्थात् फर्म के आकार में परिवर्तन कर, उत्पादन की मात्रा को माँग के अनुरूप समायोजित कर संकता है । एकाधिकार की अवस्था (दीर्घकाल) में कीमत औसत उत्पादन लागत से अधिक होती है, अर्थात् दीर्घकाल में भी एकाधिकारी अतिरिक्त लाभ अर्जित करता है, क्योंकि उसे नई फर्मो के प्रवेश का भय नहीं रहता है।

नई फर्मो के प्रवेश का भय न रहने के कारण एकाधिकारी उत्पादन-क्षमता में अधिकतम लाभ की ध्यान में रखकर परिवर्तन करता है । वस्तु के अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन औसत लागत के सम्बन्धों को ध्यान में रखते हुए वह अनुकूलतम से अधिक आकार पर उत्पादन कर सकता है । सामान्यत: एकाधिकारी इस बात का प्रयास करता है कि उसकी फर्म का आकार इतना बड़ा हो कि सीमान्त आय वक्र (MR) मेंदीर्घकालीन औसत लागत वक्र को निम्नतम बिन्दु पर काटे । इस तथ्य का स्पष्टीकरण रेखाचित्र **12.13** में किया गया है । OQ मात्रा का उत्पादन करने से दीर्घकालीन सीमान्त लागततथा सीमान्त आय E बिन्दु पर बराबर होती है । यह दीर्घकालीन औसत लागत (LAC) का निम्नतम बिन्दु है । इस बिन्दु पर OQ मात्रा का उत्पादन करने पर MR =SMS=LMC=SAC। फर्म इस बिन्दु पर अल्पकालीन व दीर्घकालीन दोनों अवस्थाओं में संतुलन की स्थिति में है । कीमत OP, लागत OA तथा लाभ AP के बराबर है । कुल अतिरिक्त लाभ = AP x PN अर्थात् AENP के बराबर होगा ।

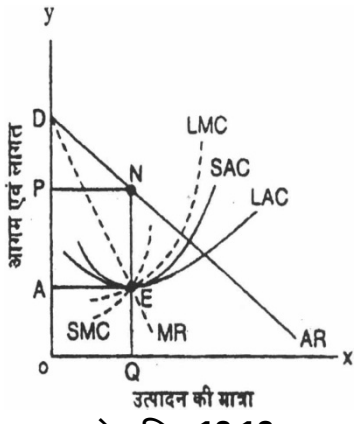

रेखाचित्र 12.13

जिस बिन्दु पर MR वक्र को LAC को काटता है (E बिन्दु), यदि उस बिन्दु से बायीं तरफ वे किसी बिन्दु पर एक दूसरे को काटें, तो फर्म का आकार अनुकूलतम से छोटा होगा । इसी प्रकार यदि MR वक्र, LAC वक्र को E बिन्दु की दाहिनी ओर काटता है, तो फर्म का आकार अनुकूलतम से बड़ा होगा ।

निष्कर्ष - निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि एकाधिकार की अवस्था में कीमत सीमान्त आय से अधिक होती है तथा सीमान्त लागत कीमत के बराबर होने के पूर्व ही सीमान्त आय के बराबर हो जाती है । जिस बिन्दु पर सीमान्त आय व सीमान्त लागत बराबर हो जाती है, उसी बिन्दु पर उत्पादन मात्रा निश्चित होती है, क्योंकि उसी परिस्थिति में एकाधिकारी का लाभ अधिकतम होगा ।

12.8 एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता का अर्थ एव परिभाषा (Meaning and Definition of Monopolistic Competition)

एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता का अभिप्राय बाजार की उस व्यवस्था से है, जिसमें बहुत से विक्रेता होते हैं, परन्तु उनकी वस्तुओं में इतना (**Differentiation**) पाया जाता है कि वे एक दूसरे की अपूर्ण स्थानापन्न (**Imperfect Substitute**) होती है । प्रत्येक विक्रेता या उत्पादक का अपनी वस्तु पर पूर्ण एकाधिकार होता है, परन्तु उसे लगभग अपूर्ण स्थानापन्न वस्तुओं से प्रतिस्पर्द्धा करनी पड़ती है । अत: प्रत्येक उत्पादक एकाधिकारी होता है, परन्तु साथ ही साथ उसे प्रतियोगिता का सामना भी करना पड़ता है । उदाहरण के लिए, विभिन्न ब्रांड की सिगरेटों के बीच प्रतियोगिता होती है । साथ ही सीमित क्षेत्र में (कुछ उपभोक्ताओं के लिए) एकाधिकार की स्थिति भी होती है, इसे एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता की स्थिति कहते हैं ।

स्टोनिर तथा हेग के शब्दों में, "अपूर्ण प्रतियोगिता की दशा में अधिकांश उत्पादकों की वस्तुएँ उनके प्रितिद्वंदियों की वस्तुओं से बहुत मिलती-जुलती होती हैं । परिणामस्वरूप इन उत्पादकों को हमेशा इस बात पर ध्यान देना पड़ता है कि प्रितिद्वंदियों की क्रियाएँ उनके लाभ को कैसे प्रभावित करेंगी । आर्थिक सिद्धान्तों में इस तरह की स्थिति का विश्लेषण एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता **(Monopolistic Competition)** अथवा समूह संतुलन **(Group Equilibrium)** के अन्तर्गत किया जाता है, इसमें एक-सी वस्तुएँ बनाने वाली अनेक फर्मो में प्रतियोगिता पूर्ण न होकर तीव्र होती है ।"

प्रो. रिचार्ड एच. ले॓टविच के अनुसार, "एकाधिकृत प्रतिस्पर्द्धा के बाजार में एक विशेष प्रकार की वस्तु के अनेक विक्रेता होते हैं और प्रत्येक विक्रेता की वस्तु किसी न किसी रूप में दूसरे विक्रेता की वस्तु से अलग होती है । जब विक्रेताओं की संख्या इतनी ज्यादा होती है कि एक विक्रेता के कार्यो का उस पर कोई स्पष्ट प्रभाव नहीं पड़ता है, तो यह उद्योग एकाधिकृत प्रतिस्पर्द्धा का उद्योग बन जाता है ।"

12.9 एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता की विशेषताएँ (Characteristics of Monopolistic Competition)

(1) विक्रेताओं की अधिक संख्या (Large Number of Sellers) - एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में विक्रेताओं की संख्या अधिक होती है । फलस्वरूप अकेला विक्रेता वस्तु के मूल्य को प्रभावित नहीं कर सकता है । प्रत्येक फर्म एक दूसरी से स्वतन्त्र होती है। फर्मो का आकार छोटा होने से उनका सम्पूर्ण पूर्ति में महत्वपूर्ण भाग नहीं होता है ।

(2) वस्तु विभेद (Product Differentiation) - वस्तु विभेद एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता का मूल आधार है, अर्थात प्रत्येक फर्म की वस्तु किसी न किसी रूप में अन्य फर्मो की वस्तुओं से भिन्न होती है । सभी फर्मो द्वारा उत्पादित वस्तुएँ अधिकांश अंशों में एक-दूसरे की स्थानाप**न्न** होर्ती हैं, परन्तु वे एक जैसी नहीं होती है ।

(3) फर्मो का प्रवेश व बहिर्गमन आसान (Easy Entry and Exit of Firms) - एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में फर्मो को प्रतियोगी फर्मो का भय नहीं होता है । प्रत्येक फर्म स्वतन्त्र रूप से कार्य करती है । अत: उद्योग में फर्मो के प्रवेश व बहिर्गमन की स्वतन्त्रता होती है ।

(4) फर्म का लोचदार माँग वक्र (Highly Elastic Demand Curve of the Firm) - एकाधिकारात्मक प्रतियोगी फर्म का माँग वक्र अत्यधिक लोचदार होता है, यदि फर्म को अधिक मात्रा में वस्तु बेचनी होती है, तो उसे वस्तु का मूल्य घटाना पड़ता है ।

(5) उपभोक्ताओं की प्राथमिकताओं में अन्तर (Differences in Consumer's Preferences) - एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में वस्तु विभेद किया जाता है अर्थात् भि**ê**-भि**ê** प्रकार की वस्तुएँ उत्पादित की जाती है । फलस्वरूप विभिन्न उपभोक्ता अपनी रूचि व प्राथमिकता के अनुसार भि**ê**-भि**ê** वस्तुओं का क्रय करते हैं ।

(6) ग्राहकों को विशिष्ट सुविधाएँ (Specific Facilities to the Customers) - एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में विक्रेता अपनी वस्तु का विक्रय करने के लिए ग्राहकों को विशिष्ट सुविधाओं जैसे मरम्मत की सुविधा, घर तक सुपुर्दगी, साख सुविधा, नवीनीकरण, किस्तों में भुगतान की सुविधा आदि प्रदान करते हैं ।

(7) गैर-मूल्य प्रतियोगिता (Non-Price Competition)- बाजार की इस स्थिति में गैर-मूल्य प्रतियोगिता पाई जाती है अर्थात् प्रत्येक विक्रेता अपनी वस्तु को अन्य विक्रेताओं की वस्तु से श्रेष्ठ बताता है । वस्तु की पैकिंग, ट्रेडमार्क, ब्राण्ड नाम, डिजायन, आकार आदि में अन्तर कर वस्तु को श्रेष्ठ बताया जाता है, इसके लिए विज्ञापन का सहारा लिया जाता है ।

(8) सीमित एकाधिकार (Limited Monopoly) - इसमें एक विक्रेता का क्षेत्र में अल्पकाल में एकाधिकार होता है ।

(9) सामान्य लाभ (Normal Profit) - इस बाजार स्थिति में दीर्घकाल में सभी फर्में केवल सामान्य लाभ प्राप्त कर सकती हैं, क्योंकि स्थानापन्न वस्तुओं की प्रतियोगिता का भय बना रहता है ।

(10) गठबन्धन का अभाव (Lack of Collusion) - बाजार की इस स्थिति में सभी फर्में स्वतंत्र रूप से कार्य करती हैं तथा आपसी समझौते या गठबन्धन द्वारा उपभोक्त का शोषण करने की स्थिति में नहीं होती है ।

12.10 एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता के अन्तर्गत मूल्य एवं उत्पादन निर्धारण **(Price and Output** determination Under Monopolistic Competition)

अल्पकाल में एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में फर्म का माँग वक्र अर्थात् औसत आय वक्र नीचे झुका हुआ होता है । फर्म अनुकूलतम से कम आकार की होती है । फर्म अपना विस्तार उस समय ही रोक देती है, जबकि उसकी औसत लागत घट रही हो । इसका कारण यह है कि फर्म सन्तुलन की स्थिति में उसी समय हो जायेगी, जिस समय सीमान्त लागत तथा सीमान्त आय समान हो जायेगी ।

एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता के अन्तर्गत फर्म को विक्रय-व्यय भी वहन करना पड़ता है। फर्म द्वारा बिक्री में वृद्धि केवल मूल्य घटाकर ही नहीं, बल्कि विज्ञापन का सहारा लेकर भी की जाती है । अत: फर्म को विक्रय लागत भी वसूल करनी होती है । इस प्रकार फर्म जिस शुद्ध आय **(Net Revenue)** को अधिकतम करना चाहती है, उसे निम्नलिखित प्रकार से प्रकट किया जा सकता है : -

लाभ= [कीमत X विक्रय मात्रा] - [उत्पादन लागत + विक्रय व्यय]

अत: फर्म की साम्य स्थिति का अध्ययन करते समय विक्रय व्यय को भी ध्यान में रखना होगा । विक्रय व्यय को सीमान्त लागत तथा औसत लागत में सम्मिलित किया जाता है । अत: यह कहा जा सकता है कि फर्म सन्तुलन की स्थिति में उस समय होगी जबकि उत्पादन लागत में विक्रय लागत को सम्मिलित करते हुए उसकी, **MR=MC** हो ।

अल्पकाल में एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता की स्थिति में फर्म असामान्य लाभ, सामान्य लाभ अथवा न्यूनतम हानि वहन करती हुई हो सकती है । इन तीनों स्थितियों को निम्न प्रकार समझाया गया है :-

(1) असामान्य लाभ की स्थिति (State of Super Normal Profit) :- अल्पकाल में यदि बाजार की स्थिति फर्म के अनुकूल है अर्थात् वस्तु का मूल्य वस्तु की औसर लागत से अधिक है, तो फर्म को असामान्य लाभ प्राप्त होता है । फर्म की इस स्थिति को रेखाचित्र **12.14** में स्पष्ट किया गया है । इस रेखाचित्र में 'AR फर्म का आय वक्र तथा MR फर्म का सीमान्त आय वक्र है । इसी प्रकार SMC फर्म का सीमान्त लागत

वक्र है । फर्म का सामन्य बिन्दु E है, क्योंकि इस बिन्दु पर फर्म की सीमान्त लागत (MC) ने फर्म की सीमान्त आय (MR) को काटा है, इस साम्य बिन्दु पर फर्म OQ मात्रा का उत्पादन एवं विक्रय करती है, जिसकी कीमत या औसत आय QT या OP है । फर्म की औसत लागत QS या OR है । चूँकि साम्य बिन्दु पर AR>AC से । अत: फर्म को प्रति इकाई ST या RP अतिरिक्त लाभ या RSTP के बराबर कुल लाभ प्राप्त हो रहा है ।

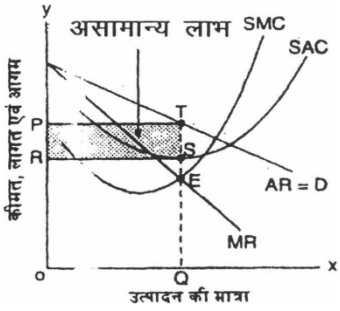

रेखाचित्र 12.14

(2) सामान्य लाभ की स्थिति (State of Normal Profit) :- यदि अल्पकाल में वस्तु की कीमत न तो फर्म के लिए अनुकूल और न ही प्रतिकूल हो, तो फर्म साम्य की स्थिति में सामान्य लाभ या न लाभ न हानि की स्थिति में रहती है । फर्म की इस स्थिति को रेखाचित्र **12.15** में दिखाया गया है ।

रेखाचित्र में फर्म E बिन्दु सन्तुलन में है, क्योंकि इस बिन्दु पर SMC तथा MR दोनों एक दूसरे को काटते हैं । साम्य की इस अवस्था में फर्म OQ मात्रा का उत्पादन एवं विक्रय करती है । इसकी कीमत या औसत

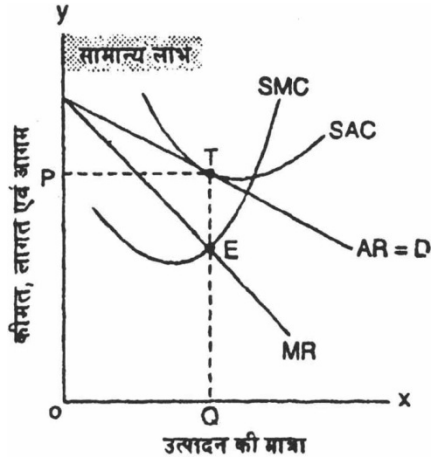

रेखाचित्र 12.15

आय QT अथवा OP है । फर्म की औसत लागत भी QT अथवा OP है । चूँकि इस साम्य बिन्दु पर AR=AC के है । अत: फर्म को इस स्थिति में न तो लाभ मिल रहा है और न हानि । इस प्रकार फर्म को सामान्य ही प्राप्त हो रहा है ।

(3) हानि कि स्थिति (State of Loss) :- यदि अल्पकाल में वस्तु मूल्य फर्म के प्रतिकूल है, तो साम्यवस्था में फर्म की औसत फर्म की औसत आय से अधिक होती है तथा फर्म को हानि उठानी पड़ती है । फर्म की हानि की इस स्थिति को रेखाचित्र **12.16** में प्रदर्शित किया गया है ।

इस रेखाचित्र में फर्म E बिन्दु पर सन्तुलन में है । फर्म वस्तु की OQ मात्रा का उत्पादन एवं विक्रय करती है । फर्म की कीमत अथवा औसर आय QT या OP है, जबकि औसत लागत QS या OR है । चूँकि इस साम्य बिन्दु पर AT<AC । अत: फर्म को प्रति इकाई औसत हानि उत्पादन की TS या PR के बराबर अथवा PTSR के बराबर कुल हानि हो रही है। हानि की स्थिति में भी फर्म उत्पादन तब तक चालू रखेगी जब तक कि फर्म को कम से कम औसत परिवर्तनशील लागत (AVC) के बराबर कीमत मिलती रहे । यदि मूल्य अल्पकाल में AVC से भी नीचे चला जाता है तो फर्म उत्पादन बन्द कर देगी ।

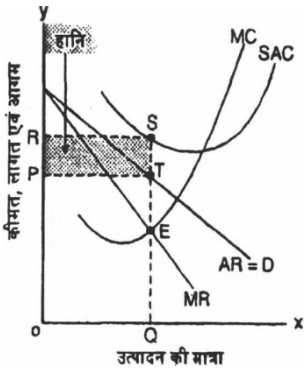

रेखाचित्र 12.16

बाजार की इस स्थिति में अल्पकाल में सभी फर्में न तो समान मात्रा में उत्पादन करती है और न ही समान मूल्य वसूल करती है । विभिन्न फर्मों में उत्पादन मात्रा तथा कीमत भी अलग-अलग हो सकती है ।

दीर्घकाल में (In Long-Run) :- दीर्घकाल में कोई भी फर्म सामान्य से अधिक लाभ प्राप्त नहीं कर सकती है, क्योंकि उद्योग में अन्य प्रतियोगी फर्मों के प्रवेश की स्वतंत्रता होती है । अत: अधिक लाभ की आशा में अन्य फर्में उद्योग में प्रवेश करेंगी। नई फर्मों के प्रवेश से कुल माँग का कम हिस्सा प्राप्त होगा तथा फर्म का माँग-वक्र बायी तरफ खिसकेगा अर्थात माँग से कमी होती जायेगी । अन्य प्रक्रिया उस समय तक चलेगी जब तक कि अधि-सामान्य लाभ समाप्त न हो जाए । नई फर्मो के प्रवेश से कुल पूर्ति में वृद्धि होगी, अत: कीमत नीचे गिरेगी ।

फर्मों के प्रवेश का प्रभाव 'उत्पादन-लागत' पर भी पड़ेगा । यदि उद्योग में लागत-वृद्धि नियम लागू हो रहा है, तो नई फर्मों का प्रवेश उस समय तक होता रहता है, जब तक कि अधि सामान्य लाभ समाप्त न हो जाये । इस प्रकार दीर्घकाल में फर्मों को केवल सामान्यलाभ प्राप्त । सामान्य लाभ उस अवस्था में होता है, जब औसत आय औसत लागत के बराबर हो । अत: दीर्घकाल में फर्म सन्तुलन की अवस्था में उस समय होगी, जबकि -

(1) सीमान्त आय (MR) =सीमान्त लागत (MC) के
(2) कीमत =औसत आय =औसत लागत **(**P=AR=AC**)** के ।

इस स्थिति को रेखाचित्र 12.17 में दिखाया गया है । चित्र में फर्म का दीर्घकाल में साम्य E बिन्दु पर प्रकट हो रहा है, क्योंकि यहाँ MR=MC है । अत: फर्म OQ मात्रा का उत्पादन तथा विक्रय करेगी और QT या OQ कीमत रखेगी । इस कीमत पर एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता की दोहरी शर्त

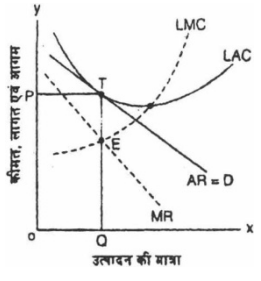

रेखाचित्र 12.17

पूरी होती है, अर्थात् इस कीमत पर जहाँ MR=MC वहाँ AR=AC भी है । इस प्रकार दीर्घकालीन सन्तुलन में MR=MC तथा AR=AC होती है । अत: फर्म को दीर्घकाल में केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त होता है।

12.11 अल्पाधिकार का अर्थ एव परिभाषा (Meaning of Definition of Oligopoly)

अल्पाधिकार बाजार की वह स्थिति होती है, जिसमें वस्तु की उत्पादक या विक्रेता फर्मों की संख्या बहुत थोड़ी होती है । ये फर्में या तो समान वस्तुओं का उत्पादन करती हैं या भिन्न वस्तुओं का उत्पादन करती हैं, लेकिन ये भिन्न वस्तुएँ एक दूसरे की निकट स्थापनापन्न होता हैं । उद्योग में फर्मों की संख्या कम होने से एक फर्म का कुल उत्पादन में महत्त्वपूर्ण भाग होता है । अत: एक फर्म अपने व्यवहार से अन्य फर्मों एवं कीमत को प्रभावित करने की स्थिति में होती है ।

लेपटविच के अनुसार, "बाजार की वे दशाएँ अल्पाधिकार की दशाएँ कहलाती हैं, जिनमें थोड़ी संख्या में इतने से विक्रेता पाये जाते हैं कि एक ही क्रियाएँ दूसरे के लिए महत्वपूर्ण होती है ।'

12.12 अल्पाधिकार की विशेषताएँ (Main Features of Oligopoly)

(1) थोड़े विक्रेता (Few Sellers) :- अल्पाधिकार में उत्पादक या विक्रेताओं की संख्या बहुत थोड़ी होती है । फर्मों की संख्या कम होने के कारण एक फर्म अपने व्यवसाय से वस्तु की पूर्ति व मूल्य को प्रभावित कर सकती है, इस प्रकार एक फर्म के व्यवहार से अन्य फर्म भी प्रभावित होती है ।

(2) प्रमापित अथवा विभेदित वस्तु (Standard of Differentiated Products):- अल्पाधिकारी बाजार स्थिति में उत्पादक एक रूप प्रमाणित वस्तुओं का उत्पादन कर सकते हैं या भिन्न-भिन्न वस्तुओं का उत्पादन कर सकते हैं । जब सभी उत्पादक समरूप प्रमाणित वस्तुओं का उत्पादन करते हैं तो उसे विशुद्ध अल्पाधिकार कहते हैं । इसके अतिरिक्त यदि वे भिन्न-भिन्न वस्तुओं का उत्पादन करते हैं, तो उसे विभेदित अल्पाधिकर कहा जाता है ।

(3) परस्पर निर्भरता (Interdependence) :- अल्पाधिकार में विभिन्न फर्में एक दूसरे पर निर्भर होती है, क्योंकि एक फर्म का कुल उत्पादन में महत्वपूर्ण भाग होता है । अत: वह अपने व्यवहार से अन्य फर्मों को प्रभावित करने की स्थिति में होती है ।

(4) प्रतियोगिता (Competition):- अल्पाधिकार में विभिन्न उत्पादक फर्मों में कड़ी प्रतियोगिता पाई जाती है, इस प्रतियोगिता की स्थिति में कुछ उत्पादक संघ बनाकर प्रतियोगिता का सामना करते हैं ।

(5) कीमत स्थिरता (Price Regidity) :- अल्पाधिकारी की स्थिति में कीमत में स्थिरता पाई जाती है । कीमत स्थिरता का तात्पर्य उस स्थिति से है, जिसमें माँग व पूर्ति की शक्तियों में व्यापक परिवर्तन होने पर भी कीमत में कोई परिवर्तन नहीं होता है ।

(6) माँग की अनिश्चितता (Uncertain Demand) :- अल्पाधिकारी अपनी वस्तु की माँग का पूर्वानुमान नहीं लगा सकता है, क्योंकि उसकी माँग रेखा अनिश्चित होती है । एक फर्म के व्यवहार का अन्य फर्मों का व्यापक प्रभाव पड़ता है । अत: एक फर्म यह अनुमान नहीं लगा सकती है कि उसके व्यवहार में परिवर्तन से अन्य फर्मों के व्यवहार में क्या और कितना परिवर्तन आयेगा ।

(7) विज्ञापन एवं विक्रय संवर्द्धन (Advertisement and Sales Promotion):- अल्पाधिकार में विज्ञापन एवं विक्रय संवर्द्धन क्रियाओं का विशेष महत्व होता है । इस कारण अल्पाधिकारी इन पर अत्यधिक व्यय करता है । यदि प्रतियोगी फर्में विज्ञापन आदि पर व्यय न करें, तो उनका बाजार सीमित होने लगता है । अत: उन्हें भी मजबूर होकर विज्ञापन पर ध्यान देना होता है । '

(8) फर्मो के प्रवेश व बहिर्गमन में कठिनाई (Difficulty in the Entry and Exit of Firms) : अल्पाधिकार में बाजार में सीमित फर्मों ही उत्पादन कार्य करती है । अत: वे नई फर्मों को उद्योग में प्रवेश करने पर प्रभावी बाधायें खड़ी कर देती है । इस प्रकार ट्रेडमार्क, पेटेन्ट राइट्स आदि के कारण भी नयी फर्मों उद्योग में प्रवेश नही कर सकती है । इसके साथ ही फर्मों का आकार बड़ा होने व उसमें अत्यधिक पूँजी विनियोग होने के कारण पुरानी फर्में आसानी से उद्योग छोड़ने की स्थिति में नहीं होती है ।

12.13 अल्पाधिकार के अन्तर्गत मूल्य निर्धारण (Price Determination under Oligapoly)

अल्पाधिकार में मूल्य निर्धारण का अध्ययन निम्न तीन दशाओं में कर सकते हैं-

(1) स्वतंत्र मूल्य निर्धारण (Independent Pricing):- अल्पाधिकार में स्वतंत्र मूल्य निर्धारण का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक फर्म अपनी उत्पादन मात्रा एवं कीमत का निर्धारण स्वतंत्र रूप से करती है । यहाँ हम दो स्थितियों की कल्पना कर सकते हैं । प्रथम स्थिति यह हो सकती है कि सभी फर्में समरूप वस्तुओं का उत्पादन कर रही हों या सभी फर्मों के साध्य बाजार का विभाजन समान हो, 'तो सभी फर्मों द्वारा एक समान मूल्य निर्धारित किया जाता है इसके विपरीत दूसरी स्थिति में यदि विभिन्न फर्में अपनी वस्तु के संबंध में एकाधिकार की स्थिति में होगी तथा एकाधिकारी की तरह वस्तु का मूल्य निर्धारित करेगी । आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार, स्वतंत्र मूल्य निर्धारण की स्थिति व्यवहार में नहीं मायी जाती है ।

(2) गुटबन्दी के अन्तर्गत मूल्य निर्धारण (Price Determination Under Collusion) :- अनिश्चितता से सुरक्षा के लिए फर्मों में गुटबन्दी या कारटेल की भावना उत्पन्न हो

जाती है!तथा वे आपस में समझौते कर गुट बना लेते हैं । इन गुटों या संघों की स्थिति एकाधिकारी के समान हो जाती है । इसमें विभिन्न फर्में मिलकर वस्तु का एक ऐसा मुल्य निर्धारित करती है, जिसमें सम्पूर्ण उद्योग को अधिकतम लाभ प्राप्त हो । इस प्रकार कारटेल बनाकर अल्पाधिकारी फर्में शक्तिशाली एकाधिकार (Strong Monopoly) की स्थिति में आ जाती हैं ।

(3) कीमत नेतृत्व के अन्तर्गत मूल्य निर्धारण (Price Determination Under Price Leadership): कीमत नेतृत्व का तात्पर्य बाजार की उस स्थिति से है, जिसमें उद्योग की समस्त फर्मों के लिए वस्तु की कीमत एक ही फर्म द्वारा निर्धारित की जाती है । अन्य फर्में इसके द्वारा निर्धारित कीमत को स्वीकार करती है, अर्थात् कीमत निर्धारण में एक फर्म सम्पूर्ण फर्मों का नेतृत्व करती है । इस प्रकार अल्पाधिकार में जब एक फर्म, जो सामान्यतया बड़ी होती है, मूल्य निर्धारण करती है और अन्य सभी फर्में उसका अनुकरण करती हैं, तो इसे कीमत नेतृत्व में मूल्य निर्धारण कहा जाता है ।

कीमत नेतृत्व की स्थिति में नेतृत्व करने वाली फर्में बड़ी होती है तथा वस्तु की सम्पूर्ण पूर्ति में उसका भाग सर्वाधिक होता है । शेष फर्में छोटे आकार की होती है तथा उनका कुल पूर्ति में महत्वपूर्ण भाग नहीं होता है । अत: वे वस्तु की कीमत व मात्रा को स्वयं निर्धारित नहीं कर सकती है, बल्कि प्रतिनिधि या बडी फर्म का अनुकरण ही करती है ।

अल्पाधिकार में मूल्य दृढ़ता : विकुचित माँग वक्र (Price Rigidity: The Kinked Demand Curve)

अल्पाधिकार के अन्तर्गत माँग-रेखा की शक्ल या लोच के संबंध में सामान्य तत्वों का उल्लेख करना कठिन है । परस्पर प्रतिस्पर्धी फर्मों की कीमत-नीति एक दूसरे से बहुत प्रभावित होती है । अत: कीमत की इस अन्तनिर्भरता के कारण एक सामान्य माँग रेखा बनाना कठिन है । माँग-वक्र दूसरी प्रतिस्पर्धी फर्मों से प्रभावित होती है । विशुद्ध अल्पाधिकार की दशा में अल्पाधिकार की अपेक्षा फर्मों की माँग एक दूसरे से अधिक प्रभावित होती है । सन् **1930-40** की अवधि में अर्थशास्त्रियों ने इस बात पर जोर दिया था कि अल्प विक्रेताधिकारी की माँग कोनेदार (Kinked) होती है, यद्यपि यह विषय अत्यन्त ही विवादग्रस्त है ।

कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि यदि एक फर्म मूल्य में कमी करती है, तो अन्य फर्में भी अपनी वस्तुओं के मूल्य घटा देंगी, परन्तु यदि एक फर्म मूल्य वृद्धि करती है, तो अन्य फर्में मूल्य में वृद्धि नहीं करेंगी । इस प्रकार अल्पाधिकारियों को मूल्य परिवर्तन से लाभ नहीं होता है । अत: वे एक ही कीमत पर टिके रहते हैं । इन अर्थशास्त्रियों के अनुसार, अल्पाधिकार के अन्तर्गत वस्तु के माँग वक्र में एक कोना होता है, जो वर्तमान मूल्य से संबंधित होता है । उसी बिन्दु पर कीमतें स्थिर रहती है, न घटती हैं न बढ़ती हैं । अत: अल्पाधिकारी के अन्तर्गत कीमतों मे स्थिरता होती है । उत्पादन

लागत में परिवर्तन भी अल्पाधिकारी के, उत्पादन तथा मूल्य को बहुत कम प्रभावित करते हैं ।

कोनेदार माँग वक्र इस मान्यता पर आधारित है कि अल्पविक्रेताधारी फर्मे सामान्तया न तो कीमत बढ़ाती है और न कीमत घटाती हैं । यदि कोई फर्म कीमत घटाती है, तो अन्य फर्में भी कीमत घटाएँगी । अत: कीमत कम करने से फर्म को लाभ नहीं होगा । कीमत बढ़ाने से बिक्री और भी कम होगी । अत: कीमत में परिवर्तन उस समय तक नहीं किया जाता है, जब तक की माँग या लागत की दशाओं में अत्यधिक परिवर्तन या आमूल परिवर्तन न हुआ हो ।

कोनेदार माँग यह प्रकट करती है कि कीमते स्थिर (Stick) रहेंगी । कोनेदान माँग वक्र के संबंध में यह याद रखना चाहिए कि यह पूर्णतया काल्पनिक होती है, जो प्रबन्ध के विचार में कीमत-परिवर्तन के सम्भावित परिणामों को प्रकट करता है । उसका वास्तविक माँग वक्र भिन्न हो सकता है ।

12.14 मूल्य विभेद में कीमते निर्धारण (Price Determination Under Price Discrimination)

विभेदात्मक एकाधिकार की परिभाषा (Definition)

श्रीमती जोन रोबिन्सन (Mrs. Joan Robinson) के शब्दों में, "एक ही नियन्त्रण के अन्तर्गत उत्पन्न एक ही वस्तु को विभिन्न क्रेताओं या उपभोक्ताओं को भिन्न-भिन्न कीमतों पर बेचने की क्रिया को मूल्य- विभेद कहा जाता है ।

विभेदात्मक एकाधिकारी की उस क्रिया को कहते हैं, जिसके द्वारा वह अपनी एक-समान वस्तु अथवा सेवा की विभिन्न क्रेताओं से भिन्न-भिन्न कीमतें वसूल करता है ।

मूल्य विभेद की शर्ते (Condition for price Discrimiation)

(1) मांग की लोच में भिन्नता (Difference in the Elasticity of Demand) :- मूल्य-विभेद उसी समय सफल हो सकता है, जबकि विभिन्न उपभोक्ताओं की माँग की लोच में भिन्नता हो । जिन ग्राहकों को माँग लोचहीन है, उनसें ऊँचा मूल्य तथा जिनकी माँग लोचपूर्ण है उनसें कम मूल्य लिया जाता है ।

(2) बाजारों का पृथक् होना (Seperate of Markets) :- मूल्य-विभेद के लिए यह आवश्यक है कि जिन बाजारों में मूल्य-विभेद किया जाए, वे पृथक्-पृथक् तथा एक दूसरे से दूर से दूर होने चाहिए ।

(3) क्रय-शक्ति में भिन्नता (Difference in Purchasing Power) :- विभिन्न उपभोक्ताओं की क्रय-शक्ति में भिन्नता होने पर ही मूल्य-विभेद सम्भव होता है । एक डॉक्टर धनी व्यक्ति से अधिक तथा गरीब व्यक्ति से कम शुल्क लेता है ।

(4) समान सेवा (Same Service) :- यदि विभिन्न वस्तुओं के लिए एक ही प्रकार की सेवा की आवश्यकता है, तो भी मूल्य-विभेद सम्भव हो सकता है ।

(5) परिवहन लागतें (Transport Cost) :- वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजने के लिए परिवहन लागतें उठानी पड़ती है । यदि दो बाजारों की दूरी भिन्न है, तो लागत भिन्नता के कारण मूल्य- विभेद सम्भव होगा ।

(6) सरकारी, नियमन (Government Regulation) :- कभी-कभी सरकार ऐसे प्रतिबन्ध लगा देती है या वस्तुओं की पूर्ति के संबंध में ऐसे नियम बना देती है, जिनके कारण एक ही प्रकार की वस्तु विभिन्न मूल्यों पर बेची जाती है, जैसे वि।त पूर्ति ।

(7) वस्तु की प्रकृति (Nature of Commodity) :- यदि वस्तु या सेवा की प्रकृति इस प्रकार की हो जिसे दुबारा नहीं बेचा जा सके, तो मूल्य-विभेद अधिक सफल होगा । जैसे एक डॉक्टर या वकील अपने विभिन्न ग्राहकों से उनकी आर्थिक स्थिति के अनुसार फीस वसूल करता है । '

(8) प्राथमिकताओं में अन्तर (Difference in Preference):- यदि किसी वस्तु के संबंध में उपभोक्ताओं की प्राथमिकताओं में अन्तर है, तो एक विक्रेता प्राथमिकता के क्रय से ही वस्तु का मूल्य वसूल करता है ।

12.15 विभेदात्मक एकाधिकार में मूल्य एवं उत्पादन निर्धारण (Price and Output Determination under Discriminating Monopoly)

विभेदात्मक एकाधिकार में कीमत-निर्धारण को दो विधियों द्वारा स्पष्ट किया जाता है ।

(A) सरंक्षित देशी बाजार तथा प्रतियोगी विदेशी बाजार (Protected Domestic Market and Competitive foreign Market) :- जबकि एकाधिकारी दो ऐसे बाजारों में अपनी वस्तु बेचता है, जिनमें से एक स्वदेशी बाजार में उसका एकाधिकार हो तथा दूसरे विदेशी बाजार में उसे प्रतियोगिता का सामना करना पड़ रहा हो, तो ऐसी स्थिति में सामान्यतया एकाधिकारी देश के अन्दर वस्तु का अधिक मूल्य तथा विदेश में कम मूल्य रखकर एकाधिकारी लाभ को अधिकतम करता है ।

उदाहरणार्थ, बाजार A संरक्षित देशी बाजार तथा बाजार B प्रतियोगी विदेशी बाजार है । विदेशी बाजार B में पूर्ण प्रतियोगिताओं के कारण एकाधिकारी की कीमत सीमान्त आय के बराबर होगी । (P=MR=MC) । किन्तु श्रीमती जोन रॉबिन्सन के अनुसार एकाधिकारी अपने लाभ को अधिकतम करने हेतु उत्पादन की सीमान्त लागत को प्रत्येक बाजार को सीमान्त आय में बराबर करेगा । एकाधिकारी बिक्री में इस प्रकार से समायोजन करेगा, जिससे देशी बाजार 'A' कि सीमान्त आय विदेशी बाजार 'B' की कीमत के बराबर हो, क्योंकि ऐसा समायोजन करने से ही दोनों बाजारों की सीमान्त आय समान होगी, जिससे कुल उत्पादन की सीमान्त लागत विदेशी बाजार के मूल्य के बराबर हो सकेगी ।

(B) जब सभी बाजारों में एकाधिकार हो (When Monopoly in all the Market) - जब सभी बाजारों में एकाधिकारी की स्थिति हो, तो निम्न विधि द्वारा कीमत निर्धारित होगी-

(1) उत्पादन की कुल मात्रा का निर्धारण वहाँ होगा, जहाँ सभी बाजारों की सम्मिलित कुल सीमान्त आय (MR) उसकी कुल सीमान्त आगम (MC) के बराबर हो जाये जैसा रेखाचित्र **12.18** (C) में R बिन्दु पर बताया गया है । एकाधिकारी विभिन्न बाजारों में वस्तु की कुछ OQ मात्रा बेचेगा ।

(2) कुल उत्पादन मात्रा निर्धारित करने के बाद एकाधिकारी दोनों बाजारों में से प्रत्येक में बिक्री की मात्रा इस प्रकार समायोजित करेगा, जिससे प्रत्येक बाजार में कुल बिक्री की मात्रा के अनुरूप सीमान्त आय कुल उत्पादन की सीमान्त लागत के बराबर की आय, अर्थात $MR_A=MR_B=MC$ जैसा कि चित्र A तथा B में क्रमश: बिन्दु R_1, तथा R_2 में बताया गया है ।

सभी बाजारों में एकाधिकार की स्थिति में कीमत-निर्धारण को रेखाचित्र **12.18** द्वारा स्पष्ट किया गया है । रेखाचित्र A तथा B एक एकाधिकारिक फर्म दो बाजारों (A तथा B) में औसत और सीमान्त आगम वक्रों को दर्शाते हैं । इन बाजारों में अलग-अलग कीमतों पर माँग की लोच भिन्न-भिन्न है । रेखाचित्र C दोनों बाजारों का योग है । बाजार A ऊँची आप प्रकट करता है, अत: माँग तथा सीमान्त आगम रेखाएँ (क्रमश: D_1 तथा MR_A) ऊँचे से आरम्भ होती हैं । रेखाचित्र B में D_2 तथा MR_B क्रमश: माँग तथा सीमान्त आगम को प्रकट करती हैं । चित्र C में A तथा B बाजारों का योग दिखाई गई है । इस चित्र में $AMR=MR_A+MR_B$ रेखा को प्रकट करता है । चित्र C में सीमान्त लागत भी दिखलाई गई है । बिन्दु R से आधार रेखा के समानान्तर रेखा खींची गई है, जो बिन्दु **R_1** तथा **R_2** बिन्दु से लम्ब डाले गये हैं । इस प्रकार दोनों बाजारों की कीमतों को ज्ञात किया जाता है ।

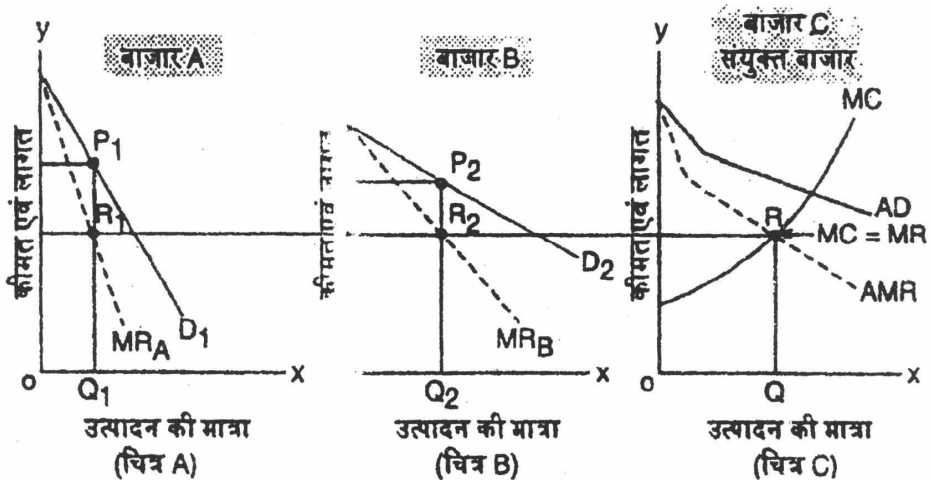

रेखाचित्र 12.18

रेखाचित्र C से स्पष्ट है कि उत्पादन की मात्रा OQ होगी । इस उत्पादन पर फर्म सन्तुलन की स्थिर में होगी, क्योंकि इस उत्पादन पर फर्म की कुल सीमान्त लागत तथा कुल सीमान्त आगम समान है । उत्पादन की वह मात्रा दोनों बाजारों में इस प्रकार विभिजित की जाती है कि प्रत्येक बाजार का सीमान्त आगम चित्र C के सीमान्त आगम (QP) के बराबर हो । बाजार में A में OQ_1 मात्रा बेची जायेगी । इस मात्रा पर बाजार A में सीमान्त आगम $Q_1 P_1$ के बराबर है, इस बाजार में $Q_1 P_1$ कीमत होगी । इस प्रकार बाजार B में OQ_2, मात्रा Q_2P_2 कीमत पर बेची जायेगी । यहाँ पर सीमान्त आय (बाजार B में) R_2Q_2, के बराबर है ।

यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि विभेदात्मक एकाधिकार में लाभ अधिकतम करने के लिए दो शर्तो की पूर्ति आवश्यक है: (i) सभी बाजारों में उसकी सीमान्त आय समान होनी चाहिए, तथा (ii) उसकी सीमान्त आय सीमान्त लागत के बराबर होनी चाहिए । दूसरे शब्दों में, प्रथम बाजार की सीमान्त आय= दूसरे बाजार की सीमान्त आय = कुल सीमान्त लागत होनी चाहिए ।

12.16 सारांश

विनिमय अर्थशास्त्र का प्रमुख भाग है । उत्पादन से उपयोग की प्रक्रिया में विनिमय एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है । विनिमय में बाजार की विभिन्न स्थितियों में फर्मों द्वारा उत्पादन व कीमत निर्धारण की प्रक्रिया महत्त्वपूर्ण है । कोई भी फर्म अपने लाभ की अधिकतम करना चाहती है । अत: उसे उत्पादन व कीमत का ऐसा स्तर निर्धारण करना चाहिए, जिस पर उसका कुल लाभ अधिकतम हो । लेकिन सभी फर्में इसके लिए पूर्ण स्वतन्त्र नहीं होती हैं । उन्हें बाजार में प्रचलित दशाओं के साथ समायोजन करना होता है । बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता, एकाधिकार, एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता तथा अल्पाधिकार की स्थितियाँ विद्यमान हो सकती है ।

पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में बाजार में असंख्य क्रेता एवं विक्रेता होते हैं । इसके अतिरिक्त वस्तु, का समरूप होना, बाजार का पूर्ण ज्ञान, फर्मों का स्वतन्त्र प्रवेश व बहिग्रमन, परिवहन लागत का अभाव, प्रतिबन्धों का अभाव, साधनों की पूर्ण गतिशीलता, क्रेताओं व विक्रेताओं की निष्पक्षता आदि विशेषताओं में है । इस दशा में उद्योग मूल्य निर्धारित करता है व फर्म उस मूल्य पर अपना उत्पादन बेचती है । अल्पकाल में फर्म लाभ, न लाभ न हानि तथा हानि की स्थिति में कार्य कर सकती है किन्तु दीर्घकाल में प्रत्येक फर्म केवल मान्य लाभ ही अर्जित कर सकती है । वास्तव में पूर्ण प्रतियोगिता एक स्थिति है ।

एकाधिकार में वस्तु का एक उत्पादक व विक्रेता होता है जिसका वस्तु की पूर्ति पर पूर्ण नियंत्रण होता है । वस्तु की कोई निकट स्थानापन्न वस्तु नहीं होती है । तथा फर्म का माँग वक्र बेलोचदार होता है । नयी फर्मों के उद्योग में प्रवेश पर प्रभावी प्रतिबन्ध होता है । इन दशाओं में एकाधिकारी दीर्घकाल में अधि-सामान्य लाभ जर्जित करता है किन्तु

अल्पकाल में वह अधिसामान्द लाभ, सामान्य लाभ अथवा हानि की स्थिति में भी कार्य कर सकता है । एकाधिकारी को भी कास्पनिक माना गया है । एक एकाधिकारी अपने कुल लाभ को अधिकतम करने के लिए मूल्य विभेद की नीति भी अपनाता है जिसे विभेदात्मक एकाधिकार कहा जाता है । इसमें वह ग्राहक की माँग की लोच के अनुसार भिन्न-भिन्न ग्राहकों से एक समान वस्तु के लिए अलग-अलग कीमत वसूल करता है । एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता व्यवहारिक स्थिति है । इसमें एकाधिकार व प्रतियोगिता दोनों की विशेषताएं पायी जाती है । इस स्थिति में एक फर्म अल्पकाल में अधि सामान्य लाभ, सामान्य लाभ अथवा हानि की स्थिति में हो सकती है, किन्तु दीर्घकाल में नयी फर्मों के प्रवेश की स्वतंत्रता के कारण वह केवल सामान्य लाभ ही अर्जित कर सकती है ।

अल्पाधिकार में थोड़े से विक्रेता व अनेक क्रेता होते है । अत: थोड़ी से फार्मो का एकाधिकार रहता है । किन्तु उनमें आपस में प्रतियोगिता होती है । इसमें एक बड़ी फर्म मूल्य निर्धारण करती है तथा बाकी फर्में उस मूल्य पर उत्पादन बेचती है । इसमें मूल्य स्थिरता की स्थिति पाई जाती है । तथा फर्म माँग वक्र अनिश्चित रहता है ।

12.17 शब्दावली

1. **पूर्ण प्रतियोगिता :-** मार्शल के अनुसार, "बाजार जितना अधिक पूर्ण होग, उतनी ही उसके अनेक भागों में किसी वस्तु के लिए एक समय पर एक ही कीमत भुगतान करने की प्रवृति पायी जायेगी ।
2. **उद्योग :-** एक समान उत्पादन करने वाली अनेक फर्मों के समूह को उद्योग कहते हैं ।
3. **अल्पकाल :-** अल्पाकाल उस उत्पादन समयावधि को कहते हैं जिसमें फर्म केवल परिवर्तनशील साधनों की मात्रा में परिवर्तन कर उत्पादन को घटा-बढ़ा सकती है । अल्पकाल में स्थिर साधनों की मात्रा में परिवर्तन सम्भव नहीं होता है ।
4. **दीर्घकाल :-** दीर्घकाल में एक फर्म के पास उतना समय होता है कि वह अपने सभी साधनों की मात्रा में परिवर्तन कर पूर्ति को माँग के अनुसार समायोजित कर सकती है।
5. **एकाधिकार :-** एक एकाधिकारी उसे समझना चाहिए जो कि किसी वस्तु पर नियंत्रण रखता है । अधिकांशत: वह प्रत्यक्ष रूप से पूर्ति द्वारा कार्य नहीं करता, बल्कि कीमत द्वारा करता है ।
6. **साम्य -** साम्य उस अवस्था को कहते हैं जिसमें एक फर्म अपने उत्पादन स्तर व कीतम में कोई परिवर्तन नहीं करना चाहती है अर्थात् इस स्थिति में फर्म को अधिकतम लाभ अथवा न्यूनतम हानि हो रही होती है ।
7. **एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता :-** एकाधिकारात्मक प्रतियोगिता में एक विशेष प्रकार की वस्तु के अनेक विक्रेता होते हैं और प्रत्येक विक्रेता की वस्तु किसी न किसी रूप में दूसरे विक्रेता की वस्तु से अलग होती है । जब विक्रेताओं की संख्या इतनी ज्यादा होती है कि एक विक्रेता के कार्यों का दूसरे पर कोई स्पष्ट प्रभाव नहीं पड़ता है तो वह उद्योग एकाधिकारात्मक उद्योग बन जाता है ।

8. अल्पाधिकार :- बाजार की वे दशाएँ अल्पाधिकार की दशाएँ कहलाती हैं थोड़ी संख्या में इतने से विक्रेता होते हैं कि एक ही क्रियाएँ दूसरे के लिए महत्वपूर्ण होती है ।

12.18 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. एकाधिकारी के अल्पकालीन सन्तुलन को समझाइए ।
2. विभेदकारी एकाधिकार की आवश्यकता दशायें बताइए । ।
3. पूर्ण प्रतियोगिता के आवश्यक लक्षण लिखिए ।
4. एकाधिकारी प्रतियोगिता की मुख्य विशेषताएँ बताइए ।
5. एकाधिकारी प्रतियोगिता का अर्थ समझाइए ।
6. अल्पाधिकार से क्या तात्पर्य है ?
7. अल्प विक्रेताधिकार के लक्षण बताइये ?
8. किंकी माँग वक्र क्यों पाया जाता है ?
9. मूल्य विभेद के क्या उद्देश्य हैं ?
10. मूल्य विभेद की व्याख्या कीजिए । एक विभेदकर्त्ता एकाधिकारी अपने लाभों को किस प्रकार अधिकतम करता है ?
11. पूर्ण प्रतियोगिता के क्या लक्षण है ? क्या यह व्यवहार में पाई जाती है ?
12. पूर्ण प्रतियोगिता की मुख्य विशेषताएँ बताइए । पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत अल्पकाल में किसी फर्म के लाभ की स्थिति की व्याख्या कीजिए ।
13. एकाधिकार के अन्तर्गत अल्पकाल के मूल्य-उत्पाद साम्य को उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए ।
14. एकाधिकारी प्रतियोगिता का अर्थ बताइए । एकाधिकारी प्रतियोगिता के अन्तर्गत मूल्य का निर्धारण किस प्रकार किया जाता है ?
15. अल्पाधिकार की विशेषताएँ स्पष्ट कीजिए । इसमें किंकी माँग वक्र क्यों पाया जाता है?
16. पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत अल्पकाल में फर्म द्वारा सामान्य लाभ, अतिरिक्त लाभ तथा हानि की स्थितियों को उपयुक्त चित्र सहित स्पष्ट कीजिए ।
17. एकाधिकारी प्रतियोगिता के अन्तर्गत फर्म के साम्य की स्थिति को स्पष्ट कीजिए ।

12.19 संदर्भ ग्रन्थ

1. **V.K Mankar, Business Economics, Himalaya Publishing House, Bombay and Delhi.**
2. Dr. D.M. Mithani & V.S.R. Murthy, Fundamentals of Business Economics, Himalaya Publishing House, Dehli.
3. **Dr. C.S. Barla, Managerial Economics, Malik & Company, Delhi, Jaipur.**
4. M.L. Seth, Micro Economics.

5. **Mishra and Puri, Business Economics, Himalaya Publishing House, Dehli.**
6. Agarwal and Somdeo, Business Economics, RBD, Jaipur.
7. एच.एल. आहूजा, एस. चान्द, व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण ।
8. एम.एल. झिंगन, समष्टि अर्थशास्त्र, **Vrinda publication Delhi.**
9. एम.सी. वैश्य, समष्टि अर्थशास्त्र, मलिक एण्ड कम्पनी, जयपुर ।

इकाई- 13 : लाभदायकता विश्लेषण (Profitable Analysis)

इकाई की रूपरेखा

13.1 लाभ का अर्थ एवं परिभाषा ।
13.2 लाभ की विशेषताएँ ।
13.3 कुल लाभ तथा शुद्ध (आर्थिक) लाभ
13.4 लाभ के प्रकार अथवा अवधारणायें
13.5 लाभ के सिद्धान्त
13.6 लाभ का औचित्य
13.7 लाभ-नीति
13.8 सारांश
13.9 पारिभाषिक शब्दावली
13.10 अभ्यासार्थ प्रश्न
13.11 सन्दर्भ ग्रन्थ

13.1 लाभ का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Profit)

उत्पादन के साधन के रूप में उद्यमी के कार्यों के लिए प्राप्त पुरस्कार को लाभ कहते हैं। उत्पादन के विभिन्न साधन मिलकर उत्पादन करते हैं । साहसी इन साधनों का संयोजन का उत्पादन कार्य करता है, इसमें उसे जोखिम उठानी पड़ती है । अत: उत्पादन के विभिन्न साधनों को उनका पुरस्कार वितरित करने के बाद जो राशि शेष रह जाती है वह साहसी का पुरस्कार होता है, जिसे लाभ कहा जाता है । इस प्रकार लाभ **'अवशेष' (Residual)** राशि होती है, यह साहसी को विभिन्न साधनों के संयोजित करने व जोखिम उठाने के बदले में प्राप्त होता है । दूसरे शब्दों में, राष्ट्रीय आय का वह भाग, जो वितरण प्रक्रिया में साहसियों को मिलता है, लाभ कहलाता है । विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने लाभ को विभिन्न प्रकार से परिभाषित किया है । मुख्य परिभाषायें निम्नलिखित है-

(1) **प्रो.जे.के. मेहता** के अनुसार, "गत्यात्मक संसार की उत्पादन प्रक्रियाओं में अनिश्चितता का यह तत्त्व त्याग के एक चौथे प्रकार को जन्म देता है, इस वर्ग में जोखिम उठाने तथा अनिश्चितता वहन करने के दो तत्त्व हैं इसको लाभ द्वारा पुरस्कृत किया जा सकता है ।"

(2) **प्रो.हेरनी ग्रेसर (Henry Grayson)** के अनुसार, "लाभ को नव-प्रवर्तन करने का पुरस्का, जोखिम उठाने का पुरस्कार तथा बाजार में अपूर्ण प्रतियोगिता के कारण अत्पन्न अनिश्चितताओं का परिणाम कहा जाता है । इनमें कोई भी दशा अथवा दशाएँ अर्थिक लाभ को उत्पन्न कर सक़ती है ।

(3) प्रो. शुम्पीटर (Prof. Schumpeter) के अनुसार, "लाभ साहसी के कार्य का प्रतिफल है अथवा वह जोखिम, अनिश्चितता तथा नव-प्रवर्तन के लिए किया जाने वाला भुगतान है ।"

(4) लेफ्टविच के अनुसार, "आर्थिक लाभ फर्म द्वारा व्यय की गई समस्त उत्पादन लागत के ऊपर कुल प्राप्तियों को शुद्ध अवशेष व आधिक्य है । "

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर लाभ का कोई निश्चित अर्थ ज्ञात करना कठिन है । 'शुद्ध आर्थिक लाभ की धारणा के संबंध में अर्थशास्त्रियों में मतभेद रहा है । कुछ अर्थशास्त्रीं जिमें नाइट तथा शुम्पीटर के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं, आर्थिक लाभ उस आय को मानते हैं जो सहसोद्यमी को जोखिम उठाने, अनिश्चितता वहन करने तथा नव-प्रवर्तन (**Innovation**) के लिए प्राप्त होता है, परन्तु मार्शल तथा रॉबर्टसन इस विचार को संकुचित मानते हैं । उनके विचार से सहसोद्यमी कुल प्राप्तियों में से समस्त व्ययों को घटाने के पश्चात् शेष का अधिकारी होता है । यह अवशेष अथवा लागत व्यय के ऊपर प्राप्त आधिक्य ही वास्तव में उसका लाभ होता है । स्पष्ट है कि लाभ की धारणा में 'अवशेष' तत्व विद्यमान है । विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक लाभ के रूप में इस अवशेष को अलग-अलग परिभाषित किया है । अन्त में हम यह कह सकते है कि लाभ साहसी को जोखिम उठाने के बदले में मिलने वाला पारितोषिक है, यह साहसी को (i) नव-प्रवर्तन का पुरस्कार, (ii) जोखिम तथा अनिश्चितता का पुरस्कार व (iii) बाजार की अपूर्णता की जोखिम के पुरस्कार के रूप में प्राप्त होता है । इस प्रकार यह इन तीनों में से किसी एक या एक से अधिक के मिश्रण के फलस्वरूप प्राप्त होता है ।

13.2 लाभ में कुछ ऐसी विशेषताएँ (Features of Profit)

लाभ में कुछ ऐसी विशेषताएँ पायी जाती हैं, जो उत्पादन के अन्य साधनों कें पुरस्कार से भिन्न हैं । ये विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

(1) गैर अनुबंधित आय: उत्पत्ति के अन्य साधनों को प्राप्त आय अनुबंधित आय होती है अर्थात पहले से निर्धारित होता है, जबकि साहसी को प्राप्त आय अर्थात् लाभ गैर-अनुबंधित होता है । इसे पहले से निश्चित नहीं किया जा सकता है ।

(2) अनिश्चितता : उत्पादन के अन्य साधनों का पारितोषिक निश्चित होता है, जबकि साहसी का पारितोषिक अर्थात् लाभ अनिश्चित होता है । लाभ व्यापारिक दशाओं से प्रभावित होता रहता है ।

(3) उच्चावचन : लाभ की दर व मात्रा में उच्चावचन होते रहते हैं । कभी लाभ बहुत बढ़ जाता है तो कभी कम हो जाता है, जबकि अन्य साधनों का पारितोषिक लगभग निश्चित होता है ।

(4) लाभ ऋणात्मक हो सकता है: उत्पादन के अन्य साधनों को प्राप्त होने वाला पारितोषिक सदैव धनात्मक होता है जबकि साहसी को प्राप्त पारितोषिक अथवा लाभ ऋणात्मक भी हो सकता है अर्थात् साहसी को लाभ के स्थान पर हानि भी वहन करनी पड़ सकती है।

13.3 कुल लाभ तथा शुद्ध (आर्थिक) लाभ [Gross Profit and Net Profit (Economic) Profit]:

कुल लाभ (gross Profit) : साधारण बोलचाल में 'लाभ' शब्द को अर्थशास्त्र में लाभ कहा जाता है। यह साहसी का कुल आय में से उत्पादन लागत घटाने के बाद शेष रही राशि के बराबर होती है दूसरे शब्दों में हाहसी को उत्पादन बचने से प्राप्त कुल आय में से उत्पादन की लागत अर्थात् उत्पादन व्यय (जैसे विभिन्न साधनों को दिया गया पुरस्कार, कच्चे माल के व्यय, ह्रास के व्यय आदि) को घटाने के बाद बची हुई राशि ही कुल लाभ है । उत्पादन की लागतें दो प्रकार की होती है- (i) स्पष्ट लागतें (Explicit Costs) तथा (ii) अस्पष्ट लागतें (Implicit Costs)। जब साहसी साधनों का पुरस्कार बाहरी व्यक्तियों को चुकाटा है, तो उसे **स्पष्ट लागतें** कहते है। जब साहसी साधनों को प्रयोग में लाता है तथा इनका पुरस्कार किसी बाहरी व्यक्ति को नहीं चुकाना पड़ता है, तो ऐसी लागतों को **अस्पष्ट लागतें** कहते है। इन लागतों का लेखा नही किया जाता है । कूला आय स्पष्ट लागतें घटाने पीआर कुल लाभ प्राप्त होता है ।

कुल लाभ = कूला लाभ - स्पष्ट लागतें

(Gross Profit = Total Revenue - Explicit Cost)

कुल लाभ के अंग (Constituents of Gross Profit) कुल लाभ को निम्नलिखित को सम्मिलित किया जाता है -

(1) शुद्ध लाभ अथवा आर्थिक लाभ (Net Profit of Economic Profit) आर्थिक कुल लाभ का प्रमुख भाग होता है, यह उद्यमकर्त्ता को जोखिम उठाने, अनिश्चितता वहन करने, नव प्रवर्तन करने, समन्वय करने तथा अपनी विशिष्ट योग्यता के कारण प्राप्त होता है । केवल साहसी ही जोखिम वहन करता है । हैनरी क्ले के अनुसार यह बात कि व्यवसाय का मालिक ही मुख्य जोखिम उठाता है उस समय स्पष्ट हो जाता है जबकि हम सोचते हैं कि मालिक वस्तु के तैयार होने तथा उसकी कीमत निर्धारित होने से पहले ही श्रम, पूँजी तथा भूमि का भुगतान कर देता है । यदि वस्तु के तैयार होने पर उसे कोई न खरीदे अथवा वस्तु बेची न जा सके तो मालिक उत्पादन में दी गई मजदूरी, ब्याज तथा लगान को वापस नहीं ले सकता है । शुद्ध लाभ में निम्नलिखित भुगतान सम्मिलित होते हैं-

(a) जोखिम बहन करने का पुरस्कार : एक साहसी उत्पादन करने में जोखिम व अनिश्चितता का सामना करता है । उसे अन्य साधनों को तो पहले ही भुगतान कर देना पड़ता है चाहे उसका उत्पादन बिके अथवा नहीं । इस अनिश्चितता व जोखिम का पारितोषिक शुद्ध लाभ का हिस्सा होता है ।

(b) साधनों में समन्वय का पुरस्कार - उद्यमी उत्पादन के विभिन्न साधनों को एकत्रित कर उनमें समन्वय स्थापित करता है, तभी उत्पादन सम्भव हो पाता है । इसके बदले उसे लाभ मिलता है ।

(c) नव-प्रर्वतन का पुरस्कार : एक उद्यमी नवीन तकनीक, नवीन कच्चे माल, नयी किस्म के उत्पादन, नये बाजार की खोज आदि नव-प्रर्वतन करता है । इसके पहले उसे लाभ प्राप्त होता है ।

(2) साहसी के स्वयं के साधनों का पुरस्कार (Rewards due to Own Resourses) : उत्पादन प्रक्रिया के दौरान मशीनों व सयंत्रों की घिसावट होती है तथा अनेंक मशीनें अप्रचलित हो जाती है । अत: ये व्यय उत्पादन लागत का लाभ होते हैं । कुल लाभ की गणना में इस प्रकार के व्ययों को नहीं घटाया जाता है जबकि शुद्ध लाभ की गणना करते समय घिसावट, अप्रचलन व संरक्षण संबंधी लागतों को घटा दिया जाता है ।

(3) घिसावट तथा संरक्षण व्यय **(Depreciation and Maintenance Charges)** : उत्पादन प्रक्रिया के दौरान मशीनों व संयत्रों की घिसावट होती है तथा अनेक मशीनें अप्रचलित हो जाती है । अत: ये व्यय उत्पादन लागत का भाग होते हैं । कुल लाभ की गणना में इस प्रकार के व्ययों को नहीं घटाया जाता है जबकि शुद्ध लाभ की गणना करते समय घिसावट, अप्रचलन व संरक्षण संबंधी लागतों को घटा दिया जाता है ।

(4) बीमा प्रभार (Insurance Premium) : विभिन्न जोखिमों का बीमा करवाने पर बीमा के प्रीमियम का भुगतान करना होता है । कुछ लाभ की गणना करते समय इसे लागतों में सम्मिलित नहीं किया जाता है, लेकिन शुद्ध लाभ की गणना करते समय लागत मानकर कुल लाभ में से घटाया जाता है ।

(5) अव्यक्तिगत लाभ (Extra Personal Gains) : अव्यक्तिगत लाभों में दो प्रकार के लाभ शामिल होते है -

(a) एकाधिकारी लाभ (Monopoly Gains) : यदि उत्पादक एकाधिकारी की स्थिति में होता है, तो उसे सामान्य से अधिक लाभ प्राप्त होता है । इस असामान्य लाभ को ही एकाधिकारी लाभ कहा जाता है ।

(b) आकस्मिक लाभ (Chance Gains): अनेक बार साहसी को विशेष परिस्थितियों जैसे युद्ध, बाढ़ अकाल के कारण अप्रत्याशित लाभ प्राप्त हो जाते हैं । ये साहसी की व्यक्तिगता योग्यता का परिणाम नहीं है बल्कि परिस्थितिजन्य लाभ है । इनकों भी कुल लाभ में सम्मिलित किया जाता है ।

इस प्रकार -

कुल लाभ या सकल लाभ = शुद्ध लाभ + साहसी के स्वंय के साधन का पुरस्कार +घिसावट व्यय + बीमा प्रभार + अव्यक्तिगत लाभ

शुद्ध या वास्तविक लाभ = कुल लाभ - (साहसी के स्वयं के साधनों का पुरस्कार + घिसावट व्यय + बीमा प्रभार + अव्यक्तिगत लाभ)

13.4 लाभ के प्रकार तथा अवधारणायें (kinds of Concepts of Profits)

(1) प्रतिस्पर्धात्मक लाभ (Competitive Profit) : प्रतिस्पर्द्धात्मक अर्थव्यवस्था में लाभ की प्रवृति समान होने की रहती है । यदि एक उद्योग में लाभ की दर कम तक दूसरे उद्योग में अधिक है, तो कम लाभ वाले उद्योग से पूँजी और उद्यमी निकल कर अधिक लाभ वाले उद्योग में चले जायेंगे । परिणामस्वरूप जिन उधोगों के लाभ कम हैं, वहाँ उत्पादन में कमी होगी । इस प्रक्रिया के कारण लाभ की दर भी प्रभावित होगी । कम लाभ वाले उद्योग में लाभ बढ़ेगा तथा अधिक उद्योग में लाभ घटेगा । यह क्रम तब तक चलता रहेगा जब तक कि विभित्र उधोगों में लाभ समान नहीं हो पाता । लाभ के समान होने के लिये हमें इस मान्यता को स्वीकार करना पड़ेगा कि विभिन्न उधोगों में जोखिम की मात्रा समान है । पुन: लाभ की प्रवृति न्यूनतम होने की रहती है । यदि सभी उधोगों में अधिक लाभ होता है तो नये उद्यमी तथा पूँजी का प्रवेश होगा, उत्पादन में वृद्धि होगी, मूल्य में ह्रास होगा और लाभ अपने न्यूनतम स्तर पर चला जायेगा । अत: प्रतिस्पर्धा के अन्तर्गत लाभ की प्रवृति सर्वत्र एक-समान होने की रहती है ।

(2) एकाधिकारी लाभ (Monopoly Profit) : एकाधिकार लाभ की प्राप्ति इस तथ्य में निहित हैं कि अपनी वस्तु की पूर्ति पर एकाधिकारी का पूर्ण नियन्त्रण होता है तथा वह वस्तु के मूल्य को उस बिन्दु तक भी नहीं गिरने देगा, जहाँ मूल्य केवल उनके लागत-व्यय के बराबर हो । चूँकि एकाधिकार में पूर्ति पर नियन्त्रण सम्भव है, अत: एकाधिकारी सदैव वस्तु की कीमत लागत के ऊपर रखता है तथा उसे अपनी एकाधिकारी शक्ति के कारण असामान्य लाभ भी प्राप्त होता है ।

(3) अप्रत्याशित लाभ (Windfall Profit) : अप्रत्याशित लाभ एक ऐसा लाभ है, जो पूर्णत: प्रतिस्पर्द्धात्मक उधोगों को समय-समय पर प्राप्त होता है । सामान्य रूप से हम इसे अप्रत्याशित लाभ इस कारण कहते है कि इस लाभ की प्राप्ति किसी उद्योग की विभिन्न फर्मों को बिना प्रत्याशा (**expectation**) के होती रहती है । साथ ही इस लाभ की प्राप्ति के पीछे जो शक्तियाँ कार्य करती हैं, वे फर्म के नियन्त्रण में बिलकुल नहीं रहती है । अप्रत्याशित लाभ का सामान्य स्त्रोत मूल्य में वृद्धि है । जब मुद्रा-स्फीति के कारण मूल्य-वृद्धि होती है, तो उत्पादक या व्यापारी को अपने पहले से संग्रह किये हुए स्टॉक पर विशेष लाभ प्राप्त होता है, क्योंकि इस स्टॉक में रखी गयी वस्तु का उत्पादन मुद्रा-स्फीति के पूर्व कम व्यय पर ही किया गया है ।

(4) सामान्य लाभ (Normal Profit): सामान्य लाभ का विचार मार्शल की देन है । मार्शल प्रतिनिधि फर्म (Representative Firm-) के पुरस्कार को सामान्य लाभ कहते हैं । यह लाभ दीर्घकाल में उस उद्योग में, जहाँ उत्पादन वृद्धि नियम लागू हो रहा है, पूर्ति-मूल्य में शामिल रहता है । वह फर्म, जो सामान्य लाभ अर्जन करती है,

अनुकूलतम फर्म है । इस प्रकार की फर्म में किसी भी प्रकार का परिवर्तन (उन्नति या अवनति) नहीं आती । चूँकि सामान्य लाभ अनुकूलतम फर्म की उत्पादन लागत में शामिल रहता है, इसलिये इसे हम अनुकूलतम फर्म की आय भी कह सकते है ।

(5) शुद्ध लाभ (Pure Profit) : शुद्ध लाभ लागत के ऊपर आधिक्य (Surplus over Cost) है, जबकि सामान्य लाभ को फर्म के लागत-व्यय का अंश ही कहा जा सकता है । शुद्ध लाभ अवशिष्ट आय है । क्लार्क अनुसार, यह गतिशील आय है । जो स्थिर अर्थव्यवस्था में नहीं मिलती है, किन्तु लागत व्यय का जो अर्थ क्लार्क लेते हैं, वह वस्तुत: प्रबन्ध का पारिश्रमिक (Wage Management) है । अत: स्पष्ट है कि जिसे मार्शल असामान्य लाभ कहते है, वह क्लार्क के विचार में शुद्ध लाभ है ।

(6) असामान्य लाभ (Supernormal Profit) : जब कभी साहसी को सामान्य लाभ के अतिरिक्त आय प्राप्त होती है, तो उसे असामान्य लाभ कहते हैं । साहसी के किसी व्यवसाय में बने रहने के लिए उसे असामान्य लाभ आवश्यक नहीं है । असामान्य लाभ कभी ऋणात्मक नहीं हो सकता है जबकि असामान्य लाभ ऋणात्मक भी हो सकता है अर्थात् हानि को ऋणात्मक असामान्य लाभ कह सकते है । यह लाभ साहसी की विशेष कुशलताओं एवं बाजार की अपूर्णताओं के कारण प्राप्त होता है । पूर्ण प्रतियोगिता में एक फर्म अल्पकाल में ही असामान्य लाभ कमा सकती है । दीर्घकाल में कोई भी फर्म केवल सामान्य लाभ कमायेगी ।

(7) व्यवसायिक लाभ तथा आर्थिक लाभ (Business Profit and economic) : व्यावसायिक –ष्टि से लाभ लागत के ऊपर आधिक्य है, परन्तु व्यावसायिक लागतों में केवल स्पष्ट लागतों (Explicit Cost) को ही सम्मिलित किया जाता है अर्थात् कुल आगम में से स्पष्ट लागतों को घटाकर व्यावसायिक लाभ ज्ञात किया जाता है । इसे अर्थशास्त्री सकल लाभ (Gross Profit) भी कहते है ।

जिस प्रकार व्यवसायी के लिए लाभ लागत के ऊपर आधिक्य है, उसी प्रकार अर्थशास्त्री के लिए कुल लाभ, कुल आगम तथा कुल लागत के अन्तर के बराबर होता है; परन्तु अर्थशास्त्री लागत का तात्पर्य 'अवसर लागत से लेते हैं । लागत के अन्तर्गत स्पष्ट लागतों के अतिरिक्त अस्पष्ट लागतें एवं सामान्य लाभ भी सम्मिलित होता है । अस्पष्ट लागतें वे लागतें हैं, जो एक साहसी को स्वयं के साधनों के उपयोग करने के बदले में बाजार दर पर पुरस्कार के रूप में मिलनी चाहिए । सामान्य लाभ, लाभ का न्यूनतम स्तर है, जो कि साहसी को उद्योगमें बनाये रखने के लिए आवश्यक है । यदि साहसी को सामान्य लाभ भी नहीं मिलेगा, तो वह उद्योग को छोड़कर चला जायेगा । अत: सामान्य लाभ' साहसी की 'हस्तान्तरण आय' अथवा 'अवसर लागत' है ।

व्यवसायिक लाभ = कुल आगम (TR) - स्पष्ट लागतें **(Explicit Cost)**

आर्थिक लाभ = कुल आगम - (स्पष्ट लागतें +अस्पष्ट लागतें + सामान्य लाभ)

13.5 लाभ के सिद्धान्त (Theories of Profit)

लाभ के संबंध में कई सिद्धान्त है, जिनमें सीमांत उत्पादकता सिद्धान्त जोखिम से संबन्धित सिद्धान्त, अनिश्चितता वहन करने का सिद्धान्त, योग्यता का सिद्धान्त, गतिशील सिद्धान्त तथा नवप्रवर्तन सिद्धान्त प्रमुख है। अब हम संक्षेप में इन विभिन्न सिद्धांतों का अध्ययन करेंगे।

(1) लाभ का सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त (The Marginal Productivity Theory of Profit)

इस सिद्धान्त की यह मान्यता है कि साहसी की योग्यता भी उत्पादन का एक साधन है । वितरण के सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त के अनुसार इस योग्यता का मूल्य, जिसे लाभ कहते हैं, उसी प्रकार निर्धारित होता है, जिस प्रकार अन्य साधनों का । साहसी अपनी योग्यता अथवा क्षमता की सहायता से जिस अतिरिक्त उत्पत्ति की वृद्धि करता है, वह सीमान्त उत्पादकता कहलाती है । यह अतिरिक्त उत्पत्ति उसी समय ज्ञात हो सकती है जबकि उद्योग में एक साहसी की कमी अथवा उसमें एक अतिरिक्त साहसी की वृद्धि कर दी जाये । इस कमी अथवा वृद्धि के उत्पादन-मात्रा में क्रमश: कितनी कमी या वृद्धि होगी, वही साहसी की सीमान्त उत्पादकता की माप होगी ।

किसी साधन का सीमान्त आय उत्पादकता वक्र (MRP) उसका माँग वक्र भी होता है । साहसियों की पूर्ति इस बात पर निर्भर करती है कि वे उद्योग में कितना कमा सकते हैं, अर्थात उनकी पूर्ति उनकी आय उत्पादकता पर निर्भर होगी । प्रश्न यह है कि उपक्रमी का MRP वक्र किस प्रकार का होगा ? भूमि, श्रम, पूँजी आदि साधनों की उत्पादकता या सीमान्त आय उत्पादकता, उनकी एक मात्रा बढ़ाकर या घटाकर सरलता से ज्ञात की जा सकती है । परन्तु किसी एक फर्म के संदर्भ में उद्यमी की सीमान्त आय उत्पादकता ज्ञात नहीं की जा सकती है, क्योंकि फर्म में एक ही उपक्रमी होता है, अत: उसकी संख्या घटाने या बढ़ाने का प्रश्न ही नहीं उठता है । ही, उद्योग के संदर्भ में उपक्रमियों की उत्पादकता या सीमान्त आय उत्पादकता, उनकी एक संख्या घटाकर या बढ़ाकर ज्ञात की जा सकती है । इसका स्पष्टीकरण एक रेखाचित्र द्वारा किया जा सकता है ।

मान लीजिए, एक उद्योग में सभी उपक्रमी एक रूप हैं तथा उ।मियों को एक-रूप भौतिक मात्राओं द्वारा नापा जा सकता है । जैसा कि चित्र 13.1 में OX- अक्ष पर व्यक्त किया गया है । चित्र में MRP वक्र एक उद्योग में उपक्रमी की सीमान्त आय उत्पादकता को प्रकट करता है । वह सामान्य माँग वक्र की भाँति है, जो यह प्रकट करता है कि उपक्रमियों कि संख्या में वृद्धि करने से उनकी। आय (लाभ) घटेगा । SS उनका पूर्ति वक्र है । हम यह मानकर चलते हैं कि सभी उपक्रमी समान रूप से कुशल हैं, अत: सभी का लाभ बराबर होगा । अत: लाभ की मात्रा OS है, जो उपक्रमियों की अवसर लागत को प्रकट करती है ।

यदि लाभ से OS कम है, तो उपक्रमी उद्योग छोड़ देगा । अत: OS उपक्रमियों का पूर्ति मूल्य है । चूँकि सभी उपक्रम का पूर्ति वक्र एक सीधी क्षैतिज रेखा के रूप में है । MRP वक्र तथा SS वक्र दूसरे को E बिन्दु पर काटते हैं । OS उद्योग के औसत लाभ को प्रकट करता है । लाभ की यह मात्रा, पूर्ण, स्पर्धा की स्थिति में दीर्घकाल में पाई जाएगी । OS लाभ पर उपक्रमियों की माँग व पूर्ति बराबर है । OS उपक्रमियों की अवसर लागत को प्रकट करता है । अत: उद्योग में सभी उपक्रमी सामान्य लाभ अर्जित कर रहे हैं । यह स्थिति दीर्घकाल से सम्बन्धित है ।

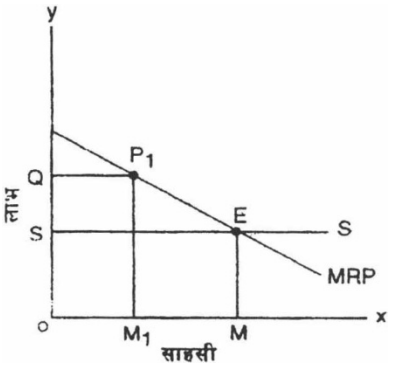

रेखाचित्र 13.1

अल्पकाल में यह संभव है कि कुछ उपक्रमी असामान्य लाभ (Abnormal Profit)अर्जित कर सकते हैं । अल्पकाल में उपक्रमियों की संख्या OM तथा OQ है, इस प्रकार SQ असामान्य लाभ है । असामान्य लाभ के कारण, दीर्घकाल में नई फर्मो का प्रवेश होगा तथा अतिलाभ स्पर्धा के कारण समाप्त हो जाएगा । अत: दीर्घकाल में पूर्ण स्पर्धा की स्थिति में सभी फर्में सामान्य लाभ की अर्जित करेंगी ।

आलोचनाएँ : लाभ का यह सिद्धान्त मान्य नहीं है । इसका कारण यह है कि शुद्ध लाभ अवशिष्ट आय है, अत: यह सीमान्त उत्पादकता के बराबर नहीं हो सकता । समस्त उत्पादन कार्य साहसी के अस्तित्व पर ही आधारित होता है । अन्य किसी साधन की तरह उसे हटाना सम्भव नहीं है । इसके अतिरिक्त साहसियों की पूर्ति अत्यन्त अल्प होने के कारण उसकी उत्पादकता की सही माप भी सम्भव नहीं है । इस सिद्धान्त की निम्नलिखित आलोचनाएँ की गयी हैं -

(1) एक फर्म की स्थिति में एक ही साहसी होने पर उस फर्म के साहसी की सीमान्त आगम उत्पादकता (MRP) की माप सम्भव नहीं है ।

(2) एक उद्योग की स्थिति एक अतिरिक्त साहसी की वृद्धि तो सम्भव है और सम्भवत: गणितीय विधि के द्वारा उससे प्राप्त सीमान्त उत्पादन में वृद्धि का अनुमान भी सम्भव हो सके । फिर भी इस वास्तविक तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि सभी साहसी समान योग्यता वाले नहीं होते । साहसियों की योग्यता में विभिन्नता होने के कारण अन्य साधनों की तरह इसमें प्रतिस्थापना का सिद्धान्त लागू नहीं होता । यही कारण है कि साहसी की सीमान्त उत्पादकता की माप नहीं की जा सकती ।

(3) एकाधिकार की स्थिति में सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त के अनुसार लाभ की गणना करना कठिन होगा , क्योंकि एकाधिकार व्यवस्था में साहसी की क्षमता में भिन्नता स्थापित नहीं की जा सकती ।

(4) सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त न तो अप्रत्याशित लाभ की व्याख्या करता है और न साहसी की आय के सम्बन्ध में कुशल साहसी के योग्यता के लगान' (Rent of Ability) के तत्त्व को सम्मिलित करता है ।

(2) लाभ का लगान सिद्धान्त (Rent Theory of Profit)

लाभ का यह सिद्धान्त अमेरिकी अर्थशास्त्री **वाकर** (Walker) ने प्रतिपादित किया है । यह सिद्धान्त 'शुद्ध लाभ की धारणा पर आधारित है । सामान्य: उद्यमी की संगठन-कुशलता तथा योग्यता में अन्तर पाया जाता है, यही कारण है कि योग्यतानुसार साहसियों के अनेक वर्ग होते हैं । जो उद्यमी अधिक कुशल होता है, वह प्रबन्ध के लिए पारिश्रमिक के अतिरिक्त कुछ आधिक्य (Surplus) का अधिकार होता है । इस आधिक्य का कारण श्रेष्ठता है । **वाकर** के अनुसार "शुद्ध लाभ लगान के समान ही यह विशेष पुरस्कार है, जो केवल श्रेष्ठ उद्यमी की उसकी विशेष योग्यता के कारण प्राप्त होता है । ' इसी कारण वाकर ने शुद्ध लाभ को 'योग्यता का लगान' कहा है । इस प्रकार उद्यमी की सकल आय (Gross Income) में से स्वयं की पूँजी, भूमि तथा अपने श्रम के लिए क्रमश: ब्याज, लगान तथा मजदूरी घटाने के पश्चात् जो आधिक्य (Surplus) अवशेष रहता है, उसे ही साहसी की योग्यता की शुद्ध आय कहते है ।

यह लाभ दीर्घकाल में लोचदार होगा; परन्तु इस प्रकार के लाभ की एक विशेषता यह है कि दीर्घकाल में विभिन्न साहसियों को अपने अवसरों तथा अपनी योग्यता को विकसित करने के पूर्ण अवसर उपलब्ध होते हैं । फलस्वरूप श्रेष्ठ साहसी की योग्यता का महत्व क्रमश: समाप्त हो जाता है । इसमें शुद्ध लाभ या योग्यता का लगान कम हो जाता है और अन्तत: वह शून्य हो जाता है; परन्तु अपूर्ण प्रतिस्पर्धा में इसके विपरीत स्थिति होती है, दीर्घकाल में श्रेष्ठ साहसी का शुद्ध लाभ अधिक होता है ।

आलोचनाएँ : व्यावहारिक रूप से बाकर के विचार की निम्न आलोचनाएँ की जाती है ।

(1) लाभ योग्यता का लगान नहीं है, क्योंकि योग्यता लगान सिद्धान्त स्वरूप में मजदूरी में विभिन्नता का सिद्धान्त है ।

(2) इस सिद्धान्त की यह मान्यता है कि बिना लगान वाली भूमि की तरह लाभ मूल्य में प्रवेश नहीं करता; किन्तु इस प्रकार का तर्क गलत है । उद्यमी का कुछ पुरस्कार में अवश्य प्रवेश करता है ।

(3) मार्शल के अनुसार, भूमि के लगान के विपरीत, लाभ को सच्चे अर्थ में आधिDय नहीं कहा जा सकता । भूमि के किसी टुकड़े का लगान नकारात्मक नहीं हो सकता; परन्तु उद्यमी को लाभ न प्राप्त होना या हानि होना सम्भव है ।

(4) अत्यधिक लाभ सदैव श्रेष्ठ उधम के कारण ही नहीं मिलता । यह अप्रत्याशित लाभ, एकाधिकारी लाभ या शोषण के फलस्वरूप भी मिल सकता है ।

(3) लाभ का गत्यात्मक सिद्धान्त (The Dynamic Theory of Profit)

प्रसिद्ध अमेरिकी अर्थशास्त्री प्रो. जे.बी क्लार्क (Prof.J.B.Clark) के अनुसार लाभ गतिशील अर्थव्यवस्था में प्राप्त होता है, अत: यह परिवर्तन का परिणाम है । स्थिर अर्थव्यवस्था में लाभ का प्रश्न भी नहीं उठता । प्रतिस्पर्धात्मक अर्थव्यवस्था में यह कहा जाता है कि स्पर्धा समस्त लाभों को समाप्त कर देती है । इसके विपरीत, एक गतिशील या गत्यात्मक समाज में अनेक प्रकार के परिवर्तन होते हैं जैसे जनसंख्या में वृद्धि, पूँजी मे वृद्धि, उत्पादन के संगठन एवं विधि में परिवर्तन आदि । इसके साथ ही साथ विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन होता है तथा उपभोक्ताओं की रुचि बदलती रहती है । बदलती हुई परिस्थितियों के अनुरूप उत्पादन क्रिया को व्यवस्थित करने पर ही उत्पादकों को लाभ मिल सकता है । जो उदयोगपति नये परिवर्तन को शीघ्र अपनाता है या नये उत्पादन की विधियों का उपयोगकर्ता है, उसे उस प्रयोग द्वारा लाभ मिलता है; किन्तु जैसे ही सभी उत्पादक उस नये परिवर्तन के अनुरूप कार्य करने लगते हैं, लाभ लुप्त हो जाता है ।

इस प्रकार लाभ परिवर्तन का परिणाम है और ऐसे परिवर्तन सदैव ही अर्थव्यवस्था में होते रहते हैं तथा इन्ही नये परिवर्तनों के समायोजन के क्रम में लाभ उत्पन्न होता है । लाभ उद्योग को नये सन्तुलन की स्थिति में लाने का पुरस्कार है, भले ही यह पुरस्कार अस्थायी हो । इस प्रकार लाभ केवल गतिशील परिवर्तन का ही परिणाम है । यह लाभ उसी समय तक प्राप्त होता है जब तक कि परिवर्तन की क्रिया चलती रहती हैं, जैसे ही परिवर्तन समाप्त हो जाता है और स्थिति पूर्ववत् हो जाती है, उद्योग को केवल सामान्य लाभ की मिलना प्रारम्भ हो जाता है ।

आलोचनाएँ : कलार्क के विचार की निम्नलिखित आलोचनाएँ की जाती हैं -

(1) यह कहा जाता है कि यह सिद्धान्त गतिशील परिवर्तनों की उचित व्याख्या नहीं करता । कुल ऐसे परिवर्तन हैं जिनके विषय में पहले से विचार किया जाता है और जिनके कारण किसी प्रकार का लाभ नहीं मिलता । वास्तव में लाभ उन परिवर्तनों के फलस्वरूप ही सम्भव हो पाता है जो अनिश्चित हैं तथा जिनके सम्बन्ध में पहले से विचार करना सम्भव नहीं होता । अत: इन दोनों प्रकार के परिवर्तनों में अन्तर करना आवश्यक है ।

(2) यदि किसी परिवर्तन के विषय में सामान्य रूप से आशा की आती है और यदि लोग उसके अनुसार परिवर्तन कर लेते हैं, तो लाभ की सम्भावना नहीं रह जाती ।

(3) बिना किसी गतिशील परिर्वतन के भी लाभ की प्राप्ति सम्भव है । अत: लाभ को गतिशील परिर्वतन से सम्बन्धित करना केवल अर्द्ध सत्य है । अधिक से अधिक इतना कहना पर्याप्त होगा कि भविष्य में होने वाले अज्ञात परिवर्तन ही लाभ को सम्भव बना पाते है ।

(4) क्लार्क प्रबन्ध कार्य, संयोजन और जोखिम उठाने के कार्य में कोई भेद नहीं मानते।

(4) लाभ का नव-प्रवर्तन सिद्धान्त (Innovation Theory of Profit)

क्लार्क के विचार से मिलता-जुलता विचार शुम्पीटर का भी है । **शुम्पीटर** के अनुसार गतिशील अर्थव्यवस्था में नव - परिवर्तनों या आविष्कारों (Innovations) के कारण ही लाभ उत्पन्न होता है । इस दृष्टि से ही हम क्लार्क और **शुम्पीटर** के विचारों में काफी सामानता पाते है, क्योंकि **शुम्पीटर** भी नव-परिवर्तनों पर ध्यान देते है और गतिशील परिवर्तनों को स्वीकार करते है; क्योंकि शुम्पीटर ने नव-परिवर्तनों क्लार्क के परिवर्तनों से अधिक व्यापक रूप में प्रयोग किया है। शुम्पीटर के नव- परिवर्तनों से तात्पर्य ऐसे प्ररिवर्तनों से है, जिनमें उत्पादन की क्रिया में परिवर्तन होता है । और उत्पादन व्यय में ह्रास होता है।, जिसके फलस्वरूप लाभ संभव हो पाता है। इस प्रकार वे फ़र्में जो इस नये परिवर्तन को अपने उपयोग में लायेगी, विशेष लाभ प्राप्त कर पायेंगी । नये बाजार में अन्य फर्में प्रतियोगी के रूप में नही पहुँच जाती। रास्ते तथा नये कच्चे मालों कच्चे मालों की खोज एवं उपयोग के कारण भी फार्म को प्रारम्भ में नव-परिवर्तन का लाभ मिलेगा । नव-परिवर्तन के माध्यम से प्राप्त ये सभी लाभ आस्थायी होते है । ऐसे लाभ तभी तक सम्भव है जब तक कि अन्य प्रीतियोगी फर्में उस नव-परिवर्तन का उपयोग नही करती । जैसे ही अन्य फर्में लाभ कि आशा से नयी उत्पादन विधि को अपनाती है, वैसे ही लाभ कि मात्रा कम होने लगती है और लाभ क्रमश: कम होता है।

यदि नव-परिवर्तन का समन्वय एकाधिकार से सम्भव है , तो ताभ लम्बी अवधि तक मिलता रहेगा। नव-परिवन के पेंटेन्ट अधिकार के कारण भी लाभ अधिक समय तक मिलता रहेगा । इस प्रकार नव-परिवर्तन के फलस्वरूप प्राप्त लाभ को हम आंशिक एकाधिकार कि श्रेणी में रख सकते है, क्योकि याहाँ भी प्रारम्भ में नयी विधि को अपनाने वाली फ़र्मों की संख्या अल्प होती है कि लाभ नव-परिवर्तनों का उपयोग या अनुकरण करने के कारण लुप्त हो जाता है।

आलोचनाएँ - शुम्पीटर के विचार कि आलोचना कि जाती है, किन्तु हमें यह ध्यान रखना है कि इन आलोचनाओं का वर्णन क्लार्क के सिद्धान्त के ही अनुरूप है, अर्थात जिन आलोचनाओं का वर्णन क्लार्क के सिद्धान्त के लीए किया गया है, वे आलोचनाएँ इस सिद्धान्त के संबंध में समान रूप से लागू होती है।

(5) लाभ का जोखिम सिद्धान्त (The Risk Theory of Profit)

उधमी का मुख्य कार्य उत्पादन में जोखिम उठाना है । उधमी के इसी जोखिम उठाने के फलस्वरूप **एफ. बी हॉले (F.B.Hawely)** ने इसी विचार का प्रतिपादन किया है । उनके अनुसार, "लाभ जोखिम उठाने का पुरस्कार है । उत्पादन के अन्य सभी साधनों का पुरस्कार है, उत्पादन के अन्य सभी साधोनो का पुरस्कार निश्चित है, क्योंकि लाभ मिले या ना मिले, उत्पादक को अन्य साधनों को पुरस्कार देना ही पड़ेगा ; परन्तु लाभ जो उद्यमी का पुरस्कार है अज्ञात है यह अनिश्चित है । अतः इसकी प्रकृति अवशिष्ट आय के रूप में है ।" स्पष्ट है कि लाभ वह अवशेष राशि है, जिसका पहले से निर्धारण करना संभव नही है तथा इसी आय कि प्राप्ति के लिए उधमी उत्पादन कि क्रिया मे जोखिक उठाने को तैयार होता है उद्यमी कि आय का आधार जोखिम उठाना ही है ।

उत्पादन क्रिया में लगे रहने के लिए यह आवश्यक है कि उधमी को जोखिम उठाने का पुरस्कार मिलता रहे और वह पुरस्कार औसत समान्य प्राप्ति से अधिक होना चाहिए । चूंकि जोखिम उठाना बड़ा ही कष्टप्रद तथा चिन्ता का विषय है, उधमी इसे तब तक उठाने को तैयार नही होंगा, जब तक उसके लिए किसी विशेष पुरस्कार का लालच न हो उत्पादन में लगायी गयी पूँजी पर औसत सामन्य आय ही यथेष्ट नही है बल्कि जोखिम झेलने का पुरस्कार सामन्य से कुछ विशेष होना चाहिए । चूँकि जोखिम उठाना सरल नही है, इसलिए जोखिम उठाने वालों की संख्या बहुत ही कम होती है। प्रतियोगी का क्षेत्र संकीर्ण होने के कारण प्रतियोगीता तीव्र नही होती । एसी दशा में जो उधमी आगे बढ़कर जोखिम का भार उठाता है और उससे अपनी सुरक्षा करता है, वही अत्यधिक लाभ प्राप्त करता है ।

आलोचनाएँ : हॉले के विचार की आलोचना निम्न आधारों पर की जाती है :- (i) लाभ केवल जोखिम उठाने का ही पुरस्कार नही है । यह काहना अतिश्योकती होगा कि सम्पूर्ण पुरस्कार जोखिम उठाने के कारण ही मिलता है । (ii) फिर भी यह ध्यान रखना चाहिए कि लाभ जोखिम मात्र उठाने के कारण ही नही वल्कि इस कारण भी मिलता है कि वह अपनी श्रेष्ठ योग्यता के प्रयत्नों से जोखिम को कम कर देता है जिससे उसे लाभ प्राप्त होता है। उधमी को अपनी कुशलता के कारण बाजार आदि की स्थितियों का पूर्ण ज्ञान रहता है । वह जोखिम कम करने के उपाय करके अन्य उधमी की अपेक्षा विशेष लाभ प्राप्त करता है। अतः हम यह भी कह सकते है कि जोखिम के निराकरण और कम करने कि क्षमता के कारण ही उधमी जी लाभ मिलता है। वह इसलिए लाभ प्राप्त नही करता कि वह उनका भार उठाता है । (iii) वास्तव मे लाभ विभिन्न लागतों के ऊपर बचत (Surplur over Costs) मात्र है और यह सभी प्रकार कि जोखिम के कारण नही मिलता । केवल अज्ञात तथा अनिश्चित जोखिम के कारण ही लाभ उत्पन्न होता है।

(6) लाभ का अनिश्चितता वहन सिद्धान्त (Uncertainty Bearing Theory of Profit)

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन अमेरिका अर्थशास्त्री प्रो. नाइट (Kinght) द्वारा किया गया है। नाइट का विचार है कि लाभ अनिश्चितता वहन करने का पुरस्कार है । लाभ साहसी को जोखिम उठाने के कारण प्राप्त नही होता वल्कि यह उसे अनिश्चितता वाहन करने के बदले में मिलता है और **प्रो. नाइट के अनुसार,** "लाभ बीमा योग्ये जोखिमों अर्थात अनिश्चितता को वहन करने ने पुरस्कार है और लाभ कि मात्रा अनिश्चितता उठाने की मात्रा पर निर्भर करती है।" प्रो. नाइट ने जोखिम उठाने तथा अनिश्चितता वहन करने में अंतर किया है उनके अनुसार सभी प्रकार की जोखिम लाभ उत्पन्न नही करती है। प्रो. नाइट ने जोखिमों को दो भागों में बाँटा है-

(A) बीमा योग्य अथवा ज्ञात जोखिम (Insurable or Known Risks) :- इस प्रकार की जोखिम पहले से ज्ञात रहती है तथा पूर्वानुमान लागाया जा सकता है जैसे अग्निकाण्ड, दुर्घटना, मृत्यु , टुट-फुट आदि कि जोखिमें पहले से ज्ञात होती है, इसलिये इनका बीमा कराया जा सकता है। इन जोखिमों में **अनिश्चितता** का तत्त्व ने होने से कोई लाभ

उत्पन्न नही होता है, अर्थात साहसी को इन जोखिमों के बदले में लाभ में कोई लाभ नही मिलता है।

(B) गैर-बीमा योग्य अथवा अज्ञात जोखिम (Uninsurable or Unknown Riske):- इन जोखिमों का पूर्वानुमान नहीं लगाया जा सकता है और ये पहले से ज्ञात नहीं होती हैं अतः इनका बीमा करवाना सम्भव नहीं हैं। ऐसी जोखिमें साहसी को ही वहन करनी होती हैं इन जोखिमों में अनिश्चितता का तत्व होता हैं, इसलिये इनके बदले में प्राप्त प्रतिफल ही साहसी का लाभ होता हैं। प्रमुख गैर-बीमा योग्य जोखिमें निम्नलिखित हैं:-

(1) प्रतिस्पर्धा की जोखिमें (Competition Risk) - यदि किसी उद्योग में कुछ नयी फर्में प्रवेश करने से प्रतियोगिता बढ़ जाती है, तो फर्म का लाभ कम हो जाता है । प्रतियोगी फर्मों के व्यवहार में अनिश्चितता के कारण इसका बीमा करवाना संभव नहीं होता है ।

(2) तकनीकी जोखिमें (Technical Risk) - आधुनिक युग में निरन्तर तकनीकी परिवर्तन हो रहे हैं इनके परिणामस्वरूप पुरानी मशीनें व तकनीकी बेकार हो जाती है । अत: आधुनिक मशीनों के प्रचलन एवं पुरानी मशीनों के अप्रचलन से फर्म को हानि हो सकती है ।

(3) सरकारी प्रतिबन्धों की जोखिमें (Risk Related to Govt. Control) :- व्यवसाय में सरकारी हस्तक्षेप के बाद सरकारी प्रतिबन्धों जैसे मूल्य निर्धारण, लाभ निर्धारण, उत्पादन निर्धारण, न्यूनतम वेतन आदि की जोखिमें बनी रहती है ।

(4) व्यापार चक्र की जोखिमें (Trade Cycles Risks) :- अर्थव्यवस्था में तेजी-मन्दी का दौर चलाता रहता है, अत: फर्म को अनिश्चितता का सामना करना पड़ता है ।

(5) उपभोक्ताओं व्यवहार में परिवर्तन की जोखिमें (Risk Related Change in Consumer's Behaviour) :- आधुनिक युग में उपभोक्ताओं की रूचि, आवश्यकता आदि में फैशन के अनुसार निरन्तर परिवर्तन होते रहते है । उत्पादन द्वारा उत्पादित वस्तु की माँग में कमी होने पर उसे हानि उठानी पड़ सकती है ।

इन जोखिमों का पूर्वानुमान सम्भव न होने के कारण इनका बीमा नहीं कराया जा सकता । न ही इनकी सांख्यिकी माप सम्भव है । उद्यमी को ऐसी जोखिमों को वहन करने के लिए 'लाभ' प्राप्त होता है । अनिश्चितताओं का स्तर जितना अधिक होगा, लाभ भी उतना ही अधिक होगा ।

आलोनाएँ - इस सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनाएँ निम्न हैं :-

(1) लाभ केवल अनिश्चितता का पुरस्कार नहीं (Profit is not only the Reward of Uncertainly) उद्यमी अनिश्चितता वहन करने के अतिरिक्त अन्य कार्य भी करता है, जैसे योजना बनाना, निर्णय लेना, व्यवस्था करना, नर्वप्रवर्तन करना आदि । अत: लाभ केवल अनिश्चितता का पुरस्कार ही नहीं है बल्कि इन सब कार्यो का सम्मिलित पुरस्कार है ।

(2) अनिश्चितता को पृथक् साधन मानना अनुचित (Uncertainly Bearing is not a Seperate Factor of Production) :- अनिश्चितता को उत्पादन का एक पृथक् साधन नहीं माना जा सकता है । अत: यह कहना उचित नहीं है कि लाभ अनिश्चितता वहन करने का पुरस्कार है । अनिश्चितता वहन करना साहसी के बहुत से कार्यों में से केवल एक कार्य है ।

(3) अनिश्चितता की सही माप नहीं (Exact Measurement of Uncertainly is not Possible) :- अनिश्चितता तत्वों को सांख्यिकी विधि द्वारा मापना असम्भव है । अत: इसके आधार पर लाभ का निर्धारण नहीं किया जा सकता है ।

(4) एकाधिकारी लाभ की व्याख्या नहीं (It is not Explain Monopolistic Profit) :- यह सिद्धान्त इस बात की व्याख्या करने में असफल रहा है कि एकाधिकार फर्म प्रतियोगी फर्म से अधिक लाभ क्यों कमाती हैं ।

(5) संयुक्त स्कन्ध कम्पनियों पर लागू नहीं (Not Applicable on Joint Stock Companies) :- संयुक्त स्कन्ध कम्पनियों में साहसी का कार्य अंशधारियों, संचालकों तथा प्रबन्धकों में बँटा रहता है । अत: यह पता लगाना कठिन है कि इनमें कौन कितनी जोखिम वहन करता है ।

(7) लाभ का मजदूरी सिद्धान्त (Wages Theory of Profit)

टाउसिंग (Tausing) तथा डेवनपोर्ट (Devenport) इस सिद्धान्त के मुख्य समर्थक हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार लाभ मजदूरी का ही एक रूप है, लाभ केवल संयोग के कारण नहीं होता है । लाभ तथा निरन्तर सफलता के लिए कुछ विशेष गुणों जैसे संगठन की कुशलता और योग्यता, जोखिमों का सामना करने की निपुणता इत्यादि की आवश्यकता है । अत: लाभ इन गुणों की मजदूरी है । लाभ के मजदूरी के विशिष्ट रूप होने के कारण इस प्रकार हैं :- (अ) साहसी का कार्य श्रम का ही रूप है, (ब) प्राय: वेतन प्राप्त करने वाले मेनेजर, निरीक्षक इत्यादि स्वतंत्र व्यवसायी या साहसी में परिवर्तित हो जाते हैं । इससे इन लोगों के श्रम में कोई अन्तर नहीं है और साहसी के श्रम का पुरस्कार अर्थात् लाभ मजदूरी का ही एक रूप है ।

लाभ के मजदूरी सिद्धान्त की आलोचना (Criticism)

हालांकि यह सिद्धान्त लाभ के स्वभाव तथा लाभ के औचित्य पर प्रकाश डालता है; परन्तु यह दोषपूर्ण है । इस सिद्धान्त का मुख्य दोष यह है कि लाभ तथा मजदूरी के वास्तविक अन्तर पर ध्यान नहीं देता है, इसी कारण इस सिद्धान्त की आलोचना होती है ।

(8) लाभ का समाजवादी सिद्धान्त (The Socialistic Theory of Profit)

इस सिद्धान्त के प्रतिपादक कार्ल मार्क्स (Karl Marx) हैं । इनके अनुसार किसी वस्तु का मूल्य उसमें लगायें गये श्रम द्वारा निर्धारित होता है । पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में श्रमिकों द्वारा उत्पादित मूल्य का एक बहुत थोड़ा भाग श्रमिकों को उनके पुरस्कार के रूप में दिया जाता है और उसका अधिकांश भाग, जिसकों कार्ल मार्क्स ने अतिरिक्त

मूल्य(Surplus Value) कहा है, पूँजीपति लाभ के रूप में स्वयं हड़प कर जाते हैं । इस प्रकार इस सिद्धान्त के अनुसार लाभ प्राप्त होने का मुख्य कारण श्रमिकों का शोषण है अर्थात् साहसी द्वारा श्रमिकों के पुरस्कार का अपहरण है । मार्क्स ने इसे कानूनी डाका(Legalized Robbery) कहा है । अत: मार्क्स ने लाभ को समाप्त करने का सुझाव दिया, क्योंकि इसके कारण श्रमिकों का शोषण होता है ।

आलोचना :-

(1) लाभ श्रमिकों के शोषण का परिणाम नहीं होता है । लाभ साहसी की योग्यता पर निर्भर करता है, क्योंकि यह उसकी जोखिम का पुरस्कार है ।

(2) वस्तु के मूल्य का एकमात्र कारण श्रम नहीं होता । उत्पत्ति के अन्य साधन (पूँजी, प्रबन्ध साहसी आदि) भी वस्तु के उत्पादन में महत्वपूर्ण सहयोग देते हैं ।

(9) लाभ का माँग और पूर्ति सिद्धान्त (Demand and Supply Theory of Profit)

लाभ निर्धारण का यह आधुनिक सिद्धान्त है । जिस प्रकार किसी वस्तु का मूल्य सकी माँग और पूर्ति की शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है, उसी प्रकार साहसी का मूल्य अर्थात् लाभ' भी उसकी माँग-पूर्ति की शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है । जहाँ साहसी की माँग व पूर्ति की शक्तियाँ समान होती है, वहाँ साहसी की कीमत का (सामान्य लाभ) निर्धारण होता है । सामान्य लाभ साहसी की 'हस्तान्तरण आय' या 'अवसर लागत है ।

साहसी की माँग (Demand of Entrepreneurship)

साहसी की माँग उसकी सीमान्त आगम उत्पादकता (MRP) पर निभर होती है । यदि साहसी की सीमान्त आगम उत्पादकता अधिक है तो साहसी की माँग भी अधिक होगी तथा माँग अधिक होने पर उसकी कीमत (लाभ) भी अधिक होगी । इसके विपरीत सीमान्त आगम उत्पादकता कम होने से साहसी की माँग व कीमत कम होगी । लेकिन साहसी की सीमान्त आगम उत्पादकता ज्ञात करना सरल नहीं है । उत्पादन के अन्य साधनों की सीमान्त उत्पादकता तो ज्ञात की जा सकती है; लेकिन एक उद्योग में जब उद्योग एक ही साहसी (एकाधिकार की स्थिति में) काम करता है, तो उसकी सीमान्त उत्पादकता ज्ञात करना कठिन होगा । यदि हम सम्पूर्ण उद्योग के सन्दर्भ में देखें तो (एकाधिकार को छोड़कर) अन्य स्थितियों में साहसी की सीमान्त आगम उत्पादकता ज्ञात की जा सकती है । जब एक उद्योग में अनेक फर्में कार्य करती हैं अर्थात् अनेक साहसी हैं तो साहसियों अर्थात् फर्मों की संख्या में वृद्धि के साथ ही साहसी की सीमान्त आगम उत्पादकता कम होती जाती है । दूसरे शब्दों में साहसी का सीमान्त आगम उत्पादकता वक्र बायें से दायें नीचे को गिरता

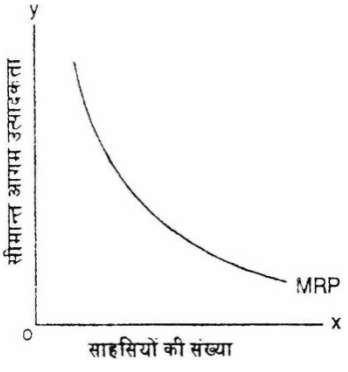

रेखाचित्र 13.2

हुआ होता है । रेखाचित्र **13.2** में साहसी का सीमान्त आगम उत्पादकता वक्र दिखाया गया है चित्र में OX अक्ष पर साहसियों की संख्या OY अक्ष पर सीमान्त आगम उत्पादकता को बताया गया है । MRP वक्र साहसियों की सीमान्त उत्पादकता को बताता है । इसे साहसी का माँग वक्र भी कह सकते हैं । साहसियों की संख्या में वृद्धि के साथ सीमान्त आगम उत्पादकता कम होती जाती है ।

साहसी की पूर्ति (Supply of Entrepreneurship) '

(9) साहसी की पूर्ति उद्योग में लाभ की दर पर निर्भर करती है । यदि किसी उद्योग में लाभ की दर अधिक है, तो साहसियों कि पूर्ति बढ़ जायेगी । इसके विपरीत लाभ की दर कम होने पर साहसियों की पूर्ति भी घट जायेगी । इस प्रकार लाभ की दर व साहसियों की पूर्ति । में सीधा धनात्मक सम्बन्ध हैं ।

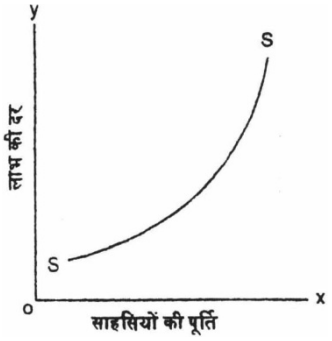

रेखाचित्र 13.3

रेखाचित्र **13.3** में साहसियों की पूर्ति रेखा को बताया गया है । चित्र में OX अक्ष पर साहसियों की पूर्ति तथा OY अक्ष पर लाभ की दर साहसियों की पूर्ति को बताया गया है । SS साहसियों का पूर्ति वक्र है जो बायें से दायें ऊपर को उठ रहा है, इसका तात्पर्य यह है कि लाभ की दर में वृद्धि के साथ साहसियों की पूर्ति बढ़ती जाती है । तथा लाभ की दर में कमी के साथ ही साहसियों की पूर्ति घटने लगती है । किसी भी उद्योग में साहसियों की पूर्ति लाभ की दर के अतिरिक्त कुछ अन्य कारणों से भी प्रभावित होती है, जैसे समाज की दशा, साहसियों की संख्या, पूँजी की उपलब्धि आय का वितरण, व्यवसाय में जोखिम आदि ।

साम्यावस्था में सामान्य लाभ का निर्धारण (Equilibrium)

सामान्य लाभ का निर्धारण पूर्ण प्रतियोगिता व अपूर्ण प्रतियोगिता दोनों में किया जाता है ।

(अ) पूर्ण प्रतियोगिता :- पूर्ण प्रतियोगिता में साहसी की कीमत (सामान्य लाभ) का निर्धारण उस बिन्दु पर होता है, जहाँ साहसी की माँग व पूर्ति कि शक्तियाँ साम्यावस्था में होती है, इसे रेखाचित्र 13.4 में दिखाया गया है । चित्र में DD साहसी की माँग वक्र तथा SS पूर्ति वक्र है जो E बिन्दु पर साम्य की अवस्था में है । उस बिन्दु पर साहसी की माँग व पूर्ति OQ है जो समान हैं । अत: साहसी थे की कीमत OR (सामान्य लाभ) निर्धारित होगी । इसे RR

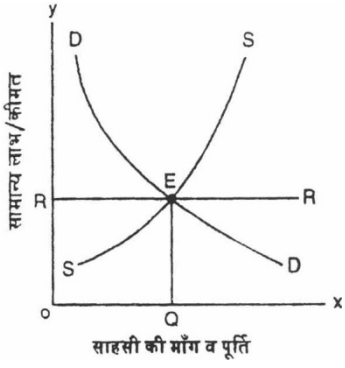

रेखाचित्र 13.4

रेखा द्वारा दिखाया गया है । पूर्ण प्रतियोगिता में प्रत्येक साहसी इस सामान्य लाभ को स्वीकार करेगा ।

(ब) अपूर्ण प्रतियोगिता :- अपुर्ण प्रतियोगिता में साहसी अल्पकाल व दीर्घकाल दोनों में असामान्य लाभ प्राप्त करता है, अर्थात यह अपनी वस्तु को औसत लागत (AC) से अधिक मूल्य पर बेचेगा । इस प्रकार वह सामान्य से अधिक लाभ कमायेगा, क्योंकि अपूर्ण प्रतियोगिता में एकाधिकारी तत्त्व विद्यमान है, अत: साहसी उसका लाभ उठायेगा । अपूर्ण प्रतियोगिता में कीमत रेखा (साहसी की पूर्ति रेखा) ऊपर बढती हुई होगी अर्थात् लाभ की दर में वृद्धि से साहसी की पूर्ति चढ़ेगी । इसे रेखाचित्र **13.5** में दिखाया गया है । चित्र में DD साहसी की माँग रेखा तथा SS साहसी की पूर्ति रेखा है जो E बिन्दु पर साम्य में है । इस बिन्दु पर साहसी की माँग व पूर्ति OQ समन EQ है तथा कीमत EQ या RO निर्धारित होती है, यही साहसी का रेखाचित्र 13.5 लाभ है । इस प्रकार साहसियों को OQER के बराबर लाभ मिलता है, इसमें से OQES लाभ सामान्य लाभ है तथा SER क्षेत्र के बराबर लाभ असामान्य लाभ है, इस प्रकार साहसी को असामान्य लाभ प्राप्त होता है ।

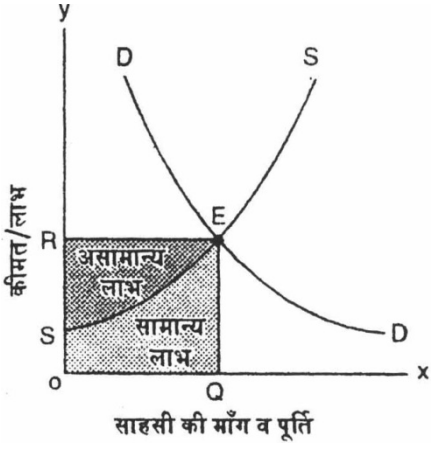

रेखाचित्र 13.5

13.6 लाभ का औचित्व (Justification of Profits)

पूँजीवादी व समाजवादी दोनों ही अर्थव्यवस्थाओं में लाभ की भूमिका महत्त्वपूर्ण है । यद्यपि लाभ कमाना आवश्यक है किन्तु असीमित मात्रा में लाभ कमाने को औचित्यपूर्ण नहीं माना जा सकता । समाजवादी विचारक तो लाभ को अवांछनीय मानते है । कार्ल मार्क्स ने तो लाभ को श्रम', के शोषण व कानूनी डाके की संज्ञा दी है । लाभ की भूमिका का दोनों ही प्रकार की अर्थव्यवस्था में निम्न प्रकार से वि'लेशण किया जा सकता है ।

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में लाभ का औचित्य (Justification Of Profit in a Captilistic Economy)

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में लाभ को निम्न कारणों से उचित माना गया है :-

(i) आर्थिक विकास के लिए प्रर्याप्त निवेश आवश्यक है । लाभ कमाना इसलिए भी आवश्यक है ताकि उद्योग वित्तीय –ष्टि से आत्मनिर्भर हो ।

(ii) प्रतियोगी फर्मों को अपनी नीतियों में सामंजस्य लाने हेतु भी लाभ प्राप्त करना आवश्यक होता है ।

(iii) उद्यमकर्त्ता लाभ प्राप्ति की प्रेरणा से ही अर्थव्यवस्था में नयी-नयी तकनीक व नव प्रवर्तन के कार्य सम्पादित करता है । यही कारण है कि हानि में चलने वाले उद्योगों का पतन शीघ्र हो जाता है ।

(iv) फर्मों को अधिकाधिक लाभ प्राप्त होने से नई फर्मों को उद्योग में प्रवेश की 'प्रेरणा मिलती है, जिससे औद्योगीकरण को बढ़ावा मिलता है ।

(v) राष्ट्रीय साधनों का संरक्षण व विदोहन भी लाभ प्राप्ति से ही सम्भव है ।

(vi) लाभ की भिन्नता विभिन्न उद्योगों में उत्पादन साधनों के वितरण का कार्य करती हैं ।

(vii) लाभ प्राप्त करने वाले उद्यम को ही सामाजिक कल्याण से सम्बन्धित कार्यों की लागत वहन करनी पड़ती है, जैसे शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, बेरोजगारी भत्ता, वृद्धावस्था पेंशन, रक्षा तथा सार्वजनिक प्रशासन आदि ।

समाजवादी अर्थव्यवस्था में लाभ का औचित्य (Justification of Profit in a Socialistic Economy)

लाभ को समाजवादी अर्थव्यवस्था में भी उचित माना जाता है । समाजवादी विचारकों का मानना है कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में लाभ उद्यमकर्त्ता की एकाधिकात्मक प्रवृत्तियों के क़ारण उत्पन्न होता है । समाजवादी अर्थव्यवस्था में लाभ का औचित्य निम्न बिन्दुओं से स्पष्ट हो जाता है :-

(i) उद्योगों में नव-प्रवर्तन की प्रेरणा लाभ द्वारा ही प्राप्त हो सकती है ।

(ii) कुशल प्रबन्धकों को प्रेरित करना भी लाभ प्राप्ति द्वारा ही सम्भव है ।

(iii) सामाजिक कलयाण से सम्बन्धित कार्य भी लाभ की उत्पत्ति द्वारा ही सम्पादित किये जा सकते है ।

(iv) विभिन्न उद्योगों की कार्यकुशलता का मापन भी सरकार लाभ के आधार पर ही कर सकती है ।

उपर्युक्त वि'लेषण के आधार पर हम कह सकते है कि समस्त अर्थव्यवस्थाओं में लाभ औचित्यपूर्ण है । लाभ औचित्यपूर्ण होने से आश्य यह नहीं है कि साहसी असीमित लाभ अर्जित कर उपभोक्ताओं का शोषण करें । अत: सरकार को लाभ का एक उचित स्तर निर्धारित कर देना चाहिए, ताकि उपभोक्ता का कम से कम शोषण हो ।

13.7 लाभ-नीति (Profit Policy)

व्यावसायिक फर्मों के उद्देश्यों में सबसे महत्त्वपूर्ण उद्देश्य लाभ कमाना होता है । एक व्यावसायिक फर्म की सफलता एवं कार्यकुशलता उसके लाभ की मात्रा से मापी जा सकती है । अर्थशास्त्र के विनियम एवं वितरण के सभी सिद्धान्त अधिकतम लाभ कमाने की मान्यता पर आधारित है; किन्तु कुछ प्रबन्धकीय अर्थशास्त्रियों की मान्यता है कि फर्म का उद्देश्य सदैव अधिकतम लाभ कमाना नहीं होता है । कुछ परिस्थितियों में फर्म के लिए संतोषप्रद लाभ प्राप्त करना भी उपयुक्त होता है ।

'अधिकतम लाभ' नीति (Profit Maximisation Policy)

लाभ उद्यमियों के लिए प्रेरणा का स्त्रोत होता है तथा लाभ की प्रेरणा से ही उद्यमी पूँजी लगाने, जोखिम उठाने तथा अधिक लगन व परिश्रम से कार्य करने को तत्पर होता है । किसी भी व्यावसायिक फर्म का उद्देश्य अपने कुल लाभ को अधिकतम करना होता है । अत: एक फर्म उस स्थिति में अधिकतम लाभ अर्जित करती है जब वह साम्य की स्थिति में होती है । साम्य की स्थिति वह अवस्था होती है, जहाँ फर्म को अपनी उतपादन मात्रा व मूल्यों में परिवर्तन की कोई आवश्यकता अनुभव नहीं होती, अर्थात वह उसी स्थिति में बनी रहना चाहती है ।

लाभ अधिकतम करने की नीति की आलोचनाएँ (Criticisms of the Policy of Masimisation of Profit)

अधिकतम लाभ नीति की निम्न आधारों पर आलोचना की गयी है :-

(1) अस्पष्ट नीति (It is Vague) :- लाभ को अधिकतम करने की नीति एक सामान्य उद्यमी की समझ से परे हैं, अर्थात् उद्यमी यह नहीं समझ पाता है कि वह सकल लाभ को अधिकतम करें या शुद्ध लाभ को, अल्पकालीन लाभ को अधिकतमकरे या दीर्घलाभ को । लाभ की यह नीति स्पष्ट न होने से वह समझ नहीं पाते कि उत्पादन किस स्तर तक करे जिससे उस अधिकतम लाभ प्राप्त हो ।

(2) जोखिमों की उपेक्षा (It Ignores Risks) :- जिस उद्यम में जितना अधिक लाभ होता है, उस उद्यम में जोखिम की संभावना भी उतनी ही अधिक होती है । प्राय: सभी उद्यमों में समय-समय पर निर्णय लिये जाते हैं । कुछ निर्णयों से लाभ एवं जोखिम दोनों ही कम हो सकते हैं । तथा कुछ निर्णयों से दोनों ही अधिक हो सकते हैं । अत: व्यवसाय में लाभ की अधिकता की तुलना जोखिम की अधिकता से करनी चाहिये, क्योंकि व्यवसाय में जोखिम व लाभ दोनों साथ-साथ चलते है; किन्तु अधिकतम लाभ का सिद्धान्त जोखिम की उपेक्षा कर जाता है ।

(3) मुद्रा के समय मूल्य की अपेक्षा (It Ignores Time Value of Money):- मुद्रा की उपयोगिता सभी समय एक-समान नहीं होती है । आज प्राप्त होने वाला एक रुपया एक साल बाद प्राप्त होने वाले एक रुपये से अधिक मूल्यवान होता है; किन्तु अधिकतम लाभ का सिद्धान्त मुद्रा के समय मूल्य की उपेक्षा करता है । लाभ को कितने समय में अधिकतम किया जाये ' यह सिद्धान्त इस तत्त्व को भुला देता है । अत: मुद्रा के एक साल पहले के मूल्य व वर्तमान मूल्य को समान बनाने के लिए हमें एक उपयुक्त बट्टा दर से बट्टा करके मूल्य आँक लेना चाहिए ।

उपर्युक्त कमियों के कारण अधिकतम लाभ की नीति को आजकल अव्यावहारिक माना जाता है ।

'संतोषप्रद लाभ' नीति (Satisficing or Reasonable Profit Policy)

व्यवहार में लाभ की संतोषप्रद नीति व्यवसायी को दीर्घकाल तक व्यवसाय में संलग्न रहने की प्रेरणा देती है । ऐसी फर्म प्रतियोगिता की स्थिति में बनी रहती है तथा अपने दायित्वों का समय पर कुशलता पूर्वक भुगतान कर सकती है ।

व्यावसायिक फर्मों द्वारा अधिकतम लाभ नीति के स्थान पर संतोषप्रद लाभ की नीति को अपनाये जाने के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं :-

(1) फर्म की ख्याति बनाये रखना (Maintaining Firm's Goodwill)- लाभ की संतोषप्रद नीति दीर्घकाल तक फर्म की ख्याति बनाये रख सकती है । प्राय: उपभोक्ता उसी फर्म से संतुष्ट रहते हैं, जो बार-बार वस्तुओं के मूल्यों में फेर-बदल नहीं करती हैं। कुछ फर्में लागतों में वृद्धि होने पर भी मूल्यों में परिवर्तन नहीं करती चाहे उन्हें लागत के बराबर ही मूल्य क्यों न मिले । दूसरी ओर कुछ फर्में अधिकतम लाभ कमाने के उद्देश्य से बाजार की नाजुक परिस्थितियों का फायदा उठाती हैं । वे शीघ्र ही बाजार से गायब हो जाती हैं । अत: आजकल अनेक फर्मों ने उपभोक्ताओं का विश्वास जीतने के लिये संतोषप्रद लाभ नीति को अपनाना ही उचित समझा है ।

(2) भावी प्रतियोगिता से बचना (To Avoid Potential Competition) :- कुछ व्यवसायी अधिकतम लाभ के उद्देश्य से उत्पादन करते हैं, तो उनके द्वारा अर्जित असामान्य लाभ को देखकर नयी फर्में भी उद्योग की ओर आकर्षित होती है । इससे बाजार में प्रतिस्पर्धा बढ़ती है । ऐसी नवीन फर्में कुछ नयी वस्तुओं का विकास कर सकती है । व्यावसायिक नियमों का उल्लंघन करके वस्तु की डिजाइन की नकल कर लेती हैं । अत: इन सभी भावी प्रतियोगी सम्भावनाओं से बचने के लिये व्यवसायी अधिकतम लाभ की नीति के स्थान पर संतोषप्रद लाभ नीति का अनुसरण करने लगे हैं।

(3) उद्योग में नेतृत्व प्राप्त करना (To Achive Leadership in Industry) :- अनेक फर्में उद्योग में नेतृत्व प्राप्त करने अथवा उसे बनाये रखने के लिए कम से कम कीमत पर अधिकतम विक्रय करना चाहती हैं । अत: उद्योग में नेतृत्व के लिए फर्में सन्तोषप्रद लाभ नीति को अपनाते हुये कम मूल्य पर वस्तुएँ बेचती है ।

(4) सम्भावित सरकारी हस्तक्षेप को रोकना (To Check Possible Govt. Intervention):- अनेक बार एकाधिकारी फर्में अपनी वस्तु का उपभोक्ताओं से बहुत अधिक मूल्य वसूल करके अधिकतम लाभ अर्जित करना चाहती हैं; किन्तु सरकार को उपभोक्ताओं के शोषण से बचाने के लिये इनकी क्रियाओं में हस्तक्षेप करना पड़ता है । अत: ऐसी एकाधिकरी फर्में सरकारी हस्तक्षेप के भय से संतोषप्रद लाभ की नीति अपनाने में विश्वास करती है ।

(5) जोखिम को कम करना (To Avoid Risk)- अधिकतम लाभ नीति में सदैव जोखिम व अनिश्चितता का तत्त्व विद्यमान रहता है । प्राय: पेशेवर प्रबन्धक ऐसे विनियोग को जो जोखिम व अनिश्चिता से परिपूर्ण हो, कम पसन्द करते हैं । ऐसी स्थिति में वे अधिकतम लाभ नीति के स्थान पर संतोषप्रद लाभ नीति अपनाने में अधिक विश्वास करते हैं ।

(6) मजदूरी वृद्धि की माँग को नियन्त्रित करना (To Check Demand for more wages):- जब फर्म अधिकतम लाभ कमाती है, तो फर्म के मजदूर भी अधिक बोनस

व मजदूरी वृद्धि की माँग करते हैं । अत: बहुत-सी फर्में मजदूरों व श्रम संघों द्वारा की जाने वाली संभावित असहयोग व हड़तालो दृष्टिकोण से बचने के लिये अधिकमत लाभ नीति के स्थान संतोषप्रद लाभ नीति को अपनाती है ।

(7) फर्म की तरलता में वृद्धि (To Increase Liquidity of the firm):- अधिकांश प्रबन्धक अधिक लाभ नीति के स्थान पर तरलता को अधिक महत्त्व देते हैं, क्योंकि फर्म को लाभ अधिकतम करने के लिये बहुत बड़ी मात्रा में विनियोजन करना पड़ता है, इससे फर्म की तरलता में कमी आती है । अत: फर्म की तरलता में वृद्धि के लिये भी कुछ फर्में संतोषप्रद लाभ नीति को अपनाती हैं ।

(8) उचित लाभ नीति एक सामाजिक दायित्व (Fair Profit a Social Obligation):- उपभोक्ताओं को उचित मूल्य पर वस्तु उपलब्ध कराना एक अच्छी फर्म का मुख्य उद्देश्य होना चाहिये तथा लाभ कमाना दूसरा उद्देश्य । फर्म समाज की सेवा उपभोक्ता को उचित मूल्य पर अच्छी वस्तु उपलब्ध कराकर ही कर सकती है । अत: फर्में सामाजिक कल्याण को ध्यान में रखते हुये संतोषप्रद लाभ की नीति को अपनाती है ।

13.8 सारांश

उत्पादन के पाँच साधनों में साहसी उत्पादन का प्रमुख साधन है । यह सभी साधनों का संयोजन कर उत्पादन करता है तथा जोखिम व अनिश्चितता वहन करता है । अत: इन कार्यों के बदले साहसी को जो पारितोषिक मिलता है वह लाभ कहलाता है । सम्पूर्ण आय में से सम्पूर्ण आय घटाने के बाद जो अधिशेष रह जाता है वह 'लाभ' कहलाता है। अनेक बार आय कम होने व व्यय अधिक होने पर साहसी को लाभ के स्थान पर हानि भी वहन करनी होती है । अत: लाभ ऋणात्मक भी होता है तथा इसकी मात्रा का पूर्व निर्धारण नहीं किया जा सकता है । आर्थिक लाभ में साहसी द्वारा जोखिम वहन करने, साधनों का समन्वय करने तथा नव-प्रवर्तन करने का पुरस्कार शामिल किया जाता है । कुछ लाभ में आर्थिक लाभ (शुद्ध लाभ) के अतिरिक्त साहसी के स्वयं के साधनों का पुरस्कार, घिसावट व्यय, बीमा प्रकार तथा अव्यक्तिगत लाभ आदि को भी शामिल किया जाता है । लाभ निर्धारण के अनेक सिद्धान्त है जिनमें सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त, लगान सिद्धान्त, गत्यात्मक सिद्धान्त नव-प्रवर्तन सिद्धान्त, अनिश्चितता वहन सिद्धान्त, मजदूरी सिद्धान्त, समाजवादी सिद्धान्त एवं लाभ का माँग-पूर्ति सिद्धान्त प्रमुख हैं । पूँजीवादी एवं समाजवादी अर्थव्यवस्थाओं में अनेक कारणों से लाभांजन का औचित्य सिद्ध होता है । लाभ नीति में अधिकतम लाभ नीति व संतोषप्रद लाभ नीति प्रमुख हैं ।

13.9 पारिभाषिक शब्दावली

लाभ :- लाभ साहसी के कार्य का प्रतिफल है अथवा यह जोखिम, अनिश्चतता तथा नव प्रवर्तन के लिए किया जाने वाला भुगतान है ।

स्पष्ट लागतें :- जब साहसी साधनों का पुरस्कार बाहरी व्यक्तियों को चुकाता है तो उन्हें स्पष्ट लागतें कहते है ।

अस्पष्ट लागतें :- जब साहसी स्वयं के साधन प्रयोग में लाता है तो इनका पुरस्कार किसी बाहरी व्यक्ति को नही चुकाना पड़ता है, ऐसे लागतें अस्पष्ट लागतें कहलाती है।

कुल लाभ अथवा सकल लाभ :- शुद्ध लाभ+ साहसी के स्वयं के साधनों का पुरस्कार + घिसावट व्यय + बीमा प्रभार + व्यक्तिगत लाभ ।

शुद्ध लाभ अथवा वास्तविक लाभ :- कुल आय - (साहसी के स्वयं के साधनों का पुरस्कार + घिसावट व्यय बीमा प्रचार + व्यक्तिगत लाभ)

13.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. लाभ किसे कहते है ?
2. आर्थिक लाभ से क्या अभिप्राय है ?
3. कुल लाभ किसे कहते हैं ?
4. व्यावसायिक लाभ तथा आर्थिक लाभ में अन्तर बताइये ।
5. लाभ के जोखिम सिद्धान्तों को समझाइये ।
6. साहसी की माँग व पूर्ति को समझाइए ।
7. समाजवादी अर्थव्यवस्था में लाभ का औचित्य सिद्ध कीजिए ।
8. सकल, शुद्ध व सामान्य लाभ की अवधारणाओं को स्पष्ट कीजिए ।
9. -लाभ का आधुनिक सिद्धान्त उत्पादन प्रक्रिया में साहसी का यह योगदान बताता है कि वह अयोग्य जोखिमों तथा अनिश्चितताओं को वहन करता है । इस कथन की व्याख्या कीजिए ।
10. लाभ की परिभाषा दीजिए तथा लाभ के विभिन्न सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिए ।
11. लाभ के विभिन्न सिद्धान्तों का उल्लेख कीजिए तथा निम्नलिखित सिद्धान्तों की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए - (i) लाभ का नव-प्रवर्तन सिद्धान्त व (ii) लाभ का जोखिम सिद्धान्त ।
12. एक फर्म की लाह नीति क्या होनी चाहिए ? अधिकतम लाभ नीति एवं सन्तोषप्रद नीति में आप किसे अच्छा मानेंगे ?

13.11 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. V.K Mankar, Business Economics, Himalaya Publishing House, Bombay and Delhi.
2. Dr. D.M. Mithani & V.S.R. Murthy, Fundamentals of Business Economics, Himalaya Publishing House, Dehli.
3. Dr. C.S. Barla, Managerial Economics, Malik & Company, Delhi, Jaipur.

4. M.L. Seth, Micro Economics.
5. Mishra and Puri, Business Economics, Himalaya Publishing House, Dehli.
6. Agarwal and Somdeo, Business Economics, RBD, Jaipur.
7. एच.एल. आहूजा, एस. चान्द, व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण ।
8. एम.एल. झिंगन, समष्टि अर्थशास्त्र, Vrinda publication Delhi.
9. एम.सी. वैश्य, समष्टि अर्थशास्त्र, मलिक एण्ड कम्पनी, जयपुर ।

इकाई -14: राष्ट्रीय आय : संगणना (National Income: Measurement)

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

14.1 राष्ट्रीय आय का अर्थ एवं परिभाषा

14.2 राष्ट्रीय आय की प्रमुख अवधारणाएँ

14.3 राष्ट्रीय आय की संगणना

14.4 राष्ट्रीय आय वि'लेषण का महत्त्व

14.5 राष्ट्रीय आय की गणना में कठिनाइयाँ

14.6 राष्ट्रीय आय की गणना के दोषों को दूर करने के उपाय

14.7 राष्ट्रीय आय तथा आर्थिक कल्याण में सम्बन्ध

14.8 सारांश

14.9 शब्दावली

14.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

14.11 संदर्भ ग्रंथ

14.0 उद्देश्य

राष्ट्रीय आय की धारणा का समष्टि अर्थशास्त्र के अध्ययन में विशेष महत्त्व है, यह सभी आर्थिक समस्याओं के वि'लेषण में सहायता प्रदान करती है । राष्ट्रीय आय का विचार नया नहीं है । सर्वप्रथम **एडम स्मिथ (Adam Smith)** ने अपनी पुस्तक 'Wealth of Nations' में राष्ट्रीय आय का विचार प्रस्तुत किया, लेकिन इस समय इस धारणा को कोई महत्त्व नहीं दिया गया । आज के युग में राष्ट्रीय आय के अध्ययन का विशेष महत्त्व है, इसके बिना अर्थशास्त्र का अध्ययन अधूरा हैं । आज आर्थिक समस्याओं को व्यापक रूप से देखा जाता है । दो देशों या एक ही देश में विभिन्न समयों पर आर्थिक प्रगति की तुलना करना, दो देशों के जीवन-स्तर की जानकारी प्राप्त करना, देश के आर्थिक विकास का स्तर ज्ञात करना आदि –ष्टियों से राष्ट्रीय आय वि'लेषण अत्यन्त उपयोगी है । इसके अतिरिक्त विभिन्न राजनैतिक, सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओं के निराकरण के लिए राष्ट्रीय आय का अध्ययन उपयोगी है । राष्ट्रीय आय का विचार बीसवीं शताब्दी तक अस्पष्ट रहा: लेकिन वर्तमान में इस विचार की वैज्ञानिक व्याख्या होने लगी है ।

14.1 राष्ट्रीय आय का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of National Income)

राष्ट्रीय आय की परिभाषा के सम्बन्ध में दो –ष्टिकोण हैं । प्रथम प्राचीन –ष्टिकोण तथा दूसरा आधुनिक –ष्टिकोण ।

(अ) प्राचीन दृष्टिकोण (Traditional Approach) :- इस –ष्टिकोण के अनुसार राष्ट्रीय आय को परिभाषित करने वाले अर्थशास्त्रियों में मार्शल, पीगू तथा फिशर के नाम उल्लेखनीय हैं । इनकी तीन विचारधारायें हैं :

(A) मार्शल द्वारा दी गई परिभाषा : मार्शल के अनुसार, "देश के श्रम तथा पूँजी द्वारा प्राकृतिक साधनों के सहयोग से प्रतिवर्ष कुछ भौतिक एवं अभौतिक वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन किया जाता हैं । इनके सबके शुद्ध योग को राष्ट्रीय आय अथवा राष्ट्रीय लांभाश कहते हैं ।

मार्शल के अनुसार राष्ट्रीय आय की गणना करते समय निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखा जाना चाहिए-

(1) सामान्य रूप से राष्ट्रीय आय की गणना वार्षिक आधार पर की जाती है । अर्थात् किसी देश में एक वर्ष में उत्पादित वस्तुओं के योग को कुल राष्ट्रीय आय कहते है ।

(2) शुद्ध राष्ट्रीय आय (Net National Income) ज्ञात करने के लिए कुल आय (Gross National Product) में से कच्चे माल की लागत, मशीन-यन्त्र आदि की का व्यय घटा दिया जाता है ।

(3) विदेशों में लगाई गई पूँजी से प्राप्त होने वाली शुद्ध आय को राष्ट्रीय आय की गणना करते समय जोड़ दिया जाता है ।

(4) व्यक्तिगत अथवा सार्वजनिक सम्पत्ति से प्राप्त लाभ एवं व्यक्तियों द्वारा अपने परिवार के सदस्यों एवं मित्रों की निःशुल्क सेवा के मूल्य को राष्ट्रीय आय में सम्मिलित नहीं किया जाता है ।

इस प्रकार शुद्ध राष्ट्रीय आय (वस्तुओं तथा सेवाओं का कुल वार्षिक उत्पादन +विदेशों से प्राप्त शुद्ध आय)- (कच्चे माल की लागत फ़ मशीन की घिसावट । इस प्रकार मार्शल के अनुसार सम्पूर्ण वार्षिक शुद्ध उत्पादन राष्ट्रीय आय है ।

मार्शल की परिभाषा की आलोचना : मार्शल की परिभाषा में निम्नलिखित दोष -बतायें गये हैं :-

(1) गणना में कठिनाई : किसी भी देश में एक वर्ष में असंख्य वस्तुएँ एवं सवायें उत्पन्न होती है । अत: इनकी ठीक-ठीक गणना करना, अत्यन्त कठिन होती है।

(2) मूल्यांकन में कठिनाई : यदि किसी प्रकार से उत्पादित विभिन्न वस्तुओं और सेवाओं की गणना कर ली जाये, तो उन सबका ठीक-ठीक मूल्य ज्ञात करना

अत्यन्त कठिन होता है, क्योंकि वस्तुएँ व सेवाएँ विभिन्न किस्म व श्रेणी की होती है । ।

(3) गैर विनिमय योग्य वस्तुएँ एवं सेवाएँ : एक राष्ट्र में उत्पादित सभी बाजार में विक्रय के लिए नहीं आती हैं । ऐसी अनेक वस्तुएँ होती है, जिनका अधिकाशं भाग द्वारा ही उपयोग में ले लिया जाता है, जैसे एक किसान द्वारा उत्पादित गेहूँ का एक बड़ा भाग अपने उपभोग के लिए रख लेना तथा शेष भाग का बाजार में विक्रय करना । इस प्रकार गैर-विनिमय योग्य वस्तुओं का मूल्य ज्ञात करना कठिन होता है और वे राष्ट्रीय आय की गणना करते समय छूट जाती है।

(4) दोहरी गणना : राष्ट्रीय आय की गणना करते समय दोहरी गणना की सम्भावना बनी रहती है । दोहरी गणना से अभिप्राय किसी वस्तु या सेवा जैसे कच्चा माल या श्रम आदि को राष्ट्रीय आय की गणना में दो या अधिक बार गिन लिये जाने से है । इस प्रकार की सम्भावना होने से राष्ट्रीय आय, वास्तविक राष्ट्रीय आय की तुलना में अधिक दिखाई देगी । उदाहरण के लिए कच्ची कपास के उत्पादन को कृषि पदार्थों के उत्पादन की गणना करते समय जोड़ लिया जाता है । इस कपास का जब मिल में कपड़ा बनता है । तो इसे औद्योगिक उत्पादन। के रूप में राष्ट्रीय आय में सम्मिलित कर लिया जाता है । इस प्रकार एक ही उत्पादन की दो बार गणना हो जाती

(B) (पीगू की परिभाषा :- प्रो. पीगू के अनुसार "राष्ट्रीय आय किसी देश की वास्तविक आय का, जिसमें विदेशों से प्राप्त आय भी सम्मिलित है, वह भाग है जो मुद्रा द्वारा मापा जा सकता है ।

इस परिभाषा से स्पष्ट है कि **प्रो. पीगू** ने राष्ट्रीय आय में कुल उत्पादन के केवल उस भाग को सम्मिलित किया है, जिसे मुद्रा में मापा जा सकता है । कुल उत्पादन का भाग जिसे मुद्रा में नहीं मापा जा सकता है, राष्ट्रीय आय में सम्मिलित नहीं होगा । डसी उन्होंने विदेशों से प्राप्त शुद्ध आय को भी राष्ट्रीय आय में सम्मिलित किया है प्रो. पीगू, की परिभाषा से दो बातें स्पष्ट होती हैं :-

(1) प्रो. पीगू ने विदेशों से प्राप्त शुद्ध आय को राष्ट्रीय आय में सम्मिलित किया है ।

(2) प्रो. पीगू ने इस बात पर जो दिया है कि राष्ट्रीय आय में केवल उन्हीं वस्तुओं और सेवाओं को शामिल किया जाता है, जिनके बदलें में मुद्रा दी जाती है, अर्थात् जिनकों मुद्रा में मापा जा सकता है ।

वस्तुत: मार्शल तथा पीगू के विचारों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है । पीगू ने राष्ट्रीय आय में केवल उन्ही वस्तुओं तथा सेवाओं को सम्मिलित किया है जिनकों मुद्रा द्वारा मापा जा सकता है अथवा जिनका विनिमय मूल्य ज्ञात किया जा सकता है । उदाहरण के लिए यदि एक किसान अपनी समस्त उपज बाजार में बेच देता है, तो उसकी उपज की कुल कीमत राष्ट्रीय आय में सम्मिलित की जायेगी: परन्तु यदि वह कुछ भाग अपने पास रख लेता है तो अपने पास रखी

हुई उपज की अनुमानित कीमत राष्ट्रीय आय में नहीं जोड़ी जायेगी । इस प्रकार पीगू की परिभाषा ने 'राष्ट्रीय आय' को अत्यन्त ही सीमित कर दिया है ।

भारत जैसे विकासशील देश में यदि पीगू के अनुसार "राष्ट्रीय आय" ज्ञात की जाये तो देश की प्रगति का सही अनुमान नहीं लगाया जा सकता हैं, क्योंकि विकासशील देशों में विशेषत: ग्रामीण क्षेत्रों में, बहुत से लेन-देन वस्तु विनिमय के आधार पर किये जाते हैं तथा अधिकांश ग्रामीण आत्मनिर्भर होते हैं । पीगू ने व्यावहारिकता पर अधिक ध्यान दिया है । उनकी विधि द्वारा राष्ट्रीय आय सरलता से ज्ञात की जा सकती है । मार्शल के समस्त शुद्ध वार्षिक उत्पादन को राष्ट्रीय आय' माना है जबकि पीगू ने कुल वार्षिक उत्पादन के केवल उस भाग को राष्ट्रीय आय माना है जिसे मुद्रा द्वारा मापा जा सकता है तथा जिसका विनिमय मूल्य ज्ञात है इस प्रकार पीगू ने राष्ट्रीय आय को सीमित कर दिया है।

पीगू की परिभाषा की आलोचना :-

(1) विकसित देशों के लिए उपयुक्त :- यह परिभाषा केवल विकसित देशों के लिए उपयुक्त है, अविकसित देशों के लिए नहीं, क्योंकि अविकसित देशों की अर्थव्यवस्था के अनेक क्षेत्रों में वस्तु विनिमय (**Barter System**) रहता है । अत: वस्तुओं और सेवाओं की गणना मुद्रा के माध्यम से न होने से राष्ट्रीय लाभांश में कमी हो जाती है ।

(2) मौद्रिक माप - पीगू ने राष्ट्रीय आय में केवल इन्ही वस्तुओं तथा सेवाओं को शामिल किया है, जिनका मुद्रा में विनिमय होता है । यदि उनका विनिमय मुद्रा में नहीं होता है, तब उन्हें राष्ट्रीय आय में सम्मिलित नहीं करते है, जैसे एक नर्स की सेवाएँ जब वह किसी हॉस्पिटल में बच्चों की देख-रेख का कार्य करती है तो इसकी सेवाओं को राष्ट्रीय आय में शामिल किया जाता है, लेकिन उसका अपने घर पर अपने बच्चों का पालन-पोषण करना, राष्ट्रीय आय में शामिल नहीं होता है ।

(3) सीमितता :- इस परिभाषा के अनुसार राष्ट्रीय आय की ठीक-ठीक गणना करना कठिन है, क्योंकि इसमें केवल मौद्रिक विनिमय योग्य वस्तुओं को ही सम्मिलित किया जायेगा । स्वयं के उपभोग के लिए रखी हुई वस्तुओं एवं वस्तु विनिमय वाली वस्तुओं को राष्ट्रीय आय में सम्मिलित न करने से राष्ट्रीय आय का आकलन अत्यन्त कम होगा ।

(4) फिशर की परिभाषा प्रो. फिशर का विचार **मार्शल** तथा **पीगू** दोनों से भिन्न है । फिशर ने उत्पादन के स्थान पर उपभोग को राष्ट्रीय आय का आधार माना है । फिशर के अनुसार 'राष्ट्रीय आय या लाभांश अन्तिम उपभोक्ताओं को प्राप्त सेवाएँ है चाहे वे सेवाएँ भौतिक या मानवीय परिस्थितियों से प्राप्त हों । इस प्रकार इस वर्ष मेंरे लिए जो पियानों या ओवरकोट बनाया गया है, इस वर्ष की आय का एक भाग नहीं है, बल्कि पूँजी में वृद्धि है । इन वस्तुओं द्वारा इस वर्ष

प्राप्त सेवाएँ ही आय है ।" सैद्धान्तिक दृष्टि से फिशर का विचार सर्वथा उपयुक्त है, परन्तु एक वर्ष में उपभोग की गई वस्तुओं तथा सेवाओं का मूल्यांकन करना अत्यन्त कठिन है । एक ही वस्तु का एक ही व्यक्ति केवल इस वर्ष प्रयोग कर सकता है । और दूसरा पन्द्रह वर्ष तक प्रयोग कर सकता है ।

अत: वस्तुओं के जीवनकाल का पता लगाना अत्यन्त ही कठिन है । वस्तुएँ क्रय-विक्रय द्वारा हस्तांतरित होती रहती है । अत: एक ही वस्तु की गणना कई बार की जा सकती है ।

फिशर की परिभाषा की आलोचनाएँ - यह परिभाषा व्यावहारिक नहीं है, क्योंकि वस्तुओं और सेवाओं को मुद्रा में मापने में बहुत सी कठिनाईयाँ हैं ।

(1) उपभोग की गणना करना उत्यन्त कठिन है : मार्शल की परिभाषा की आलोचना इस आधार पर की जाती है कि समस्त उत्पादन की गणना करना कठिन है, क्योंकि असंख्यक वस्तुओं का उत्पादन होता है । फिशर ने उत्पादन के स्थान पर उपभोग की गणना के आधार पर राष्ट्रीय आय को मापा है । उपभोग की गणना करना उत्पादन से भी कठिन है, क्योंकि उत्पादकों की संख्या तो कम होती है । लेकिन उपभोक्ताओं की संख्या बहुत अधिक होती है ।

(2) टिकाऊ वस्तुओं के जीवन काल के अनुमान में कठिनाई : टिकाऊ उपभोग्य वस्तुओं का प्रयोग कई वर्षो तक होता रहता है । फिशर के अनुसार उस वर्ष के उपभोग को ही राष्ट्रीय आय में सम्मिलित किया जायेगा । अत: पहले यह अनुमान लगाना होगा) कि वस्तु का जीवन काल कितना है, फिर एक वर्ष के उपभोग का अनुमान लगाना होगा, लेकिन वस्तु की जीवनावधि का ठीक-ठीक अनुमान लगाना कठिन होता है, क्योंकि वस्तु का जीवनकाल उसके उपभोग व रख-रखाव पर निर्भर करता है । अत: उसके जीवनकाल का सही अनुमान नहीं लगाया जा सकता है ।

(3) वस्तुओं का हस्तान्तरण : यदि हम किसी प्रकार वस्तु के जीवनकाल का अनुमान लगाकर प्रविषण के उपभोग की गणना भी कर लें, तो भी इसके अनुसार राष्ट्रीय आय की ठीक से गणना करना कठिन होगा, क्योंकि टिकाऊ वस्तुओं का विक्रय होने से वह एक हाथ से दूसरे हाथ में जाती रहती है । अत: इसके जीवन काल की सही जानकारी प्राप्त नहीं होगी, दूसरी ओर विक्रेता उसमें अपने लाभ को सम्मिलित कर वस्तु बेचेगा जो क्रेता के लिए लागत होगा । इस प्रकार उसके वास्तविक मूल्य में लाभ भी सम्मिलित होगा । जिसकों अलग करना सम्भव नहीं होगा । इस प्रकार वस्तुओं का विक्रय होते रहने से उपभोग का सही अनुमान लगाना कठिन होता है ।

(ब) आधुनिक **–**ष्टिकोण **(Modern Definitions)**- आधुनिक परिभाषाओं में साइमन कुजनेट्स की परिभाषा मुख्य हैं ।

साइमन कुजनेट्स ने राष्ट्रीय आय को इस प्रकार परिभाषित क्रिया है, "देश की उत्पादन व्यवस्था से वर्ष भर में प्रवाहित होकर अन्तिम उपभोक्ताओं के में जाने वाली वस्तुओं तथा सेवाओं या देश की पूँजीगत वस्तुओं के स्टॉक में शुद्ध वृद्धि को आय कहते हैं । " फिशर तथा कुजनेट्स दोनों ने ही कुल उत्पादन के उस भाग को राष्ट्रीय आय माना है, जो उपभोक्ताओं के हाथों में जाता है: परन्तु कुजनेट्स ने पूँजीगत माल में हुई वृद्धि को भी राष्ट्रीय आय में सम्मिलित किया है ।

भारत की राष्ट्रीय आय समिति के अनुसार, "राष्ट्रीय आय का अनुमान एक निर्'चत समय में वस्तुओं एवं सेवाओं की बगैर दोहरी गणना किये हुए माप है।"

परिभाषाओं की परस्पर उपयुक्तता (Relative Suitaility of Definitions)

यह बताना कठिन है कि कौन-सी परिभाषा श्रेष्ठ है, क्यों कोई भी परिभाषा पूर्ण नहीं है। प्रत्येक के अपने-अपने गुण व दोष है । इस प्रशन का उत्तर इस बात पर निर्भर है कि राष्ट्रीय आय की गणना किस उद्देश्य के लिए की जायेगी । यदि हमारा उद्देश्य समाज के विभिन्न वर्गो के आर्थिक कल्याण या जीवन-स्तर की तुलना करना है तो फिशर की परिभाषा के अनुसार राष्ट्रीय आय में उन्हीं वस्तुओं तथा सेवाओं का प्रयोग किया जाता है जो कि वर्ष विशेष में उस देश के लोग उपभोग करते हैं । यदि हमारा उद्देश्य आर्थिक कल्याण को प्रभावित करने वाले कारणों का अध्ययन करना, है, तो मार्शल तथा पीगू की परिभाषाएँ अधिक श्रेष्ठ होंगी, क्योंकि दीर्घकाल में आर्थिक कल्याण में वृद्धि का मुख्य कारण पूँजीगत तथा अन्य वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन में अधिक वृद्धि होना है । मार्शल की परिभाषा अधिक विस्तृत है तथा सैद्धान्तिक –ष्टि से उचित है, जबकि पीगू की परिभाषा व्यावहारिक –ष्टि से अधिक उचित है । इसके अनुसार राष्ट्रीय आय मापना सरल है ।

प्रो. केनन ने राष्ट्रीय आय की अवधारणा को व्यर्थ बताया है । उसके अनुसार आज विश्व के किसी भी देश की राष्ट्रीय आय की पृथक गणना करना अनुपयुक्त है, क्योंकि किसी देश में होने वाला उत्पादन अन्य देशों के उत्पादन एवं माँग से प्रभावित होता है। अत: एक देश में होने वाले उत्पादन उस देश की क्रियाओं का परिणाम नहीं है, यह अन्य देशों की क्रियाओं से भी प्रभावित होता है । अत: दूसरे देशों की क्रियाओं के अध्ययन के बिना एक देश की राष्ट्रीय आय की गणना करना व्यर्थ है, यह सत्य है कि केनन के विचार उचित हैं, लेकिन एक देश की राष्ट्रीय आय की गणना करते समय यदि अन्य देशों की क्रियाओं को भी सम्मिलित किया गया तो राष्ट्रीय आय की गणना और भी कठिन हो जायेगी ।

राष्ट्रीय आय की विभिन्न परिभाषाओं के अध्ययन के आधार पर राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध में निम्न महत्त्वपूर्ण बातों का ज्ञान होता है - **(1)** राष्ट्रीय आय किसी देश विदेश से संबन्धित होती है, जैसे भारत की राष्ट्रीय आय । **(2)** राष्ट्रीय आय की गणना एक वर्ष की समयावधि के लिए की जाती है । **(3)** राष्ट्रीय आय की गणना का

आधार उत्पादन एवं उपभोग दोनों हैं । **(4)** राष्ट्रीय आय को मुद्रा की इकाइयों में मापा जाता है । **(5)** राष्ट्रीय आय की गणना में वस्तुओं एवं सेवाओं दोनों को सम्मिलित किया जाता है । **(6)** राष्ट्रीय आय की गणना करते समय वस्तु व सेवा का मूल्य एक बार ही सम्मिलित होता है अर्थात् दोहरी गणना से बचा जा सकता है ।

14.2 राष्ट्रीय आय की प्रमुख अवधारणाएँ (Important Concepts of National Income)

राष्ट्रीय आय की अनेक अवधारणाएँ हैं, जिनमें से प्रमुख अवधारणाएँ निम्नलिखित है :-

(1) **सकल घरेलु उत्पादन (Gross Domestic Product or G.D.P.)** किसी देश की आन्तरिक सीमाओं में एक वर्ष की अवधि में उत्प**é** होने वाली समस्त उान्तिम वस्तुओं एवं सेवाओं के बाजार मुल्यों के कुल योग को सकल घरेलू उत्पादन कहते हैं । सकल घरेलू उत्पादन की गणना करते समय निम्नलिखित बातों को ध्यान में रखना चाहिए-

(A) मुद्रा में गणना - सकल घरेलू उत्पादन की मुद्रा मे की जाती है, इसके लिए एक देश में एक वर्ष में उत्पादित समस्त वस्तुओं एवं सेवाओं के कुल योग की बाजार मूल्य पर मुद्रा में गणना कर ली जाती है: लेकिन बाजार मूल्यों में परिवर्तन होता रहता हैं । इसलिए अनेक बार उत्पादन की मात्रा में परिवर्तन न होने पर भी सकल घरेलू उत्पादन का मूल्य कम या अधिक हो जाता है, क्योंकि बाजार मूल्यों में वृद्धि पर, उसी उत्पादन का मूल्य बढ़ जाता है, जो कि वास्तविक नहीं होता है । इस समस्या को हल करने के लिए किसी सामान्य वर्ष को आधार वर्ष मानकर चालू वर्ष के उत्पादन मूल्य में आवश्यक समायोजन कर लिया जाता है । उदाहरण के लिए **1980** को आधार वर्ष माना जाये तो वर्तमान वर्ष **1992** में राष्ट्रीय आय की बाजार मूल्य पर गणना कर उसे **1980** के आधार वर्ष में मूल्यों के अनुसार समायोजित कर लिया जायेगा ।

(B) अन्तिम वस्तुओं एवं सेवाओं की गणना - G.D.P. गणना करते समय केवल अन्तिम वस्तुओं एवं सेवाओं के बाजार मूल्यों के योग की गणना की जाती हैं । दोहरी गणना की समस्या से बचने के लिए अर्द्धनिर्मित मध्यमवर्ती वस्तुओं एवं सेवाओं के मूल्य को इसमें नहीं जोड़ा जाता हैं ।

(C) एक वर्ष की गणना - G.D.P. की गणना करते समय केवल चालू (सन्दर्भ) वर्ष में उत्पादित वस्तुओं एवं सेवाओं के मूल्य को शामिल किया जाता है । इसके अतिरिक्त अन्य किसी वर्ष में हुए उत्पादन को इसमें नहीं जोड़ा जाता हैं ।

(D) हस्तान्तरण भुगतान-पूँजीगत लाभ-हानि सम्मिलित नहीं - G.D.P. गणना करते समय हस्तान्तरण भुगतानों तथा पूँजीगत सम्पत्तियों के क्रय-विक्रय से होने वाले लाभ-हानि को इसमें सम्मिलित नहीं किया जाता है, क्योंकि इनसे राष्ट्रीय उत्पादन में वृद्धि नहीं होती है ।

(E) अवैधानिक क्रियायें समिमलित नहीं- अवैधानिक क्रियाओं में होने वाली आम को G.D.P. मकी गणना में सम्मिलित नही किया जाता हैं, जैसे चोरी, तस्करी आदि की आय ।

(F) केवल आर्थिक क्रियायें सम्मिलित G.D.P. की गणना करते समय केवल आर्थिक क्रियाओं के मूल्यों को ही सम्मिलित किया जाता है । निःशुल्क प्राप्त वस्तुओं एवं सेवाओं को इसमें शामिल नहीं किया जाता है, क्योंकि इनके मूल्यों का ठीक-ठीक अनुमान लगाना कठिन है, जैसे पत्नी थी सेवायें, देश-प्रेम, स्नेह तथा भावावेश में की गयी निःशुल्क क्रियायें ।

सकल घरेलू उत्पादन (G.D.P.) एवं सकल राष्ट्रीय उत्पादन (G.N.P.) मैं अन्तर

सकल घरेलू उत्पादन (G.D.P.) तथा राष्ट्रीय उत्पादन (G.N.P.) में थोड़ा अन्तर है । किसी वर्ष विशेष में किसी देश की घरेलू सीमाओं के अन्तर्गत जितनी अन्तिम वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन होता है, उनके मौद्रिक मूल्य के योग को सकल घरेलू उत्पादन कहते हैं । इसमें एक देश की सीमाओं में होने वाले उत्पादन मूल्य की गणना करते समय इस बात को ध्यान में नहीं रखा कता है कि इस उत्पादन में देश के नागरिकों ने सहयोग दिया है या विदेश नागरिकों ने । सकल राष्ट्रीय उत्पादन (G.N.P.) की गणना करते समय सकल घरेलू उत्पादन (G.D.P.) के अतिरिक्त विदेशों सें प्राप्त शुद्ध आय को भी जोड़ लिया जाता है ।

सूत्र :

सकल राष्ट्रीय आय (G.N.P.)=सकल घरेलू उत्पादन (G.D.P.) + विदेशों से प्राप्त शुद्ध आय (X-M)

साधन लागत के रूप में सकल राष्ट्रीय आय - (G.N.P. as Factor Cost) : साधन लागत के रूप में सकल राष्ट्रीय आय की गणना करने के लिए उत्पादन के सभी साधनों को मिलने वाली एक वर्ष की आय का योग प्राप्त कर लेते हैं । यह साधन लागत पर राष्ट्रीय आय कहलाती है, जैसे लगान, मजदूरी, वेतन, ब्याज तथा लाभ के रूप में प्राप्त आय । यह माना जाता है कि सकल राष्ट्रीय उत्पादन एक प्रवाह है, जो उत्पादन के साधनों तक उनके पुरस्कार (पारिश्रमिक) के रूप में पहुँचता है । इसमें निम्न मदों को सम्मिलित किया जाता है - (1) वेतन एवं मजदूरी, (2) लाभ, (3) ब्याज एवं लगान, (4) स्थायी पूँजी पर âास तथा (5) विदेशों से प्राप्त शुद्ध आय ।

बाजार मूल्य पर सकल राष्ट्रीय आय (G.N.P. as Market Price) : उत्पादन के विभिन्न साधनों से जो आय प्राप्त होती है, वह साधनों की लागत कहलाती है । जिस मूल्य पर वस्तु बाजार में उपभोक्ताओं को प्राप्त होती है, वह बाजार मूल्य कहलाता है । सामान्य रूप में साधन लागत एवं बाजार मूल्य में अन्तर नहीं होता है । फर्मों द्वारा सरकार को कर के रूप में किया गया भुगतान बाजार मूल्य को प्रभावित करता है; किन्तु सरकार द्वारा फर्मों को दिया गया अनुदान (Subsidy) बाजार मूल्य को।

प्रभावित नहीं करता है, इसलिए यदि साधन लागत में अप्रत्यक्ष करों को जोड दें तथा सरकारी सहायता व अनुदान को घटा दें तो बाजार मूल्य पर सकल राष्ट्रीय उत्पादन आ जायेगा ।

सूत्र :

बाजार मूल्य पर सकल राष्ट्रीय उत्पादन (G.N.P. mp)= साधन लागत पर राष्ट्रीय आय (G.D.P.fp) - अप्रत्यक्ष कर (IT)+ सरकारी अनुदान (S) ।

(2) शुद्ध घरेलू उत्पादन (Net Domestic Product or N.D.P.)- सकल घरेलू उत्पादन (G.D.P.) में से पूँजी हास एवं घिसावट के व्यय एवं मशीनों के अप्रचलन से होने वाली हानि को घटाकर शुद्ध घरेलू उत्पादन (N.D.P.) ज्ञात किया जाता है । शुद्ध घरेलू उत्पादन सकल घरेलू, उत्पादन घिसावट एवं अप्रचलन व्यय = N.D.P= G.D.P-Depreciation)

शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन (Net national Product or NNP) में घिसावट व अप्रचलन के व्यय घटाकर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन ज्ञात किया जाता है ।

इस प्रकार किसी देश के शुद्ध वार्षिक उत्पादन को ही शुद्ध राष्ट्रीय (NNP) कहते हैं । उत्पादन कार्य में जिन साधनों का प्रयोग किया जाता है, उनमें घिसावट होती है । कुल राष्ट्रीय आय (GNP) का कुछ भाग इन साधनों के प्रतिस्थापन (Replacement) पर व्यय किया जाता है । अत: शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन ज्ञात करने के लिए सकल राष्ट्रीय उत्पादन में से हास एवं उत्पादन के व्यय घटा दिये जाते हैं ।

सूत्र - शुद्ध राष्ट्रीय आय = सकल राष्ट्रीय आय - मूल्य ह्रास व अप्रचलन के व्यय ।

NNP=GNP-Depreciation

(3) राष्ट्रीय आय (National Income)- शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद को ही राष्ट्रीय आय कहते हैं । राष्ट्रीय आय को हम उत्पादन की –ष्टि से नहीं, बल्कि वितरण की –ष्टि से भी देख सकते हैं । राष्ट्रीय आय उत्पादन-साधनों को प्राप्त आय (लगान, मजदूरी, ब्याज तथा लाभ आदि) का योग है । उत्पादन के समस्त साधनों को प्राप्त आय या प्रतिफल के योग को साधन-लागत पर राष्ट्रीय आय (National Income at Factor Cost) भी कहते हैं । शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन से साधन लागत पर राष्ट्रीय आय को इस प्रकार ज्ञात किया जाता है :

राष्ट्रीय आय = शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन - अप्रत्यक्ष कर + उपदान

National Income=NNP-Indirect Taxes+Subsidies

कभी-कभी शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद' तथा उपर्यु**ä** विधि द्वारा ज्ञात की गई राष्ट्रीय आय' में अन्तर पाया जाता है, यह अन्तर मूल्यों में विभिन्न तथा सांख्यिकीय अशुद्धता के कारण होता हैं ।

(4) व्यक्तिगत आय (Personal Income) - व्यक्तिगत आय तथा राष्ट्रीय आय में अन्तर पाया जाता हैं । किसी देश के व्यक्तियों को आय के रूप में जो कुछ मौद्रिक

भुगतान प्राप्त होता है, उसे 'व्यक्तिगत आय' कहते हैं । **'व्यक्तिगत आय'** के अन्तर्गत बेरोजगारी बीमा तथा सामाजिक सुरक्षा - योजनाओं के अन्तर्गत प्राप्त लाभों को भी सम्मिलित करते हैं । इसी प्रकार 'शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद में संस्थाओं का अवितरित लाभ सम्मिलित रहता है: परन्तु व्यक्तिगत आय में इसे सम्मिलित नहीं करते हैं,

वैयक्तिक आय = राष्ट्रीय आय + हस्तांतरित भुगतान - निगम कर
अवितरित व्यावसायिक लाभ - सामाजिक सुरक्षा अशंदान

Personal Income= National Income + Transfer Payment
Corporate Taxes-Undistributed Business Profit
Social Security Contribution

(5) निर्वर्त्य अथवा उपभोग्य आय (Disposable Income) - यह आय उस वास्त विक आय को प्रकट करती है, जिसका प्रयोग व्यक्ति द्वारा किया जाता है । व्यक्तियों को प्रत्यक्ष करों का भुगतान करना पड़ता है । अत: निर्वर्त्य आय= व्यक्तिगत आय- प्रत्यक्ष कर (Disposable Income Personal Income-Direct Taxes) व्यक्ति अपनी आय का कुछ भाग उपभोग पर व्यय करता है तथा कुछ भाग बचाता है । अत: निर्वर्त्य आय = उपभोग पर व्यय ल बचत (Disposable Income= Personal Income-Direct Taxes) व्यक्ति अपनी आय का कुछ भाग उपभोग पर व्यय करता है तथा कुछ भाग बचाता है । अत: निर्वर्त्य आय= उपभोग पर व्यय + बचत (Disposable Income= Consumption Expenditure+Savings) ।

14.3 राष्ट्रीय आय की संगणना (Measurement of the National Income)

राष्ट्रीय आय की संगणना के लिए निम्नलिखित रीतियों का प्रयोग किया जाता हैं-

उत्पादन संगणना विधि (Census of Production Method) - इस विधि में एक देश में एक वर्ष में उत्पन्न समस्त वस्तुओं एवं सेवाओं के मूल्य का योग ले लिया जाता है और साधन- लागत पर उनका मूल्यांकन किया जाता हैं । इस राशि में निम्नलिखित का मूल्य जोड़ दिया जाता है- उत्पन्न वस्तुओं तथा सेवाओं का मूल्य, सम्पूर्ण उत्पादित माल पर उत्पादन कर, आयातों का मूल्य, आयातों पर चुंगी कर तथा भवनों का वास्तविक अथवा सम्भावित वार्षिक किराया ।

उपर्युक्त सभी मूल्यों के योग में से माल निर्माण करने में होने वाला **ह्रास** (Depreciation), मशीनों आदि को चालू रखने का व्यय तथा निर्यातों का मूल्य घटा दिया जाता है । इस प्रकार जो शुद्ध राशि ज्ञात होती है । वह राष्ट्रीय आय होती है । इस विधि के अन्तर्गत शुद्ध राष्ट्रीय आय को साधन-लागत पर परिवर्तित करने के लिए निम्नलिखित समायोजन (Adjustments) किये जाते है ।

राष्ट्रीय आय = शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन - अप्रत्यक्ष व्यापारिक कर +सरकारी उपदान-सरकारी उ।मों का आधिक्य- व्यावसायिक हस्तांतरण भुगतान-डूबते ऋण सांख्यिकीय' त्रुटि ।

उत्पादन संगणना द्वारा राष्ट्रीय आय ज्ञात करने की रीति. सभी देशों में अपनायी जाती है; परन्तु इस रीति का प्रयोग करते समय कुछ कठिनाईयों को ध्यान में रखना आवश्यक है , जो निम्नलिखित हैं-

(1) दोहरी गणना का भय - कभी-कभी उत्पादन के कुछ ऐसे मह होते हैं जिनकी गणना मूल उत्पत्ति-स्थान तथा निर्माण-स्थान दोनों जगहों पर हो जाती हैं । इससे परिणाम अशुद्ध आने की आशंका रहती है ।

(2) मूल्यांकन में कठिनाई - कृषि अथवा निर्माण उद्योग में तैयार होने वाले माल का मूल्यांकन करना तो कठिन नहीं है: परन्तु व्यापारिक लेन-देन में सम्मिलित (होने वाला माल इतने अधिक प्रकार का होता है' कि उसका वास्तविक मूल्याँकन करना बहुत कठिन होता हैं ।

(2) **आय संगणना विधि (Census of Income Method) -** इस विधि के अनुसार राष्ट्रीय आय की गणना करने के लिए देश के विभिन्न क्षेत्रों के नागरिकों की व्यक्तिगत आय का योग ले लिया जाता है । डी. ब्राउले तथा रॉबर्टसन के अनुसार, आय संगणना रीति के अन्तर्गत आय-क़र न देने वाले व्यक्तियों की आय जोड़ ली जाती है । ऐसा करने के लिए देश में विभि**é** वर्गो के व्यक्तियों का चुनाव कर लिया जाता है और उनकी आय के आधार पर राष्ट्र की कुल आय का अनुमान लगाया जाता है ।

इस विधि के अनुसार राष्ट्रीय आय की गणना करते समय निम्नलिखित सावधानियाँ रखनी चाहिए-

(1) हस्तांतरण भुगतानों को आय की संगणना में शामिल नहीं करना चाहिए, क्योंकि इनसें किसी प्रकार की आय का निर्माण नहीं होता है । ।

(2) उन वस्तुओं व सेवाओं को राष्ट्रीय आय में शामिल नहीं करना चाहिए, जिनका कोई मौद्रिक भुगतान नहीं किया जाता हो, उदाहरण के लिए गृहणियों की सेवाएँ ।

(3) यदि एक उत्पादक के स्वयं के साधनों को उत्पादन कार्य में प्रयोग किया जाता है, तो उनके पुरस्कार को राष्ट्रीय आय में जोड़ा जाता है ।

(4) अवितरित लाभ अथवा सुरक्षित कोष में डाली गई राशि भी राष्ट्रीय भय में शामिल की जाती है ।

राष्ट्रीय आय = मजदूरी, वेतन तथा अन्य भुगतान+ शुद्ध ब्याज+ लगान + कर पूर्व निगम लाभ+अनिगमित उद्योग की आय ।

कठिनाइयाँ - आय संगणना रीति द्वारा आय ज्ञात करने में दोहरी गणना का भय नहीं रहता है । इसके अतिरिक्त, आय ज्ञात करने में परिवारों के सामान्य आय-

व्यय (Budgets) ज्ञात कर लिये जाते हैं और उनके आधार पर कुल आय ज्ञात कर ली जाती ।_है; लेकिन इस विधि द्वारा गणना करने में निम्नलिखित कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है;'_ (1) **आय का वितरण** - अविकसित देशों में प्राय: जनता द्वारा आय-व्यय का विवरण रखने की प्रयत्न नहीं किया जाता । मौखिक रूप में प्रश्नावलियों अथवा प्रश्नों के जो उत्तर दिये जाते है, वे प्राय: अनुमान होते हैं । अत: प्राप्त अंकों की शुद्धता सन्देहजनक ही रहती है । (2) **मूल्यांकन -** अनेक वस्तुओं, सेवाओं अथवा सुविधाओं के रूप में प्राप्त आय का यथोचित मूल्यांकन करना कठिन होता है । (3) **सूचना** - अविकसित देशों में प्राय: अशिक्षित होने के कारण लोग अपनी आय को कम बतलाते है, अत: सम्भावित भूल की मात्रा अधिक रहने का भय रहता है ।

उपर्युक्त कठिनाइयों के कारण ही प्राय: राष्ट्रीय आय की गणना करने में उत्पादन संगणना तथा आय संगणना, दोनों प्रणालियों का साथ-साथ प्रयोग किया जाता है ।

(3) **व्यय संगणना विधि (Census of Expenditure Method) :-** किसी देश की राष्ट्रीय आय उस देश के कुछ उपभोग तथा कुल बचतों का योग होती है व्यय पद्धति के अन्तर्गत देश के विभिन्न वर्गो द्वारा विभि**é** मदों पर किये गये व्यय की राशि ज्ञात कर ली जाती है तथा उस राशि में कुल बचत (Saving) की रकमें जोड़ दी जाती है । वह योग ही राष्ट्रीय आय कहलाता है । राष्ट्रीय आय = कुल व्यय+ कुल बचत ।

कठिनाइयाँ- इस विधि द्वारा राष्ट्रीय आय की गणना में निम्नलिखित कठिनाइयाँ आती है- (1) पहली कठिनाई तो यह है कि सम्पूर्ण जनसंख्या की उपभोग राशि ज्ञात करना बहुत कठिन है, क्योंकि लोग प्राय: अपने व्यय का यथोचित हिसाब-किताब रखने की चिन्ता नहीं करते । (2) कुल बचत और कुल विनियोग की जानकारी प्राप्त करना भी सरल नहीं है । अविकसित देशों में यह कठिनाई विशेष रूप से गंभीर होती है, क्योंकि वहाँ बचत एवं विनियोग की सुविधा देने वाली विशेष संस्थाओं का प्राय: अभाव होता है । (2) यह विधि अधिक व्यावहारिक नहीं है, क्योंकि व्यक्तियों के उपभोग व्यय व बचतों को ज्ञात करना कठिन है ।

(4) **सामाजिक लेखांकन विधि (Social Accounting Method) :-** सामाजिक लेखांकन विधि राष्ट्रीय आय संगणना की नई विधि है, जिसका प्रयोग विशेषकर विकसित देशों द्वारा किया जाने लगा है, इस विधि के प्रतिपादकों में प्रो. रिचर्ड स्टोन. लिओन्टीफ कुजनेट्स आदि । अर्थशास्त्रियों के नाम उल्लेखनीय है, इस विधि के अन्तर्गत देश की सम्पूर्ण जनसंख्या को विभि**é** वर्गो में बाँट दिया जाता है तथा वर्ग बनाते समय प्राय: समान आग वाले व्यक्तियों को एक वर्ग में रखा जाता है । प्रत्येक वर्ग के कुछ व्यक्तियों की आय ज्ञात करके उसका औसत निकाल लिया जाता है और उसी के आधार पर सम्पूर्ण वर्ग की आय ज्ञात कर ली

जाती है । सब वर्गो की आय का योग करने का सारे देश की आय का अनुमान लग जाता है: किन्तु इस विधि का प्रयोग उसी समय किया जा सकता है, जबकि सभी व्यक्ति तथा संस्थायें अपनी आय का सही हिसाब रखें ।

सामाजिक लेखांकन विधि का अर्थ व परिभाषा : सामाजिक लेखांकन विधि वह विधि होती है, जिसके अन्तर्गत अर्थव्यवस्था के विभिन्न समूहों एवं उप-समूहों के लेखों को तैयार किया जाता है । तत्पश्चात् इन विभिन्न लेखों के समूहीकरण द्वारा आय मालूम की जाती है ।

इस विधि के द्वारा अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों (उत्पादन, उपभोग, विनिमय, वितरण आदि) से सम्बन्धित आँकड़ों का वितरण ही प्राप्त नहीं होता अपितु उनके पारस्परिक सामाजिक विश्लेषण हेतु आवश्यक ढांचा भी तैयार हो जाता है । सामाजिक लेखांकन विधि को निम्न प्रकार पारिभाषित किया जा सकता है :- हेरल्ड इडी एवं ऐलन पी कॉक के अनुसार- "सामाजिक लेखांकन मनुष्यों तथा मानवीय संस्थाओं को भली-भाँति समझने में सहायक होता है । इनमें केवल आर्थिक क्रियाओं का वर्गीकरण ही नहीं किया जाता है बल्कि अर्थतंत्र के संचालन की जाँच में एकत्रित सूचना के प्रयोग का भी समावेश होता है । "

सामाजिक लेखांकन विधि के उद्देश्य : सामाजिक लेखांकन विधि किसी समाज अथवा राष्ट्र की अर्थव्यवस्था के बारे में सूचना प्रस्तुत करने की विधि है, इसके प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित है :-

(1) **आर्थिक स्थिति का ज्ञान :** सामाजिक लेखांकन विधि का प्रमुख उद्देश्य राष्ट्र की आर्थिक स्थिति की जानकारी प्राप्त करना है, जिससे यह ज्ञात हो सके कि देश की अर्थव्यवस्था में प्रगति हो रही है या वह अवनति की ओर अग्रसर हैं ।

(2) **नीति सम्बन्धि मार्गदर्शन :** इसका दूसरा उद्देश्य देश की अर्थव्यवस्था के नियमन की नीति के विषय में मार्गदर्शन प्राप्त करना है, इस विधि के प्रयोग में अर्थव्यवस्था क़े संचालन के नवीन तरीके ज्ञात हो सकते हैं ।

सामाजिक लेखांकन विधि का महत्व :-

सामाजिक लेखांकन विधि के अन्तर्गत संकलित सूचना का केवल वर्गीकरण ही नहीं होता है, बल्कि उसका प्रयोग भी होता है, जिससे यह मालूम हो जाये कि अर्थव्यवस्था कैसे चल रही है तथा भविष्य में इसका परिचालन कैसे किया जाये, जिससे देश की आर्थिक समृद्धि हो सके । सामाजिक लेखांकन विधि में अर्थव्यवस्था सम्बन्धी सांख्यिकी आँकड़े तथा उसके मॉडल भी आते है । ' इनसे राष्ट्र के बजट तैयार करने तथा राष्ट्रीय समृद्धि का अनुमान लगाने में सहायता मिलती है, इसके अतिरिक्त सामाजिक लेखांकन विधि से संबंधित आँकड़े अर्थशास्त्रियों को उत्पादन, निवेश रोजगार, ' आदि के अध्ययन में सहायता प्रदान करते हैं ।

सामाजिक लेखांकन विधि के प्रमुख लाभ एवं महत्व निम्नलिखित हैं :-'

(1) सामाजिक लेखांकन विधि के आँकड़े उत्पादन, निवेश व रोजगार आदि के अध्ययन में सहायक होते हैं ।

(2) यह देश की आर्थिक-स्थिति के बारे में सही-सही जानकारी देती हैं । ।

(3) यह विधि शुद्ध व सही समझी जाती हैं ।

(4) विकसित देशों में इस विधि को बहुत सराहा गया है ।

(5) इस विधि की सहायता से अर्थव्यवस्था के परिचालन के नवीन तरीके ज्ञात हो सकते हैं ।

इस प्रकार सामाजिक लेखांकन विधि द्वारा देश की आर्थिक स्थिति की सही- जानकारी प्राप्त की जा सकती है । यह राष्ट्रीय आय को मापने की शुद्ध, सरल व दोहरी लेखा विधि, जिससे परिणाम शुद्ध व सही निकलते हैं ।

सामाजिक लेखांकन विधि के दोष व परिसीमायें :-

(1) इस विधि का प्रयोग केवल विकसित देशों में ही किया जाता है ।

(2) अन्य विधियों की तुलना में यह कठिन विधि हैं ।

(3) इस विधि में लेखों को बहुत सावधानी व शुद्धता से तैयार करना. है ।

(4) इस विधि में सामाजिक लेखों को बनाने में दोहरी खाता पद्धति तैयार करनी पड़ती है, जो अधिक समय लेती हैं ।

(5) यह विधि - खर्चीली हैं ।

14.4 राष्ट्रीय आय विश्लेषण का महत्व (Importance Of National Income Analysis)

राष्ट्रीय आय किसी देश की अर्थव्यवस्था के समस्त विभागों (कृषि, उद्योग, वाणिज्य आदि) की वार्षिक आय का योग है, यह सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की वार्षिक आय का लेखा-जोखा है । इस लेखा-जोखा को सामाजिक खाता कहा जा सकता है । राष्ट्रीय आय की गणना का महत्त्व निम्नलिखित शीर्षकों से स्पष्ट हो जाता है :-

(1) **आर्थिक प्रगति की सूचक (Indicator of Economic Progress) -** राष्ट्रीय आय किसी भी देश की आर्थिक प्रगति की सरलतम सूचक है, क्योंकि एक ही समंक हम जान सकते हैं कि देश के उत्पादक क्षेत्र में कितनी प्रगति हो रही है । राष्ट्रीय आय विभि**é** क्षेत्रों के प्रगति सम्बन्धी विस्तृत अंकों का समावेश किया जाता है । अत: राष्ट्रीय आय के समंक वस्तुत: सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था की उ**é**ति अथवा अवनति की दिशा की ओर संकेत करते हैं ।

(2) **साधनों का प्रयोग (Use of Resourses) -** राष्ट्रीय आय द्वारा यह ज्ञात हो जाता है कि वर्ष विशेष में विभिन्न राष्ट्रीय साधनों के प्रयोग द्वारा उत्पादन में कितनी वृद्धि हुई । इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वृद्धि सन्तोषजनक है या नहीं । असन्तोजनक होने की दिशा में सम्बन्धित क्षेत्रों में उत्पादन प्रणाली में सुधार करने का प्रयत्न किया जाता है ।

(3) **आय स्त्रोतों का महत्व (Importance of Sources of Income)-** जिन देशों में राष्ट्रीय आय का अधिकांश भाग कृषि एवं प्राथमिक क्षेत्र से प्राप्त होता है, वे प्राय: पिछड़े हुए देश माने जाते हैं । क्योंकि उधोगों में अधिक व्यक्तियों को रोजगार दिया जा सकता है और उधोगों में लगायी गयी पूँजी प्राय: कृषि में लगायी पूँजी से अधिक उत्पादक होती है, इस दृष्टि से राष्ट्रीय आय द्वारा यह ज्ञात हो जाता है कि कृषि, उद्योग, यातायात तथा अन्य साधनों का राष्ट्रीय आय में कितना योगदान है । इससे देश की वास्तविक प्रगति की दिशा का संकेत मिलता है ।

(4) **तुलनात्मक समीक्षा (Comparative Analysis) -** राष्ट्रीय आय समंकों से दो प्रकार की तुलना करना सम्भव होता है - (क) अन्तर्राष्ट्रीय तुलना में सहायक - विभि**é** देशों की कुल अथवा प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय के आधार पर उनकी आर्थिक प्रगति की तुलना करना सम्भव है, जैसे भारत और जापान, इंग्लैण्ड तथा अमरीका की तुलना । इसके आधार पर अविकसित देश विकसित देशों के अनुभव का लाभ उठा सकते हैं और अपनी आय में वृद्धि कर सकते हैं । (ख) अर्थव्यवस्था के विभि**é** क्षेत्रों का अध्ययन :- राष्ट्रीय आय के आधार पर यह जानकारी प्राप्त की जा सकती है कि देश में कृषि, उद्योग, वाणिज्य तथा यातायात से प्राप्त आय कितने प्रतिशत है । इससे उस देश के विभि**é** क्षेत्रों की प्रगति का ठीक-ठीक या तुलनात्मक अध्ययन हो जाता है और कम विकसित क्षेत्रों के विकास पर विशेष ध्यान दिया जा सकता है ।

(5) **सरकारी नीति का आधार (Basis of Government Policy) -** राष्ट्रीय आय सरकार की आर्थिक नीति के महत्वपूर्ण आधार का काम करती है । सामान्यत: अपनी आर्थिक नीति निश्चित करने में सरकार राष्ट्रीय आय का निम्न रूप में प्रयोग करती है :-

(क) **कर नीति :-** सरकार द्वारा उन क्षेत्रों में कर संशोधन के प्रस्ताव किये जाते हैं, जिनमें आय अथवा उत्पादन कम होता है करों की छूट देने से प्राय: दुर्बल क्षेत्रों में उत्पादन बढ़ाने को प्रोत्साहन मिलता है । इसी प्रकार समाज के जो वर्ग आर्थिक –ष्टि से निर्बल है, उन्हें कर संशोधन द्वारा सहायता देने का प्रयत्न किया जाता है ।

(ख) **विकास योजना का आधार :-** राष्ट्रीय आय के आंकड़ें सरकार को विभिन्न क्षेत्रों के उत्पादन का ब्यौरा देते हैं । इनके आधार पर सरकार को यह निश्चित करने में सहायता मिलती है कि किन क्षेत्रों में विकास पर अधिक रकम लगानी चाहिए तथा किन क्षेत्रों में प्रशासन व्यवस्था में सुधार करना आवश्यक है । इससे विकास योजनाओं में प्राथमिकता का निर्णय किया जा सकता है ।

(ग) **सामाजिक बीमा -** प्रजातन्त्र की सफलता का एक महत्वपूर्ण मापदण्ड यह है कि देश के नागरिक अपने आपको आर्थिक –ष्टि से सबल एवं सुरक्षित समझें । इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कम आय वाले देशों में वृद्धिावस्था पेंशन निःशुल्क चिकित्सा सुविधाएँ अथवा अन्य जन हितकारी कार्य किये जा सकते हैं ।

(6) **व्यापार चक्रों के विश्लेषण में सहायक (Helpful in the Analysis of Trade cycles) -** राष्ट्रीय आय समंकों की सहायता से स्थिरता के साथ आर्थिक विकास के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है । मन्दी की स्थिति को विनियोग वृद्धि द्वारा समाप्त किया जा सकता है । तेजी अथवा मुद्रा-स्फीति की स्थिति को विनियोग तथा व्यय में कमी द्वारा सुधारा जा सकता हैं ।

(7) **भविष्यवाणियाँ सम्भव (Predictions) -** कुछ वर्षो के राष्ट्रीय आय सम्बन्धी आँकड़ों से यह इप्रत हो जाता है कि देश में राष्ट्रीय आय की प्रेगति किस दिशा में किस दर से हो रही है । इससे भविष्य की प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में पूर्वानुमान लगाये जा सकते हैं और अरसन्तोषजनक प्रवृत्तियों में सुधार करने हेतु प्रयत्न किये जा सकते हैं ।

(8) **जीवन स्तर का ज्ञान (Knowledge of Standard of Living) -** आय की गणना कर देश के नागरिकों के जीवनस्तर की जानकारी प्राप्त की जाती है । रूप से राष्ट्रीय आय में वृद्धि जीवनस्तर में वृद्धि का प्रतीक है । यदि राष्ट्रीय आय में कमी होती है, तो जीवनस्तर भी निम्न होगा । आय वृद्धि के साथ वितरण को भी ध्यान में रखना पड़ता। है ।

(9) **विकास की प्रवृत्तियाँ (Development Tendencies) -** राष्ट्रीय आय की गणना के आधार पर किसी देश की विकास की गति का मापा जा सकता है । यदि राष्ट्रीय आय में तीव्र गति से वृद्धि हो रही हो तो देश का विकास तेजी से विकास हो रहा होगा । इसके विपरित यदि राष्ट्रीय आय में वृद्धि की प्रवृति धीमी है तो आर्थिक विकास भी धीमी गति से हो रहा होगा ।

(10) समय के आधार पर तुलना (Comparision on the basis of time) - राष्ट्रीय आय की गणना कर दो समयों में होने वाली आर्थिक प्रगति की तुलना की जा सकती है । इससे विकास दर ज्ञात की जाती है ।

14.5 राष्ट्रीय आय की गणना में कठिनाइयाँ (Difficulties in the Measurement of National Income)

राष्ट्रीय आय की सही गणना के लिए यह आवश्यक है कि अर्थव्यवस्था के विभिन्न अंगो से सम्बन्धित समंक सही तथा विस्तृत रूप से उपलव्य हों । सामान्यतया राष्ट्रीय आय का आँकलन करते समय निम्नलिखित कठिनाईयों का सामना करना पडता :-

(1) **दोहरी गणना की समस्या:** राष्ट्रीय आय की गणना करते समय बड़ी कठिनाई दोहरी गणना की होती है । इसमें एक वस्तु या सेवा की कई बार गणना की आशंका

रहती है । यदि ऐसा हो तो राष्ट्रीय आय कई गुना बढ़ जायेगी और दूसरी तरफ यदि इनको राष्ट्रीय आय में शामिल नहीं करें तो राष्ट्रीय आय कम हो जायेगी ।

(2) **अवैध क्रियाओं से प्राप्त आय सम्मिलित नहीं :-** राष्ट्रीय आय में अवैध क्रियाओं से प्राप्त आय सम्मिलित नहीं की जाती, जैसे जुए या चोरों से आय, ऐसी वस्तुओं का भी मूल्य होता है और वे उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं की भी पूर्ति करती है । परन्तु इनको राष्ट्रीय आय में शामिल न करने से राष्ट्रीय आय कम रह जाती है ।

(3) **हस्तान्तरणीय भुगतानों सम्बन्धी कठिनाई :-** राष्ट्रीय आय में हस्तान्तरणीय भुगतानों को सम्मिलित करने की कठिनाई होती है । पेंशन, बेरोजगारी भत्ता तथा सार्वजनिक ऋणों पर ब्याज आदि व्यक्तियों को प्राप्त होते हैं । इनको राष्ट्रीय आय में शामिल किया या नहीं किया जाए एक कठिन समस्या है ।

(4) **अमौद्रिक विनिमय की कठिनाई :-** राष्ट्रीय आय की गणना करते समय उन्हीं वस्तुओं के मूल्य को सम्मिलित करते हैं, जिनका विनिमय होता है । परन्तु कुछ वस्तुओं व, सेवाओं का विनिमय नहीं होता हैं जैसे गृहणी की सेवाएँ, व्यक्ति द्वारा परिवार को प्रदत्त सेवाएं आदि । इनको राष्ट्रीय आय में सम्मिलित नहीं करते हैं । अत: राष्ट्रीय आय वास्तविक आय से कम होती है ।

(5) **सेवाओं के सम्बन्ध में विरोधाभास :-** राष्ट्रीय आय के आकलन में कुछ विरोधाभास भी पाया जाता है, जैसे यदि किसी स्त्री को नौकर रखा जाए, तो उसका वेतन राष्ट्रीय आय में जोड़ा जाएगा । परन्तु शादी के पश्चात् गृहिणी के रूप में उसकी सेवाओं को राष्ट्रीय आय में शामिल नहीं किया जायेगा ।

(6) **सही हिसाब-किताब की समस्या :-** अल्पविकसित देशों में शिक्षा के अभाव में अधिकतर लोग हिसाब-किबात रखना नहीं जानते । जो हिसाब-किताब रखना जानते भीं हैं, वे अपनी सही आय बताने को तैयार नहीं होते । ऐसी स्थिति में राष्ट्रीय आय का केवल अन्दाज ही लगाया जा सकता है ।

(7) **विश्वसनीय आँकड़ों का अभाव :-** अल्पविकसित देशों में राष्ट्रीय आय का आँकलन शुद्धता से नहीं किया जा सकता है, क्योंकि उनकी अर्थव्यवस्था का बड़ा भाग अमुद्रीकृत होता है । विनिमय कम वस्तुओं का होता है । अत: अधिकांशत: आकलन अनुमान पर आधारित होता हैं । कृषक तथा अशिक्षित उत्पादक अपने उत्पादन का मूल्य स्वयं नहीं जानते हैं ।

(8) **गणना सम्बन्धी अशुद्धियाँ** :- अर्थव्यवस्था के सष्कध में पूर्ण तथा विश्वसनीय समंक उपलब्ध नहीं होते हैं । विभिन्न वर्षों की राष्ट्रीय आय को तुलनात्मक रूप प्रदान करने के लिये मूल्य-निर्देशांक (Price Index) का प्रयोग किया जाता है । परन्तु मूल्य-निर्देशांक पूर्णतया विश्वसनीय नहीं होते तथा उनमें पर्याप्त विभि**é**ताएँ भी पायी जाती हे ।

(9) **दोषपूर्ण व्यावसायिक वर्गीकरण :-** राष्ट्रीय आय की गणना करने के लिए उत्पादन को विभि**é** व्यवसायों में वर्गीकृत किया जाता है । फिर प्रत्येक व्यवसाय की आय

ज्ञात कर राष्ट्रीय आय ज्ञात की जाती है । लेकिन भारत जैसे विकासशील देशों में व्यक्ति एक ही व्यवसाय में कार्यरत नहीं रहते हैं । एक कृषक कुछ समय कृषि से संबंधित कार्य करता है । तथा शेष समय किसी छोटे उद्योग में मजदूरी करता है । इस प्रकार उसकी आय को कृषि व उद्योग में बाँटना होता है, जो कठिन होता है ।

(10) **क्षेत्रीय विविधता :-** भारत एक विशाल देश है, यहाँ क्षेत्रीय –ष्टि से आर्थिक विषमता पायी जाती है । एक क्षेत्र अत्यन्त विकसित है, तो दूसरा अत्यन्त पिछड़ा हुआ । अत: किसी एक क्षेत्र की राष्ट्रीय आय की गणना के आधार पर सम्पूर्ण देश की राष्ट्रीय आय का अनुमान लगाना कठिन होता है ।

14.6 राष्ट्रीय आय की गणना के दोषों को दूर करने के उपाय (Measures to Remove the Difficulties in the counting of N.I.)

राष्ट्रीय आय की गणना, में आने वाली कठिनाइयों को दूर करने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते है :-

(1) भारत में कृषि राष्ट्रीय आय का महत्वपूर्ण स्त्रोत है । राष्ट्रीय आय की सही गणना करने के लिए कृषि क्षेत्र को वैज्ञानिक आधार पर वर्गीकृत करना होगा तथा कृषि पदार्थो के मूल्य सम्बन्धित बाजारों से लेने होंगे ।

(2) औद्योगिक क्षेत्र में सभी इकाइयों की छोटी व बड़ी इकाइयों में वर्गीकृत कर उनके उत्पादन व मूल्य का सही-सही ऑकलन करना होगा । खनन उधोगों के समंक श्रम संस्थाओं के सहयोग से प्राप्त किये जा सकते हैं ।

(3) आयकर विभाग को आयकर दाताओं के साथ आयकर न देने वाले व्यक्तियों की आय की भी जानकारी प्राप्त करनी चाहिए ।

(4) व्यापारिक समंक विक्रीकर विभाग द्वारा एकत्रित किये जा सकते हैं ।

(5) यातायात सेवाओं के समंकों के लिए यातायात विभाग से सहयोग प्राप्त किया जा सकता है ।

(6) केन्द्रीय सांख्यिकी संगठन को सरकारी एवं अर्द्ध-सरकारी संस्थानों के विकास से सम्बन्धित समंक एकत्रित एवं प्रकाशित करने चाहिए ।

(7) ग्रामीण क्षेत्रों में आय की जानकारी के लिए स्थानीय सरकारों जैसे ग्राम पंचायत, नगरपालिका आदि का सहयोग लेना चाहिए ।

(8) दोहरी गणना की समस्या से बचने के लिए केवल अन्तिम उत्पादन के मूल्य को ही राष्ट्रीय आय की गणना में सम्मिलित किया जाये ।

(9) समंकों के संकलन में विशेष सावधानी बरती जानी चाहिए । इसके लिए प्रशासनिक व्यवस्था में सुधार किया जावें ।

14.7 राष्ट्रीय आय आर्थिक कल्याण में सम्बन्ध (Relation between National Income and Economic Welfare)

कल्याण एक मानसिक विचार है, यह व्यक्ति की सन्तुष्टि का घोतक है । प्रो. पीगू (Prof. Pigou) ने कल्याण को दो भागों में विभिक्त किया है- कुल कल्याण (Total Welfare) तथा आर्थिक कल्याण (Economic Welfare) । कुल कल्याण बहुत विस्तृत है और इसके अन्तर्गत अनार्थिक (नैतिक, सामाजिक) एवं आर्थिक कल्याण शामिल किये जाते हैं । आर्थिक कल्याण कुल कल्याण का एक भाग है । पीगू के अनुसार "आर्थिक कल्याण कुल कल्याण का वह भाग है जिसे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मुद्रा के मापदण्ड से सम्बन्धि किया जा सकता है । प्रो. पीगू का यह भी मानना है कि आर्थिक कल्याण को दो भागों-आर्थिक कल्याण तथा अनार्थिक कल्याण में बाँटाना कठिन है, क्योंकि इन दोनों को एक-दूसरे से अलग करना आसान नहीं है ।यद्यपि कल्याण को मापना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि यह एक मानसिक विचार है । अत: इसका अनुमान नहीं लगाया जा सकता है । लेकिन इसकी माप सापेक्षित रूप में की जा सकती है । अत: इसका अनुमान नहीं लगाया जा सकता है । लेकिन इसकी माप सापेक्षिक रूप में की जा सकती है । कल्याण के जिस भाग की माप मुद्रा द्वारा की जा सकती है, इसे आर्थिक कल्याण कहते हैं । फिर भी हम मुद्रा के माध्यम से आर्थिक कल्याण की जानकारी प्राप्त कर, कल कल्याण के विषय में मोटे तौर पर अनुमान लगा सकते हैं ।

राष्ट्रीय आय तथा आर्थिक कल्याण दोनों में घनिष्ट सम्बन्ध होता है । जब राष्ट्रीय आय बढ़ती है तब आर्थिक कल्याण में वृद्धि होती है और राष्ट्रीय आय में कमी होने से आर्थिक कल्याण में कमी होती हैं । आर्थिक कल्याण पर राष्ट्रीय आय का प्रभाव तीन प्रकार से पड़ता है -

(A) राष्ट्रीय आय के परिणाम में परिवर्तन तथा आर्थिक कल्याण

(B) राष्ट्रीय आय के वितरण में परिवर्तन तथा आर्थिक कल्याण और

(C) राष्ट्रीय आय में स्थायित्व तथा आर्थिक कल्याण ।

(A) राष्ट्रीय आय के परिमाण में परिवर्तन तथा आर्थिक कल्याण (Change in the size of National Income and Economic Welfare) राष्ट्रीय आय के परिणाम में परिवर्तन धनात्मक या ऋणात्मक हो सकता है । यदि राष्ट्रीय आय के आकार में वृद्धि होती है तो लोग अधिक वस्तुओं व सेवाओं का उपभोग करते हैं । इससे आर्थिक कल्याण में वृद्धि होती है । राष्ट्रीय आय में कमी होने से लोगों को कम वस्तुएँ व सेवाएँ उपयोग के लिए प्राप्त होती हैं, जिससे आर्थिक कल्याण में कमी आती है । परन्तु यह सम्बन्ध कई बातों पर निर्भर करता है, इसके कुछ अपवाद होते हैं । इसके सही होने के लिए निम्न दशाओं का पूरा होना आवश्यक है ।

(1) राष्ट्रीय आय की मात्रा में परिवर्तन के परिणामस्वरूप निर्धनों की आय में कमी नहीं होनी चाहिए ।

(2) राष्ट्रीय आय में वृद्धि के फलस्वरूप लोगों की रूचियों (Tastes) में अच्छे परिवर्तनों से आर्थिक कल्याण बढ़ेगा अन्यथा घटेगा ।

(3) यदि उत्पादन में त्याग तथा असन्तोष की तुलना में बढ़ी हुई राष्ट्रीय आय से मिलने वाला सन्तोष अधिक है तो आर्थिक कल्याण में वृद्धि होगी अन्यथा नहीं ।

(4) जनसंख्या वृद्धि की दर राष्ट्रीय आय की वृद्धि दर से अधिक होनी चाहिए ।

(5) गैर-उपभोग वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि होने से आर्थिक कल्याण में वृद्धि नहीं होती है ।

(B) राष्ट्रीय आय के वितरण में परिवर्तन तथा आर्थिक कल्याण (Change in the Distribution of National Income and Economic Welfare) - राष्ट्रीय आय के वितरण का अर्थ है एक वर्ग के व्यक्तियों से दूसरे वर्ग के व्यक्तियों से दूसरे वर्ग के व्यक्तियों में आय का हस्तान्तरण होना । यह हस्तान्तरण दो प्रकार से हो सकता है :- (1) धनी वर्ग से निर्धन वर्ग की तरफ आय का हस्तान्तरण तथा (2) निर्धन वर्ग से धनी वर्ग की तरफ आय का हस्तान्तरण ।

(1) धनी वर्ग से निर्धन वर्ग की तरफ आय का हस्तान्तरण सामान्यतया यह कहा जा सकता है कि निर्धन पक्ष में राष्ट्रीय आय का हस्तान्तरण आर्थिक कल्याण में वृद्धि करता है । इसकी पुष्टि निम्न तर्को द्वारा की जा सकती है ।

(अ) उपभोग पर व्यय : धनी व्यक्तियों के पास की अतिरिक्त आय को लेकर निर्धन व गरीब व्यक्तियों में वितरित करने से वे अनिवार्य वस्तुओं का उपभोग करने में सफल होंगे, जिससे आर्थिक कल्याण बढ़ेगा ।

(ब) मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता : धनिकों एवं निर्धनों के लिए मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता भिन्न-भिन्न होती हैं । धनिकों के पास मुद्रा की अधिक मात्रा होने से उनके लिए मुद्रा की सीमानत उपयोगिता कम होगी । इसके विपरीत निर्धनों के पास मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता अधिक होगी । अत: कम सीमान्त उपयोगिता वाले स्थान (धनिकों) से मुद्रा लेकर अधिक सीमान्त उपयोगिता वाले स्थान (निर्धनों) पर व्यय करने से आर्थिक कल्याण में वृद्धि होगी ।

(स) तुलनात्मक स्थिति में कोई अन्तर नही : यदि धनिक वर्ग के सभी व्यक्तियों की आय में समान अनुपात में कमी कर दी जाये तो उनकी सन्तुष्टि में कोई कमी नही होगी, क्योंकि तुलनात्मक रूप से उनकी स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता है । इस प्रकार प्राप्त आय को निर्धन व्यक्तियो में वितरित करने से उनकी सन्तुष्टि में वृद्धि हो जायेगी ।

परन्तु कुछ लोगों के अनुसार, निर्धनों के पक्ष में राष्ट्रीय आय का वितरण आर्थिक कल्याण में वृद्धि नहीं करता इसके लिए निम्न तर्क दिये जाते हैं :-

(अ) **आय-व्यय की जानकारी :** धनी एवं निर्धन व्यक्तियों के स्वभाव में अन्तर होता है तथा प्रारम्भ से ही उनके पालन-पोषण में भी अन्तर रहता है । धनी व्यक्ति एक निश्चित आय से निर्धनों की अपेक्षा अधिक सन्तुष्टि प्राप्त करने की योग्यता रखते हैं ।

(ब) **दुर्व्यसनों पर व्यय :** निर्धनों की आय में वृद्धि होने पर वे दुर्व्यसनों पर व्यय करते हैं, जैसे शराब पीना । इस प्रकार आर्थिक कल्याण में वृद्धि के स्थान पर कमी होती है ।

(स) **जनसंख्या में अधिक वृद्धि :** निर्धन व्यक्तियों के पक्ष में आय का हस्तान्तरण होने से उनमें जनसंख्या वृद्धि की दर बढ़ जायेगी, क्योंकि अब उन्हें खाने-पीने की चिन्ता नहीं रहेगी । इस प्रकार निर्धनों के पक्ष में आय का वितरण होने से प्रति व्यक्ति आय कम हो जायेगी और आर्थिक कल्याण में कमी आयेगी ।

(द) **भावी नस्ल खराब होने का भय** : निर्धन व्यक्तियों की आय बढ़ने से कमजोर व अपंग बच्चों के जीवित रहने की सम्भावनाएँ बढ़ जायेगी ।

(2) **निर्धन वर्ग से धनी वर्ग की तरफ आय का हस्तान्तरण :** यदि राष्ट्रीय आय का वितरण धनवानों के पक्ष में होता है तो इसका अर्थ है कि निर्धनों की आय में कमी होगी और धनी व्यक्तियों की आयु में वृद्धि । परिणामस्वरूप धनी व्यक्ति अधिक धनी हो जायेंगे और निर्धनों की स्थिति पहले से और अधिक खराब हो जायेगी ।

उपर्युक्त दोनों –ष्टिकोणों में, यह ध्यान में रखा गया है कि राष्ट्रीय आय की मात्रा में कोई परिवर्तन नहीं होता है । सारांश रूप में कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय आय का वितरण धनी व्यक्तियों से निर्धन व्यक्तियों की ओर होना चाहिए, जिससे उनकी आर्थिक स्थिति सुधरे । साथ ही बुरे व्यसनों से अपने आपकों अलग करना चाहिए । इसके परिणामस्वरूप आर्थिक कल्याण में वृद्धि होगी ।

राष्ट्रीय आय में स्थायित्व एवं आर्थिक कल्याण (Stability in National Income and Economic Welfare) - आय का स्थायित्व किसी भी राष्ट्र के आर्थिक कल्याण को प्रभावित करता है । स्थायित्व का आशय है, राष्ट्रीय आय में वृद्धि किसी एक स्थिर दर से होती रहे । यदि राष्ट्रीय आय में स्थायित्व होता है, तो इसका आर्थिक कल्याण पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है । इसके विपरीत राष्ट्रीय आय में परिवर्तन होते रहने पर आर्थिक कल्याण पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है । यदि राष्ट्रीय आय में वृद्धि स्थिर दर 'से होती है जो इससे देश के उधमकर्ताओं, विनियोगकर्त्ता व बचतकर्ताओं में साहस व विश्वास पनपता है और आय में वृद्धि की प्रेरणा मिलती है । परिणामस्वरूप आय में पहले से अधिक वृद्धि होती है । राष्ट्रीय आय में स्थिर दर से वृद्धि होती है, उपभोग व्यय में वृद्धि होती है, लोगों के जीवन स्तर में सुधार आता है, कुल मिलाकर समाज के आर्थिक कल्याण में वृद्धि होती है । यदि राष्ट्रिय आय में उतार-चढ़ाव आते हैं तो

उत्पादन, उपभोग व वितरण पर प्रतिकुल असर पड़ेगा । स्थायित्व के अभाव में बचत, विनियोग व पूँजी निर्माण में कमी आयेगी । और आर्थिक कल्याण में कमी आयेगी ।

14.8 सारांश

राष्ट्रीय आय की गणना समष्टि आर्थिक विश्लेषण का महत्वपूर्ण भाग है । राष्ट्रीय आय की गणना के संबंध में मार्शल, पीगू तथा फिशर ने अलग-अलग दृष्टिकोण प्रस्तुत किये हैं । मार्शल ने एक देश में एक वर्ष में उत्पन्न सभी वस्तुओं एवं सेवाओं के शुद्ध मौद्रिक मूल्य को राष्ट्रीय आय कहा है । पीगू ने किसी देश की वास्तविक आय का जिसमें विदेशों से प्राप्त आय भी शामिल है, वह भाग जिसे मुद्रा मापा जा सके, राष्ट्रीय आय कहा है । फिशर ने एक वर्ष मे एक देश क नागरिकों द्वारा उपयोग की गई वस्तुओं एवं सेवाओं के मूल्य को भी राष्ट्रीय आय कहा है । सभी परिभाषाओं को अपना- अपना महत्व है, किन्तु मार्शल की परिभाषा को अत भी ठीक माना जाता है ।

राष्ट्रीय आय की अनेक अवधारणा में प्रचलित है जैसे सकल घरेलू उत्पादन, सकल राष्ट्रीय उत्पादन, साधन लागत पर राष्ट्रीय आय, बाजार मूल्य पर राष्ट्रीय आय, शुद्ध घरेलू उत्पाद राष्ट्रीय आय, व्यक्तिगत आय, उपयोग आय, आदि । राष्ट्रीय आय गणना की भी अनेक विधियाँ प्रचलित हैं । इसमें उत्पादन संगणना विधि, आय संगणना विधि, व्यय संगणना विधि, सामाजिक लेखांकन विधि आदि प्रमुख हैं । राष्ट्रीय आय की गणना अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है । इसके आधार पर आर्थिक प्रगति की सूचना, साधनो का प्रयोग, आय स्त्रोतों की तुलनात्मक जानकारी, अर्थव्यवस्था की विभिन्न देशों व क्षेत्रो से तुलना, सरकारी नीति का आधार, व्यापार चक्रों का विशलेषण, जीवनस्तर का ज्ञान आदि का अध्ययन किया जाता है । राष्ट्रीय आय की गणना में अनेक कठिनाइयाँ आती हैं जैसे दोहरी गणना की समस्या, अवैध क्रियाओं से आय, अमौद्रिक विनिमय, हस्तान्तरण, भुगतान की आय, सेवाओं क संबंध में विरोभासा विश्वसनीय समंकों का अभाव आदि पर्याप्त सावधानी रखकर इनमें से बहुत सी समस्याओं पर नियंत्रण पाया जा सकता है । राष्ट्रीय आय व देश के आर्थिक कल्याण में संबंध होता हैं' । सामान्यत: राष्ट्रीय आय में वृद्धि से आर्थिक कल्याण बढ़ता है किन्तु राष्ट्रीय आय में वृद्धि का लाभ गरीब वर्ग को मिलने पर ही कल्याण बढ़ेगा अन्यथा नहीं ।

14.9 शब्दावली

1. **राष्ट्रीय आय -** देश के श्रम पूँजी द्वारा प्राकृतिक साधनों के सहयोग से प्रतिवर्ष कुछ भौतिक एवं अनैतिक वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन किया जाता है । इनके शुद्ध योग के राष्ट्रीय आय कहते हैं ।
2. **सकल घरेलू उत्पाद -** किसी देश में एक वर्ष की अवधि में उत्पन्न होने वाली समस्त अन्तिम वस्तुओं एवं सेवाओं के बाजार मूल्य के योग को सकल घरेलू उत्पादक कहते हैं ।

3. **शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन :-** सकल राष्ट्रीय उत्पादन में घिसावट व अप्रचलन के व्यय घटाकर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन ज्ञात किया जाता है ।
4. **राष्ट्रीय आय :-** शुद्ध राष्ट्रीय आय उत्पादन को ही राष्ट्रीय आय कहते है । वितरण की –ष्टि से राष्ट्रीय आय समस्त उत्पादन साधनों को प्राप्त आय का योग होती है।
5. **व्यक्तिगत आय :-** किसी देश के व्यक्तियों को आय के रूप में जो कुल मौद्रिक भुगतान प्राप्त होता है, उसे व्यक्तिगत आय कहते हैं ।
6. **सामाजिक लेखांकन :-** इस विधि द्वारा राष्ट्रीय आय की गणना के लिए अर्थव्यवस्था के विभिन्न समूहों एवं उप-समूहों के लेखों को तैयार किया जाता है । तत्पश्चात इन लेखों के समूहीकरण द्वारा राष्ट्रीय आय की गणना की जाती है ।

14.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. मार्शल द्वारा राष्ट्रीय आय की दी गई परिभाषा लिखिए ।
2. फिशर द्वारा राष्ट्रीय आय की अवधारणा लिखिए ।
3. मार्शल की राष्ट्रीय आय की परिभाषा की आलोचनाएँ लिखिए ।
4. सकल राष्ट्रीय आय व शुद्ध राष्ट्रीय आय का समझाइए ।
5. सामाजिक लेखांकन विधि से क्या अभिप्राय है ?
6. क्या राष्ट्रीय आय में वृद्धि से आर्थिक कल्याण मे वृद्धि होती है ?
7. राष्ट्रीय आय की परिभाषा दीजिए व इसका महत्व बताइए ।
8. राष्ट्रीय आय की माप किस प्रकार की जाती है ?
9. राष्ट्रीय आय की परिभाषा कीजिए । कुल राष्ट्रीय उत्पादन तथा शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन में अन्तर स्पष्ट कीजिए ।
10. राष्ट्रीय आय व आर्थिक कल्याण में सम्बन्ध बताइए ।

14.11 संदर्भ ग्रन्थ

1. **V.K Mankar, Business Economics, Himalaya Publishing House, Bombay and Delhi.**
2. Dr. D.M. Mithani & V.S.R. Murthy, Fundamentals of Business Economics, Himalaya Publishing House, Dehli.
3. **Dr. C.S. Barla, Managerial Economics, Malik & Company, Delhi, Jaipur.**
4. M.L. Seth, Micro Economics.
5. **Mishra and Puri, Business Economics, Himalaya Publishing House, Dehli.**
6. Agarwal and Somdeo, Business Economics, RBD, Jaipur.

7. एच.एल. आहूजा, एस. चान्द, व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण ।
8. एम.एल. झिंगन, समष्टि अर्थशास्त्र, **Vrinda publication Delhi.**
9. एम.सी. वैश्य, समष्टि अर्थशास्त्र, मलिक एण्ड कम्पनी, जयपुर ।

इकाई-15 केन्ज का रोजगार सिद्धान्त एवम् व्यापार-चक्र (Keyncxan Theory of Employment and Business Cycles)

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य

15.1 परिचय/उदगम

15.2 केन्ज के सिद्धान्त की विवेचना

15.3 केन्ज के रोजगार सिद्धान्त के प्रमुख घटक,

15.4 सामान्य रोजगार सिद्धान्त का सार

15.5 रोजगार सिद्धान्त का महत्व/उपयोगिता

15.6 रोजगार सिद्धान्त की कमियॉ/आलोचनाएँ

15.7 केन्ज का सिद्धान्त एवम् विकासशील राष्ट्र

15.8 केन्ज के सिद्धान्त का प्रतिष्ठित सिद्धान्त से विचलन

15.9 निष्कर्ष

15.10 व्यापार चक्र की अवधारणा विशेषताएँ

15.11 व्यापार चक्र की अवस्थाएँ

15.12 केन्ज के व्यापार चक्र का सिद्धान्त

15.13 निष्कर्ष

15.14 शब्दावली

15.15 अभ्यासार्थ प्रश्न

15.16 सन्दर्भ ग्रन्थ

15.0 उद्देश्य

केन्ज के रोजगार सिद्धान्त एवम् व्यापार चक्र के अध्ययन करने के मुख्य उद्देश्य इस प्रकार हैं :-

1. आपको यह जानकारी हो सके कि अर्थव्यवस्था में रोजगार वृद्धि हेतु केन्ज ने किन प्रभावी उपकरणो की विवेचना की हैं ।
2. केन्ज के पूर्व के अर्थशास्त्रियो ने रोजगार वृद्धि हेतु जिन उपकरणों का प्रयोग किया उनको प्रभावशीलता कितनी रही थी ।
3. केन्ज का रोजगार सिद्धान्त भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए कितना उपयोगी हैं ।
4. व्यापार चक्र क्या होते है । यह रोजगार को किस प्रकार से प्रभावित करते हैं ।
5. व्यापार चक्र की अवधारणा, विशेषता, उनकी अवस्थाओं एवम् केन्ज को व्यापार सिद्धान्त से अवगत करवाना ।

15.1 केन्ज का रोजगार सिद्धान्त का परिचय

एक क्रमबद्ध रूप में रोजगार सिद्धान्त प्रस्तुत करने का श्रेय लार्ड **जे. एम. केन्ज** को प्राप्त है, इसलिए जे. एम. केन्ज बीसवीं शताब्दीं के सर्वाधिक प्रभावशाली एवं महानतम अर्थशास्त्री हैं । उनकी रोजगार, ब्याज एवं मुद्रा का सिद्धान्त' **(The General Theory of Employment, Interest and Money**) नाम की महान् कृति को आज वही सम्मान प्राप्त है जो एडम स्मिथ (Adam Smith) की सुविख्यात पुस्तक 'वैल्थ ऑफ नेशन्स (Wealth of Nations), कार्ल मार्क्स (Karl Marx) की 'दास कैपीटल' (Das Kapital) और डारविन (Darwin) की ओरीजन ऑफ स्पेसीज (Origin of Species) को। इसकी मौलिकता एवं नवीनता की प्रकृति के कारण केन्ज के रोजगार सिद्धान्त को नवीन अर्थशास्त्र (New Economics) की संज्ञा दी जाती है । केन्ज के पूर्व रोजगार का प्रतिष्ठित सिद्धान्त के नाम से प्रतिपादित हुआ । प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों द्वारा

पूर्ण-रोजगार को एक स्वतन्त्र अर्थ व्यवस्था की सामान्य स्थिति माना गया था । फलस्वरूप अलग से किसी विशेष रोजगार सिद्धान्त की आवश्यकता नहीं रहती । इसलिए प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने रोजगार के उपलब्ध साधनों का अध्ययन किया और इनके विभि**é** उपयोगों में वितरण की समस्या पर भी विचार किया, परन्तु इस ओर बहुत कम ध्यान दिया गया कि उपलब्ध साधनों का वास्तविक रोजगार कैसे निर्धारित होता हैं ? प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने रोजगार सम्बन्धी व्याख्या का आधार 'से' के नियम को माना था ।

क्लासीकल सिद्धान्त के अनुसार आर्थिक क्षेत्र में सरकारी हस्तक्षेप वर्जित हैं । इसी सिद्धान्त को लेकर केन्ज ने अपनी जनरल थ्यौरी में निर्बाध पूंजी-वाद का खण्डन किया था । अत: क्लासीकल अर्थशास्त्र एवं केंीजयन अर्थशास्त्र में यथार्थ अन्तर पाया जाता है । लेकिन इसका यह अभिप्राय नहीं है कि केन्ज का क्लासीकल अर्थशास्त्र से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है । वस्तुत: केन्ज के लेखों में अनेक स्थलों पर क्लासीकल सिद्धान्तों का प्रभाव स्पष्ट दिखायी देता है । पूर्ण प्रतियोगिता की धारणा जो केंीजयन अर्थशास्त्र की मुख्य मान्यता है, वास्तव में क्लासीकल अर्थशास्त्र की ही देन हैं ।

रोजगार का क्लासीकल सिद्धान्त-'से' का नियम (The Classical Theory of Employment Say's Law)

रोजगार का क्लासीकल सिद्धान्त यह मानकर चलता है कि श्रम एवं अन्य साधन सदैव पूर्णत: कार्य-संलग्न (fully employed) रहते है । अर्थात पूर्ण रोजगार सामान्य स्थिति मानी जाती थी और उसमें हुआ कोई भी परिवर्तन गैर-सामान्य समझा जाता था । यदि किसी समय पूर्ण रोजगार की वास्तविक स्थिति नहीं होती तो भी क्लासीकल अर्थशास्त्र के अनुसार पूर्ण रोजगार की प्रवृत्ति सदैव विद्यमानमान रहती है । क्लासीकल मान्यता के अनुसार आर्थिक शक्तियों की निर्बाध क्रियाशीलता के परिणामस्वरूप श्रम-सहित

समस्त आर्थिक साधनों का स्वयं ही पूर्ण प्रयोग होता रहता है । **प्रो. से'** द्वारा प्रतिपादित 'बाजार-नियम (Say's Law of **Markets)** एक्लासीकल अर्थशास्त्र की इसी मान्यता की पुष्टि करता है कि निर्बाध व्यापार के अन्तर्गत सभी साधनों को सदा ही पूर्ण रोजगार प्राप्त होता रहता है । वस्तुत: **प्रो. जे. बी.** से एक फ्रांसीसी अर्थशास्त्री थे । उन्होंने अपने ट्रेट डी' एकॉनोमिक पॉलिटिकल (traite d' Economic Politique) नामक पुस्तक में इस नियम का प्रतिपादन किया था । उनका यह ग्रन्थ आगे चलकर फ्रांस में अर्थशास्त्र की एक अति लोकप्रिय कृति बन गया । **प्रो. 'से'** के नियम के अनुसार देश में सामान्य अति-उत्पादन **(General over Production)** एवं सामान्य बेरोजगारी **(General unemployment)** की दशाएँ उत्पन्न हो ही नही सकती । क्योंकि "पूर्ति स्तव: ही सदैव अपनी माँग को उत्पन्न करती है **(Supply always creates its own demand) । प्रो. 'से'** का कथन है कि उत्पादन ही माल के लिए बाजार का सृजन करता है । उनके अनुसार, माँग का मुख्य स्त्रोत उत्पादन के विभिन्न साधनों को प्राप्त होने वाली आय होती हैं और यह आय उत्पादन-प्रकिया से स्वत: ही उत्पन्न होती है । जब कभी उत्पादन की कोई नवीन प्रकिया प्रारम्भ की जाती है और उसके परिणामस्वरूप एक निश्चित उत्पादन उपलब्ध होता है, तो उत्पादन के साथ ही साथ माँग इसलिए बढ़ती है क्योंकि उत्पादन में लगे हुए साधनों को पारिश्रमिक मिलता है । दूसरे शब्दों में, प्रत्येक उत्पादन की मात्रा के परिणामस्वरूप देश के परिचलन **(circulation)**ए में उतनी ही मात्रा की क्रय-शक्ति प्रविष्ट हो जाती है फलत: जितना माल तैयार होता है, वह सारा का सारा स्वत: ही बिक जाता है । इस प्रकार अति-उत्पादन **(Surplus or over production)** का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता है । इसप्रकार क्लासीकल अर्थशास्त्री प्रो. 'से' के नियम को स्वीकार करते हुए यह मानते हैं कि किसी भी समय बेरोजगारी नहीं हो अथवा सदैव पूर्ण रोजगार की दशा बनी रहती है । लेकिन क्लासीकल अर्थशास्त्रियों की पूर्ण रोजागार के सम्बन्ध में की गयी इस मान्यता में कुछ सीमा तक ऐच्छिक बेरोजगारी (Voluntary unemployment) तो सम्मिलित है । ऐच्छिक बेरोजगारी की दशा तभी उत्पन्न होती है जब मजदूर चालू मजदूरी (Current Wages) से कुछ कम मजदूरी को लेना अस्वीकार कर देते है । मजदूरी की ऊँची दर पाने के लिए मजदूरों द्वारा हड़तालों का किया जाना ऐच्छिक बेरोजगारी का ही उदाहरण है । अत: ऐसी अवस्था में जब कार्य उपलख हो और तब भी कोई व्यक्ति कार्य न करना चाहे तो ऐसी दशा को बेरोजगारी की दशा नहीं कहना चाहिए । इसी प्रकार, क्लासीकल अर्थशास्त्रियों के पूर्ण रोजगार (Fully employment) में किसी सीमा तक संधर्षज बेजोजगारी (frictional unemployment) भी विद्यमानमान रहती है । यह एक ऐसी बेरोजगारी है जो विशुद्धत: श्रम-बाजार सम्बन्धी अपूर्णताओं (imperfections of the labour market) आदि जैसे संधर्षज कारणों से उत्पन्न होती है । ऐसी बेरोजगारी का एक मुख्य कारण यह भी है कि श्रमिकों को

रोजगार सम्बन्धी अवसरों के बारे में जानकारी का अभाव रहता है । बहुत-से श्रमिक केवल इन्हीं अड़चनता के ही कारण बेरोजगार रहते हैं । क्लासीकल अर्थशास्त्रियों का कथन है कि इस प्रकार की बेरोजगारी एक पूर्ण रोजगारयुक्त समाज में भी हो सकती है । वे यह भी स्वीकार करते हैं कि उनके पूर्ण रोजगारयुक्त समाज में अनेच्छिक बेरोजगारी (Involuntary unemployment) भी हो सकती है । ये यह मानने को भी तैयार नहीं है कि काम चाहने वाले श्रमिकों को काम नहीं मिलता है । अनेच्छिक बेरोजगारी की अनुपस्थिति ही क्लासीकल अर्थशास्त्रियों का मूलभूत विचार है । आप इस कथन को अच्छी'प्रकार से समझ सकते हो कि वास्तविक जीवन में अनैच्छिक बेरोजगारी (Involuntary unemployment) पायी जाती है जिसके अनेक कारण होते है । क्यों कि अर्थव्यवस्था में पूर्ति अपनी मांग स्वत: सृजित नहीं कर सकती है । इस तथ्य की पुष्टि तीसा की महान मन्दी में हो गयी थी ।

आलोचकों के अनुसार, सन् 1929-30 की महान् मन्दी के दौरान प्रो. 'से' के नियम की असत्यता पूर्ण रूप से सि) हो गयी थी जबकि सभी पूंजीवादी देशों में सरकारों को सामान्य अति-उत्पादन General over- production) की जटिल समस्या का सामना करना पड़ा था । उस समय पूर्ति अपनी माँग का सृजन न कर सकी थी । आलोचकों का कहना है कि व्यापार-चक्र (trade cycle) की किया शीलता ही प्रो. 'से' के नियम की असत्यता का सुस्पष्ट प्रमाण है । आलोचकों के अनुसार प्रो. 'से' की उक्त धारणा स्वीकार नहीं की जा सकती क्योंकि लगभग सभी पूँजीवादी देशों में बेरोजगारी पायी जाती है और कभी-कभी तो यह बेरोजगारी बहुत तीव्र (intense) एवं दीर्धकालीन होती है । ऐसी परिस्थिति में मजदूरी-स्तर (wages level) में की जाने वाली कटौती भी बेरोजगारी की समस्या को हल करने में असमर्थ रहती है । कभी-कभी तो मजदूरी में कटौती का विपरीत ही प्रभाव पड़ता है और स्थिति सुधरने के बजाय बिगड़ जाती है । इसका कारण यह है कि मजदूरी में कटौती में मजदूरी की क्रय-शक्ति घट जाती है और परिणामत: कुल माँग में कमी हो जाती है । इस प्रकार स्पष्ट हे कि रोजगार का प्रतिठित सिद्धान्त पूर्ण रोजगार की दशाए बनाये रखने में सफल नही हो पाया । इसलिए प्रो. केन्ज ने इस सिद्धान्त पर प्रहार करते हुए नये सिद्धान्त की विवेचना की जिसे केन्ज के रोजगार सिद्धान्त के नाम से जाना जाता है ।

15.2 केन्ज के सिद्धान्त की विवेचना

"केन्ज पहले ऐसे अर्थशास्त्री थे जिन्होने अर्थव्यवस्था में सन्तुलन बनाये रखने के लिए सरकारी हस्तक्षेप की अवधारणाको अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकार किया वस्तुत: केन्ज द्वारा प्रतिपादित रोजगार-सिद्धान्त प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत की गयी व्याख्या से सर्वथा भिन्न है । केन्ज के अनुसार रोजगार का स्तर प्रभावपूर्ण मांग पर निर्भर करता है जिसका निर्धारण उपभोग की प्रवृU) तथा विनियोग की मात्रा द्वारा होता है । चूँकि अल्पकाल उपभोग-प्रवृति सामान्यतया स्थिर ही रहती है,। इसलिए रोजगार के स्तर में

उतार चढ़ाव मुख्यत: विनियोग की मात्रा में होने वाले परिवर्तनों पर ही निर्भर करती हैं । इस प्रकार केन्ज के विचार में अल्पकाल में रोजगार स्तर तथा आय की मात्रा वस्तुओं के किए प्रभावपूर्ण मांग (effective demand) पर निर्भर करती हैं । साधारण शब्दों में प्रभावपूर्ण मांग से अभिप्राय वस्तुओं को खरीदने की सामर्थ्य से है । वस्तुओं को खरीदने की सामर्थ्य जितनी अधिक होगी उतनी मांग अधिक होगी उसी अनुरूप उत्पादन में वृद्धि होगी एवम उत्पादन के साधनों की मांग में वृद्धि होगी, फलस्वरूप रोजगार के अवसरो में भी वृद्धि होगी । वस्तुत: किन्स द्वारा प्रतिपादित रोजगार सिद्धान्त प्रथम क्रमवद्ध रोजगार-सिद्धान्त हैं । इस सिद्धान्त को प्राय: न्यूनमांग-सिद्धान्त (demand deficiency theory) कह कर भी पुकारा जाता है ।

रोजगार-निर्धारण (DETERMINATION OF EMPLOYMENT)

मापन की अन्य किसी उपयुक्त इकाई (Unit of measurement) के अभाव में, केन्ज राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में कुल उत्पादन(total output) को रोजगार के रूप में ही मापते है । केन्ज की मान्यता यह थी कि जितना ही अधिक उत्पादन होगा, रोजगार की मात्रा भी उतनी ही अधिक होगी, और जितना कम उत्पादन होगा, रोजगार की मात्रा भी उतनी ही कम होगी, अर्थात् रोजगार की कमी-पेशी उत्पादन की कमी-पेशी के अनुसार होती है । किन्तु राष्ट्रीय उत्पादन प्रभावपूर्ण माँग पर आधारित होता है । दूसरे शब्दों में, रोजगार की मात्रा-प्रभावपूर्ण माँग पर निर्भर करती है । प्रभावपूर्ण माँग के दो अंग होते हैं (A) उपभोग-माँग (comsumption demand), और (B) निवेश-माँग (investment demand) प्रथम माँग उपभोग-वस्तुओं की माँग से सम्बन्धित होती है और द्वितीय प्रकार की माँग पूँजीगत वस्तुओं (Capital goods) की माँग कहलाती है । यह प्रभावपूर्ण माँग ही है जिस पर रोजगार की मात्रा निर्भर करती है । चूँकि रोजगार प्रभावपूर्ण माँग पर निर्भर करता है, अत: यह स्पष्ट है कि पर्याप्त प्रभावपूर्ण माँग की कमी से ही बेरोजगारी फैलती है और यदि बेरोजगारी का उपचार करना है तो प्रभावपूर्ण माँग में वृद्धि की जानी चाहिए । आपको यहा यह समझना चाहिए कि पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में कुल प्रभावपूर्ण माँग की कमी क्यों होती है ? इसका उत्तर स्पष्ट है । जब राष्ट्रीय आय (National Income) बढ़ती है तो राष्ट्रीय उपभोग (national comsumption) राष्ट्रीय आय के अनुपात में नहीं बढता है, अथवा सामुदायिक आय (community income) और सामुदायिक उपभोग के बीच एक अन्तराल (gap) उत्पन्न हो जाता है । जब तक इस अन्तराल को निवेश-वृद्धि द्वारा पाट नहीं दिया जाता तब तक बेरोजगारी को समाप्त नहीं किया जा सकता है । अत: सारांश यह है कि रोजगार की समुन्नति (Promotion**)** के लिए प्रभावपूर्ण माँग को निवेश-वृद्धि के माध्यम से बढ़ाना चाहिए ।

आपको उपयुक्त विवेचना से स्पष्ट हुआ होगा कि प्रभावपूर्ण माँग ही रोजगार का एकमात्र निर्धारक है । यही कारण है कि यह रोजगार-सिद्धान्त का एक महत्वपूर्ण अंग

है । यही पर हमें प्रभावपूर्ण माँग की धारणा का कुछ अधिक बारीकी से विश्लेषण करना चाहिए और उन तथ्यों का अध्ययन करना चाहिए जिन पर यह आधारित रहती है । प्रभावपूर्ण माँग का निर्धारण दो तत्वों से होता है जिनको केन्ज ने क्रमश: 'कुल माँग-क्रिया' (Aggregate Demand Function) तथा 'कुल पूर्ति क्रिया' (Aggregate Supply Function) कहकर पुकारा है । कुल माँग-क्रिया (A.D.F.) द्रव्य की उन भिé-भिé राशियों (amount) की अनुसूची (Schedule) होती है जिनकी (रोजगार के भिé-भिé स्तरों पर) उ।मियों को अपने उत्पादन की बिक्री से प्राप्त होने की आशंसा (expectation) रहती है । आप इस तथ्य को अच्छी तरह से स्वीकार करेगें की किसी भी दशा में लागतों को प्राप्तियों से अधिक नहीं होना चाहिए । यह रोजगार के किसी विशेष स्तर पर उ।मियों को यह पता लग जाता है कि उनकी प्राप्तियाँ, लागतों की अपेक्षा कम हैं, तो वे उत्पादन का स्थगन करके मजदूरों को काम देने से इन्दगर कर देंगे । यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि जब तक लागतें, प्राप्तियों से कम रहती है, उ।मकŸkk उत्पादन बढ़ाकर रोजगार में वृद्धि करते चले जाता हैं । यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक लागतें और प्राप्तियाँ समान नहीं हो जातीं । स्मरण रहे, यदि लागतें प्राप्तियों से अधिक होती है तो उ।मकŸkk किसी भी दशा में मजदूरों को रोजगार प्रदान नहीं करेगें । इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रभावपूर्ण माँग उस सम्पूर्ण खचें अथवा व्यय को व्यक्त करती है जो रोजगार के किसी सन्तुलन स्तर पर किये गये सम्पूर्ण उत्पादन पर किया जाता है । दूसरें शब्दों में, यह कुल उत्पादन का मूल्य है । चूँकि कुल उत्पादन का मूल्य ही राष्ट्रीय आय कहलाता है, इसीलिए कुल व्यय तथा कुल आय एक-दूसरे के बराबर होते है । कुल उत्पादन में उपभोग-पदार्थ तथा पूँजीगत अथवा निवेश-पदार्थ सम्मिलित होते हैं । इसलिए कुल व्यय से अभिप्राय उपभोग-व्यय तथा निवेश-व्यय से है, जो कि उपभोग-पदार्थो तथा निवेश-पदार्थो की बिक्री से प्राप्त कुल रकम के बराबर होता है । अब हम इस बात को पुन: इस भाँति व्यä कर सकते है : रोजगार प्रभावपूर्ण मांग (E.D.) पर निर्भर रहता है और प्रभावपूर्ण माँग स्वयं कुल माँग-क्रिया (अथवा प्राप्तियों–receipts) एवं कुल पूर्ति-क्रिया (अथवा लागतों-Costs) से शासित होती है । प्रभावपूर्ण माँग की एक ऐसा बिन्दु है जहॉ इन दोनों (A.D.F. और A.S.F.) का पूर्ण सन्तुलन होता है, बिलकुल वैसे ही जैसे कीमत के बिन्दु पर । पूर्ति एवं माँग का पूर्ण सन्तुलन हो जाता है ।

15.3 केन्ज के रोजगार सिद्धान्त के प्रमुख घटक

कुल मॉग-कीमत (Aggregate demand price) से अभिप्राय मुद्रा की उस राशि अथवा विक्रय-प्राप्ति (Sale Proceeds) से है जिसे रोजगार के किसी विशेष स्तर पर उत्पादित माल को बेच कर वसूल करने की आशा की जाती है । अर्थात अर्थ-व्यवस्था में रोजगार के एक निश्चित स्तर पर हुए कुल उत्पादन के बेचने से जितनी कुल रकम प्राप्त होने की सम्भावना होती है वह रोजगार के उस स्तर पर कुल माँग की कीमत

को व्यक्त करती है । स्पष्ट है कि उत्पादन अथवा रोजगार के एक निश्चित स्तर पर माल की बिक्री से कितनी रकम प्राप्त करने की आशा की जा सकती है, यह वस्तुओं तथा सेवाओं की माँग (अर्थात् कुल व्यय की मात्रा) पर निर्भर करती है । रोजगार के अलग-अलग स्तरो पर कुल माँग-कीमतें भी अलग-अलग होंगी । रोजगार के भिन्न-भिन्न स्तरों के अनुसार उनकी कुल मांग कीमत की सारणी (aggregate demand price schedule) को केन्ज ने कुल माँग क्रिया (Aggregate demand Function-ADF) कहा है ।

कुल पूर्ति-कीमत (Aggregate Supply Price) उस मुद्रा-राशि अथवा विक्रय-प्राप्ति को व्यä करती है जो कि रोजगार के किसी विशेष स्तर पर उत्पादन की बिक्री से उद्यमीमियों को मिलनी ही चाहिए । रोजगार के एक निश्चित स्तर पर श्रमिकों द्वारा किये गये उत्पादन की बिक्री से जो रकम उद्यमीयों को अवश्य मिलनी ही चाहिए, ताकि उन श्रमिकों को काम पर लगाये रखा जा सके, कुल पूर्ति की कीमत है । किसी भी उद्यमी को अपने माल की कीमत कम-से-कम कितनी मिलनी चाहिए यह उसकी उत्पादन-लागत पर निर्भर करता है । रोजगार का कोई भी स्तर तभी तक बनाये रखना सम्भव होगा जब तक कि उस स्तर पर माल की बिक्री से प्राप्त होने वाली मुद्रा-राशि उत्पादन लागत की राशि से कम नहीं होगी । कुल माँग-कीमत की भाँति अर्थ व्यवस्था में रोजगार के भिन्न-भिन्न स्तरों के अनुसार उनकी कुल पूर्ति कीमत होगी । कुल-पूर्ति कीमतों की सारणी को केन्ज ने कुल पूर्ति-क्रिया (Aggregate Supply Function-ASF) कहा है ।

सरल शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि किसी अर्थ-व्यवस्था में कुल माँग-क्रिया (ADF) उद्यमीयों की प्राप्तियों (receipts) और कुल पूर्ति-क्रिया (ASF) उनकी कुल लागतों (Costs) का प्रतिनिधित्व करते हैं । यहा आप यह समझ गये होगें कि यही दोनों तत्व अर्थ-व्यवस्था में रोजगार-स्तर को निर्धारित करते हैं । रोजगार का विस्तार तब तक होता है जब तक कि लागतें प्राप्तियों से कम रहती हूँ और उनके एक-दूसरे के बराबर होने तक यह क्रम चलता रहता है । यह तो निश्चित ही है कि लागतें प्राप्तियों से अधिक होने पर उद्यमकर्ता रोजगार देने के लिए तैयार नहीं होंगे ।

यदि कुल माँग-क्रिया (ADF) तथा कुल purti-क्रिया (ASF) की वक्र-रेखाएँ (Curves) तैयार की जाये तो जिस बिन्दु पर यह दोनों रेखाऐं एक-दूसरे को काटती हैं वह प्रभावपूर्ण माँग (effective demand) का बिन्दु है । इस प्रकार प्रभावपूर्ण माँग का बिन्दु वह है जो यह दिखाता है कि रोजगार के एक विशेष स्तर पर कुल माँग-कीमत (अर्थात् प्राप्तियाँ) तथा कुल पूर्ति-कीमत (अर्थात लागतें) एक-दूसरे के बराबर हैं । यह अल्पकालीन सन्तुलन-बिन्दु है जो रोजगार-स्तर को निर्धारित करता हैं । इसे रेखा चित्र नं. 1 से स्पष्ट किया है ।

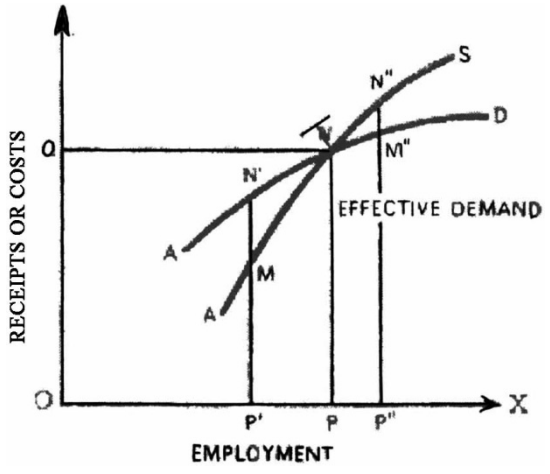

रेखा चित्र नं. 1

रेखा चित्र नं. 1 से स्पष्ट हे कि प्रभावपूर्ण मांग बिन्दु का निधारण (ADF) और (A.S.F.) की परस्पर क्रियाओं द्वारा निश्चित होता है । रेखा चित्र से यह भी स्पष्ट हे कि ये दोनों वक्र एक दुसरे को T बिन्दु पर काटते है । यही बिन्दु प्रभावपूर्ण मांग का बिन्दु है । इस बिन्दु पर OQ प्राप्तिया (receipts) लागतें (Costs)[1] OP उपलब्ध रोजगार को व्यक्त करता है । रेखा चित्र से आपको यह भी स्पष्ट हो रहा है कि N"M" ही उद्यमियों को अधिक लाभ होगा । वही दूसरी और P^{11} पर ASF लागतें ADF प्राप्तियो से अधिक है, अत: OP^{11} संख्या में लोगों को रोजगार नहीं दिया जा सकता है ।

लेकिन आपको यहा यह भी स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये कि T पर (जो कि कटान-बिन्दु है) अर्थव्यवस्था पूर्ण रोजगार की अवस्था में नही होगी । क्योंकि A.D.F.एवं A.S.F. का सन्तुलन ऐसे बिन्दु पर भी होता है या हो सकता है जहा पूर्ण रोजगार से कम की दशा होती हैं A.D.F.एवम् A.S.F. पूर्ण रोजगार की दशा में बराबर हो सकते हे किन्तु शर्त यह है कि निवेश मांग (Investment demand) उपभोग एवं पूर्ण रोजगार से सम्बन्धित आय के बीच के अन्तराल को पाट सकने के लिए पर्याप्त उँची हो । केन्ज के अनुसार यह साधारण निवेश मांग सामान्यत: इन दोनों कें बीच के अन्तराल को बाँट सकने में पर्याप्त नही होती है । अत: A.D.F.एवं A.S.F. के वक्र पूर्ण रोजगार से कम के बिन्दु पर ही एक दूसरे को काटेंगे ।

यहा पर आपको यह भी ध्यान रखना होगा कि केन्ज ने अपने सामान्य सिद्धान्त (General Theory) में इन दोनों शक्तियों (A.D.F.एवं A.S.F.) में से A.S.F. पर अधिक ध्यान नहीं दिया है । उन्होंने केवल A.D.F.पर पूर्ण ध्यान दिया है । वास्तव में, वह A.S.F. को स्थिर मानते हैं । क्यो ? इसका कारण यह है कि केन्जिजयन अर्थशास्त्र अल्पकालीन अर्थशास्त्र है जो केवल अल्पकाल की ही व्याख्या करता है । अल्पकाल में लागतों में फेर-बदल (manipulation) नहीं की जा सकती । यदि युक्तिकरण (rationalisation) आदि द्वारा A.S.F. (लागतों) में फेर-बदल

(manipulation) करने का प्रयोग-किया जाता है । तब औद्योगिक युक्तिकरण से मशीनों का प्रयोग बढ़ जाता है जिससे बेरोजगारी उत्पन्न होती है । अत: युक्तिकारण का अर्थव्यवस्था को कोई लाभ नही होगा । इस प्रकार, यदि बेरोजगारी के समय लागतों को कम किया जाता है (अथवा A.S.F. में फेर-बदल की जाती है) तो परिणाम यह होता है कि बेरोजगारी घटने की अपेक्षा और अधिक बढ़ जाती है । इसी कारण केन्ज ने A.S.F. को अछूता छोड़ दिया और इसे एक ऐसी स्थिर मात्रा मान लिया जिसमें बदला किया ही नहीं जा सकता था ।

किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नही है कि A.S.F. बिलकुल ही महत्वहीन होता है । स्फीति-पूर्ण दशा (inflationary situation) में जबकि पूर्ण अथवा पूर्ण से भी अधिक रोजगार **(over-full employment**) होता है तब A.S.F.में फेर-बदल (manipulation) करना अनिवार्य हो जाता है । उस समय लागतों को कम करने के सभी सम्भव उपाय करने चाहिए । इन उपायों में युक्तिकरण (rationalisation) एवं मशीनीकरण (mechanisation) को भी सम्मिलित करना पड़ेगा । ऐसे अवसर पर युक्तिकरण रोजगार पर कोई विपरीत प्रभाव नहीं डालेगा ।

उपयुक्त विवेचना से आप समझ गये होगें कि केन्ज ने अपने 'सामान्य सिद्धान्त' (General Theory) में A.D.F.पर विशेष ध्यान दिया है । (General Theory) में इसी कारण कुछ लेखक केन्ज के रोजगार-सिद्धान्त को कुल माँग सिद्धान्त' (Theory of Aggregate Demand) कहते हैं । केन्ज के अनुसार A.S.F. को स्थिर मानते हुए सामान्य सिद्धान्त का सार यह है कि प्रभावपूर्ण माँग अथवा रोजगार का निर्धारण A.D.F. द्वारा किया जाता है । अत: यदि रोजगार की वृद्धि करना है तो हमें उपमोग्य एवं निवेश दोनों ही वस्तुओं पर होने वाले व्यय में वृद्धि करना पडेगी । आपको पूर्ण में ही समझाया जा चुका है कि केन्ज अर्थशास्त्र व्यय का अर्थशास्त्र (economics of spending) है । यदि अर्थ-व्यवस्था में अवस्फीति (deflation) है तो इसका उपचार यह है कि समाज द्वारा उपभोग और निवेश के कुल व्यय में वृद्धि की जाय इसके विपरीत जब अर्थ-व्यवस्था में स्फीति की समस्या होती है तब इसको हल करने का उपाय यह है कि उपभोग तथा निवेश वस्तुओं पर समाज द्वारा किये गये कुल व्यय में कमी की जाय । इस प्रकार, केन्ज अर्थशास्त्र स्फीतिक एवं अवस्फीतिक दोनों ही दशाओं में लाग होता है । फिर भी यह उलेखनीय है कि दोनों ही दशाओं में सरकारी हस्तक्षेप अनिवार्य होता है । सरकारी हस्तक्षेप के (बिना अवस्फीतिक एवं स्फीतिक में से किसी दशा का भी उपचार नहीं किया जा सकता है । कारण यह है कि ऐसे अवसरों पर व्यक्तिगत एवं सामुदायिक हितों में संघर्ष उत्पन्न हो जाता है, और यदि छूट दे दी जाय तो अधिकांश व्यक्ति सामुदायिक हितों के विपरीत चलने लगेगें । उदाहरणार्थ, अवस्फीति (बेरोजगारी) के समय व्यक्ति व्यय के स्थान पर बचत को अधिक अच्छा समझते हैं, यद्यपि उस समय समुदाय का हित इसमें होता है कि व्यय को प्रोत्साहित

और बचत को निरूत्साहित किया जाय । इसी प्रकार, स्फीति के अवसर पर व्यक्ति बचत के स्थान पर व्यय को अच्छा समझते हैं, यदपि उस समय समुदाय का हित इसमें निहित होता है कि व्यय को निरूत्साहित और बचत को प्रोत्साहित किया जाय । अत: दोनों ही दशाओं में सरकार का कर्तव्य है कि रोजगार के इन दोनों ही निर्धारकों (determinants) उपभोग एवं निवेश-को नियमित (regulate) करती रहे ।

उपर्युä विवेचन में हमने प्रभावपूर्ण माँग (अथवा रोजगार) के केवल दो निर्धारकों अर्थात् उपभोग एव निवेश पर ही विचार किया है । वास्तव में, ये दोनों तत्व निजी उद्योग से सम्बन्धित होते हैं । उपभोग का अर्थ निजी उपभोग से और निवेश का अर्थ निजी निवेश से होता है । पिछले कुछ वर्षो से पूँजीवादी देशों में भी प्रभावपूर्ण माँग का एक तीसरा निर्धारक महत्वपूर्ण हो गया है, और वह है सरकारी व्यय (Government Expenditure) । आजकल सरकारी व्यय निरन्तर बढ रहा है और किसी भी प्रभावपूर्ण माँग के अनुमान में उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है । अत: यथार्थ में E.D. (प्रभावपूर्ण माँग) =C+I+G (अर्थात् C=निजी उपभोग व्यय, I= निजी निवेश व्यय, G= उपभोग एवं निवेश वस्तुओं पर सरकारी व्यय) । मूल केंजियन सिद्धान्त में सरकारी व्यय को सम्मिलित नही किया गया था । किन्तु केन्ज के वर्तमान अनुयायी सरकारी व्यय को प्रभाव-पूर्ण माँग का एक महत्वपूर्ण स्त्रोत मानते हैं । यही यह भी कहा जा सकता है कि सरकारी व्यय इस अर्थ में स्वतन्त्र (autonomous) होता है इसका निर्धारण आर्थिक तत्वों की अपेक्षा सामाजिक एवं राजनीतिक तत्वों के आधार पर अधिक होता है ।

15.4 सामान्य रोजगार सिद्धान्त का सार

अब आपको निष्कर्ष/सार रूप में इस सिद्धान्त को इस प्रकार समझाया जा सकता है :-

- कुल रोजगार अर्थ-व्यवस्था में प्रभावपूर्ण माँग के आकार पर निर्भर करता है ।
- राष्ट्रीय आय रोजगार की मात्रा पर निर्भर करती है, क्योंकि कुल आय कुल उत्पादन के बराबर होती है और उत्पादन की मात्रा रोजगार-स्तर पर निर्भर करती है ।
- प्रभावपूर्ण माँग दो तत्वों से प्रभावित होती है । (अ) कुल माँग-क्रिया (ADF); तथा (ब) कुल पूर्ति-क्रिया (ASF) । प्रभावपूर्ण माँग का निर्धारण उस सन्तुलन बिन्दु पर होता है जहाँ ADF तथा ASF एक-दुसरे के बराबर होते है ।
- केन्ज ने कुल पूर्ति-क्रिया को अल्पकाल में स्थिर माना है और इसलिए कुल माँग-क्रिया को अपने सिद्धान्त में महत्वपूर्ण स्थान दिया है ।
- कुल माँग-क्रिया में उपभोग क्रिया तथा निवेश क्रिया सम्मिलित होती हैं । अर्थात कुल माँग कुल व्यय की मात्रा निर्धारित करती है जिसमें उपभोग-व्यय तथा निवेश-व्यय को सम्मिलित किया जाता है ।
- उपभोग-क्रिया का निर्धारण आय की मात्रा तथा उपभोग प्रवृ[illegible] के द्वारा होता है । अल्पकाल में उपभोग-क्रिया स्थिर रहती हैं । अर्थात आय में वृद्धि के अनुपात में

उपभोग में वृद्धि नही होती है । क्योंकि आय का एक भाग बचत के रूप में रख लिया जाता है ।

- निवेश-क्रिया भी दो बातों पर निर्भर करती है : (i) पूंजी की सीमान्त क्षमता (MEC) (ii) ब्याज-दर । निवेश-क्रिया को एक अस्थिर तत्व माना गया जिसका कुल मांग पर काफी प्रभाव पड़ता है ।
- पूंजी की सीमान्त क्षमता का निर्धारण दो बातों पर निर्भर करता है: (i) लाभ की आशंसा; तथा (ii) पूँजीगत पदार्थो को नये सिरे से बनाने की लागत । चूंकि लाभ की आशंसाओं में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है, इसलिए पूंजी की सीमान्त क्षमता में भी काफी उतार-चढ़ाव होता है । नये पूंजीगत पदार्थो की लागत अथवा पूर्ति कीमत अल्पकाल में स्थिर रहती है ।
- ब्याज-दर दो बातों पर निर्भर करती है (i) तरलता-अधिमान, तथा (ii) मुद्रा की मात्रा । तरलता अधिमान के तीन उद्देश्य होते है । कार्य सम्पादन उद्देश्य, सुरक्षा उद्देश्य, सट्टा उद्देश्य । मुद्रा की मात्रा सरकार की मौद्रिक नीति द्वारा नियन्त्रित होती है । केन्ज ने ब्याज-दर को भी अल्पकाल में एक स्थिर तत्व माना है ।
- निवेश-प्रेरणा, जिससे कि रोजगार-स्तर प्रभावित होता है, इस बात पर निर्भर करती है कि पूँजी की सीमान्त क्षमता तथा ब्याज-दर में कितना अन्तर है । ब्याज-दर पूंजी की सीमान्त क्षमता से कम होने पर निवेश प्रेरण अधिक होगी । चूंकि ब्याज-दर को स्थिर माना गया है, इसलिए मुख्य निर्धारक पूंजी की सीमान्त क्षमता ही हैं ।
- सामान्य सिद्धान्त का सार यह है कि रोजगार बढ़ाने के लिए प्रभावपूर्ण माँग में वृद्धि की जाय और यह तथी सम्भव है जब निवेश-व्यय में वृद्धि की जाय । इसमें सरकारी निवेश में वृद्धि की भूमिका काफी महत्वपूर्ण होती है क्योंक सरकारी निवेश लाभ की प्ररेणा से ही नही किया जाता है ।
- गुणक (multiplier) के कार्यकरण के परिणामस्वरूप निवेश में वृद्धि आय व रोजगार में कई गुना अधिक वृद्धि करती है, क्योंकि निवेश की एक इकाई अपने-आप बाद में कई गुना निवेश उत्पन्न कर देती है ।

रोजगार-सिद्धान्त का सारांश

(THEORY OF EMPLOYMENT SUMMARISED)

केन्ज द्वारा प्रतिपादित रोजगार-सिद्धान्त के सारांश को निम्न तालिका के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है ।

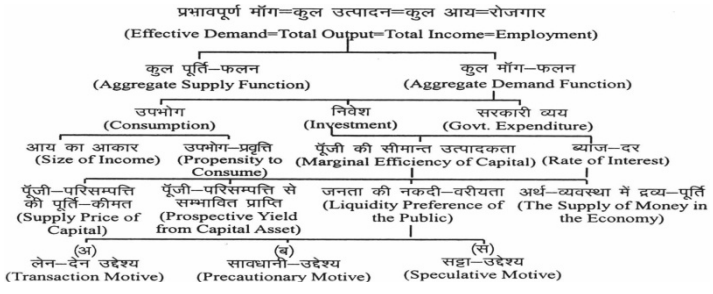

15.5 केन्ज के सिद्धान्त का महत्व

प्रो. केन्ज को नवीन अर्थशास्त्र के जन्म दाता के रूप में जाना जाता है । इस नाते केन्ज के सामान्य रोजगार सिद्धान्त के महत्व को इस तरह समझना चाहिए :- ।

सैद्धान्तिक महत्व

(1) केन्ज ने अपने अध्ययन में व्यापक –ष्टिकोण (micro approach) अपनाया है और अर्थशास्त्र को एक नया रूप प्रदान किया है ।

(2) मुद्रा सिद्धान्त को कीमत तथा उत्पादन सिद्धान्त के साथ समन्वित करके पूर्ण सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है । ।

(3) केन्ज ने यह स्पष्ट करने का प्रयास भी किया है कि आय तथा रोजगार का सन्तुलन पूर्ण-सन्तुलन पूर्ण-रोजगार से कम स्तर पर स्थापित होता है ।

(4) रोजगार सिद्धान्त के माध्यम से अर्थशास्त्र के के विश्लेषण में प्रावैगिक तल (dynamic element) का समावेश किया गया हे जिससे आधुनिक आर्थिक सिद्धान्तों के विकास में सहायता मिली है ।

(5) प्रो. केन्ज इस तथ्य को समझाने में सफल रहे हे कि निवेश रोजगार-स्तर' का एक महत्वपूर्ण निर्धारक तत्व है । उपभोग-व्यय तथा आय के बीच का अन्तर समाप्त करने के लिए निवेश में वृद्धि करना ही एक मात्र उपाय है ।

(6) केन्ज का सिद्धान्त एक सामान्य सिद्धान्त (General Theory**)** है जो अर्थ-व्यवस्था की सभी स्थितियों पर लाग होता है ।

व्यावहारिक महत्व

(1) **प्रो. केन्ज** ने अबन्ध नीति (laisez-faire policy) को प्रभावहीन सिद्ध किया है और प्रभावपूर्ण माँग बढ़ाने के लिए सरकारी हस्तक्षेप की नीति के औचित्य को स्वीकार किया गया है ।

(2) यह बतलाने का प्रयास किया गया है कि सरकार द्वारा सन्तुलित बजट (balanced budget) बनाना सदैव अच्छा नहीं होता । कुछ परिस्थितियों में तो घाटे का बजट (deficit budget) ही अधिक लाभप्रद होता है । विशेष कर मंदी से निपटने में ।

(3) केन्ज ने रोजगार- वृद्धि के लिए राजकोषीय नीति (fiscal policy) को महत्वपूर्ण स्थान दिया है । वस्तुत: राजकोषीय नीति की उपयोगिता इसी सिद्धान्त से ही प्रतिपादित हुई है । साथ ही मुद्रा-नीति (monetary policy) की सीमाओं की ओर भी ध्यान दिलाया है ।

(4) **केन्ज** ने हीनार्थ-प्रबन्धन (deficit financing) की नीति पर भी प्रकाश डाला है । आज हीनार्थ प्रबन्धन नीति सरकार की एक महत्वपूर्ण शस्त्र बन चुका है ।

(5) केन्ज ने इस बात का खण्डन किया है कि मजदूरी-दरें घटा कर रोजगार बढ़ाया जा सकता है । केन्ज के पूर्व के अर्थशास्त्रियों ने मजदूरी को केवल लागत का ही अंग

मानते थे जबकि केन्ज ने लागत एवं माँग दोनो अंगो के रूप में स्वीकार कर सही तथ्य को उजागर किया है ।

(6) राष्ट्रीय आय, राष्ट्रीय उपभोग, बचत तथा विनियोग आदि धारणाओं को महत्व देकर केन्ज ने सभी देशों में सामाजिक लेखे (Social accounting) को तैयार करने की नीति को प्रोत्साहित किया है ।

(7) इस सम्बन्ध में हैरिस ने ठीक ही कहा है कि इतने अल्पकाल में केन्ज ने सरकारी नीति को जितना अधिक प्रभावित किया है, निस्सन्देह रूप में, कोई अन्य अर्थशास्त्री नहीं कर पाया था ।

15.6 केन्ज के सिद्धान्त की आलोचना

केन्ज के रोजगार सिद्धान्त का अभूतपूर्व महत्व होते हुऐ भी आपको यह समझ लेना चाहिए कि इस सिद्धान्त की कुछ भी कमिया नही । इस सिद्धान्त की भी अनेक आलोचनाए / कमियाँ इस प्रकार गिनायी जा सकती है :-

(1) **केन्ज का रोजगार-सिद्धान्त बेरोजगारी की सभी अवस्थाओं पर लागू नहीं हो सकता (Schumpeter) -** वस्तुत: केन्ज के सिद्धान्त को 'मन्दी के अर्थशास्त्र' के नाम से जाना जाता हैं । (Depnession Economics) वर्तमान परिस्थितियाँ बिल्कुल बदली हुई हैं । मन्दी के स्थान पर तेजी है, कीमतें बढ़ी हुई हैं परन्तु साथ ही बेरोजगारी भी अधिक है । पॉल स्वीजी (Paul Sweezy) ने आरोप लगाया है कि केन्ज प्राविधिक बेरोजगारी (technological unemployment) तथा संधर्षज बेरोजगारी (frictional unemployment) की समस्याओं की और उचित ध्यान देने में असफल रहा है और मुख्यतया चक्रीय बेरोजगारी (cyclical enemployment) की ओर ही ध्यान दे पाया है । केन्ज के प्रमुख समर्थक क्लाइन (Klein) का यह कहना है कि केन्ज का सिद्धान्त हमें न्यायपूर्ण रोजगार (fair employment) की प्राप्ति के बारे में कुछ नहीं बताया है । अर्थात हर प्रकार की बेरोजगारी को दूर करने की रामबाण औषधि नही हो सकी है ।

(2) **केन्ज के रोजगार सिद्धान्त को एक सामान्य सिद्धान्त (General Theory)** कहना भी गलत है । क्योंकि यह सिद्धान्त सभी देशों में समान रूप से लागू नहीं होता है । जहा पूंजी वादी देशों में इसकी उपयोगिता साबित हुई वही केन्ज का सिद्धान्त कम विकसित अथवा विकासशील देशों पर लाग नहीं होता है क्योंकि इनकी परिस्थितियाँ अलग प्रकार की हैं ।

(3) **रोजगार-स्तर तथा प्रभावपूर्ण माँग के बीच कोई सीधा सम्बन्ध मान लेना उपयुक्त नहीं है ।** केन्ज ने प्रभावपूर्ण माँग तथा रोजगार-स्तर के बीच क्रियात्मक सम्बन्ध functional relationship) को स्वीकार किया है, परन्तु इसके लिए सांख्यिकीय प्रमाण प्रस्तुत नहीं किये हैं । वास्तव में रोजगार की मात्रा पर मुद्रा-पूर्ति, कीमतों तथा मजदूरियों की लचक तथा उनमें पारस्परिक सम्बन्ध का भी प्रभाव पड़ता हैं ।

(4) **केन्ज का सिद्धान्त पर्याप्त रूप में प्रावैगिक (dynamice) नहीं है** । क्योकिं अपने विश्लेषण में केन्ज ने समय-अन्तर (time-lags) की ओर ध्यान नहीं दिया है । उदाहरणार्थ, यह मान लिया गया है कि यदि आय में आज वृद्धि होती है तो उपभोग-व्यय में भी आज ही (बिना किसी समय-अन्तर) के वृद्धि होगी । व्यावहारिक रूप में ऐसा तत्काल नहीं हो जाता, बल्कि इसमें कुछ समय लगता है । केन्ज के सिद्धान्त की एक बहुत बड़ी त्रुटि यही है कि विभिन्न तत्वों में होने वाले परिवर्तनों में निहित समय-अन्तर की ओर ध्यान नहीं दिया गया है ।

(5) **यह सिद्धान्त अकेले व्यापक (macro) –ष्टिकोण से ही प्रतिपादित किया गया है ।** सुक्ष्म (micro) –ष्टिकोण की सर्वथा उपेक्षा की गयी जिसे उपयुक्त नहीं माना जा सकता है ।

(6) **रोजगार वृद्धि के लिए केवल निवेश प्रेरणा पर पूर्णतया निर्भर करना ठीक नहीं है ।** रोजगार-स्तर पर उपभोग-प्रवृति का भी प्रभाव पड़ता है, परन्तु केन्ज ने इसे अल्पकाल में स्थिर मान लिया है और रोजगार-स्तर के निर्धारण के लिए इसको महत्व नहीं दिया है । वास्तव में बेरोजगारी किसी एक कारण का परिणाम नहीं होती है और इसके उपचार के लिए भी अनेक प्रकार के तत्वों की ओर ध्यान देना पड़ता

(7) **केन्ज का सिद्धान्त केवल अल्पकाल से सम्बन्धित है ।** अल्पकाल में उत्पादन की तकनीक, संगठन तथा पैमाना, श्रम की संख्या तथा कार्यकुशलता आदि तत्वों को स्थिर मान लिया गया है । वास्तविकता यह है कि आर्थिक विकास इन्हीं तत्वों पर निर्भर करता है । और ये तत्व निरन्तर परिवर्तनशील रहते हैं । केवल अल्पकाल से सम्बन्ध रखने पर तो दीर्धकालीन आर्थिक विकास सम्भव ही नहीं हो पायेगा ।

(8) **विदेशी व्यापार के प्रभाव की ओर ध्यान नहीं दिया गया है ।** केन्ज का रोजगार सिद्धान्त विलग अर्थ-व्यवस्था (closed economy) की मान्यता पर आधारित है । किसी देश में आय तथा रोजगार स्थिति उस देश के आयात-निर्यात तथा भुगतान-सन्तुलन की स्थिति से भी प्रभावित होती है, परन्तु केन्ज ने इस ओर ध्यान नहीं दिया है ।

(9) **केन्ज द्वारा रोजगार- वृद्धि के लिए सुझाया गया कार्यक्रम दोषपूर्ण है ।** कन्सियन कार्यक्रम अर्थ-व्यवस्था के आशिक असन्तुलन (अर्थात् किसी विशेष क्षेत्र, उद्योग अथवा व्यापार में मन्दी) का उचित उपचार नहीं है । घाटे की वित्त-व्यवस्था (deficit financing) रोजगार । वृद्धि के लिए एक खतरनाक उपाय हो सकता है । सस्ती मुद्रा-नीति (Cheap money policy) द्वारा मन्दी-काल में रोजगार नहीं बढ़ाया जा सकता है । यह भी पाया जाता हें कि प्राय: सरकार द्वारा अधिक विनियोग करने पर निजी विनियोग में कमी होती है ।

(10) **केन्ज के विचार न तो मौलिक हैं और न ही नवीन हैं ।** केन्ज का नवीन 'अर्थशास्त्र' पहले से ज्ञात सिद्धान्तों पर ही आधारित है । हट के अनुसार, "केन्ज के जो भी विचार

सही हैं, मौलिक नहीं है और जहाँ कहीं मौलिकता है वही ही गलती है । " प्रो. हैलजिट का भी यही विचार है ।

उपर्युक्त व्याख्या से यह स्पष्ट होता है कि अनेक प्रकार से महत्वपूर्ण होते हुए भी केन्ज के सिद्धान्त पूर्णतया सही नहीं हैं । इसका प्रभाव कुछ क्षेत्रों में थोड़ा-सा है और कुछ अन्य क्षेत्रों में सर्वथा शून्य है । इस सिद्धान्त की त्रुटियाँ तथा असफलताएँ इसके कट्टर समर्थकों से भी छिपी हुई नहीं हैं और उन्होंनें भी स्थान-स्थान पर इसकी आलोचना की है ।

15.7 केन्ज का सिद्धान्त और विकासशील / अर्द्ध-विकसित देश

उपयुर्क्त विवेचना के बाद आप इस तथ्य को तो अच्छी तरह समझ गये होगे कि केन्ज का रोजगार सिद्धान्त एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त होते हुए भी इसकी अधिक उपयोगिता' विकसित राष्ट्रो के लिए है । लेकिन यहा प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या केन्ज का सिद्धान्त विकासशील राष्ट्रो के लिए भी उपयोगी है ? इसकी विवेचना इस प्रकार की जा सकती है । केप्यू का सिद्धान्त औद्योगिक एवं विकसित देशों के लिए मन्दी का अर्थशास्त्र है । अर्द्ध -विकसित देशों की समस्याएँ तथा परिस्थितियाँ केन्ज की मान्यताओं से भिन्न हैं, इसलिए केन्ज का सिद्धान्त उन पर यथावत् लागू नहीं होता है। यह बात निम्नलिखित तथ्यों के द्वारा स्पष्ट हो जाती है

(1) **अर्द्ध-विकसित देशों में बेरोजगारी का का स्वरूप विकसित देशों में बेरोजगारी से भिन्न होता है ।** केन्ज ने अपना सिद्धान्त प्रतिपादित करते समय केवल चक्रीय बेरोजगारी (cyclical un-employment) को ध्यान में रख है, जबकि अर्द्ध-विकसित देशों में बेरोजगारी की पुरानी और निरन्तर बनी रहने वाली (chronic) समस्या है । इन देशों में अदृश्य बेरोजगारी (disguised unemployment) की भी समस्या है और अर्द्ध-बेरोजगारी (under-employment) का आकार बहुत बडा है । इन देशों की बेरोजगारी समस्या श्रम की अधिकता और अन्य साधनों की कमी का परिणाम है । केन्ज का सिद्धान्त अर्द्ध-विकसित देशों में बेरोजगारी की समस्या का उपचार प्रस्तुत नहीं करता है।

(2) **अर्द्ध-विकसित देशों में प्रभावपूर्ण माँग की समस्या भिन्न प्रकार की है ।** केन्ज की मान्यता यह भी कि व्यय में वृद्धि के द्वारा प्रभावपूर्ण मांग तथा रोजगार में वृद्धि की जा सकती है । इसके विपरित, अर्द्ध-विकसित देशों की समस्या यह है कि आय का स्तर नीचा होता है परन्तु सीमान्त उपभोग वृत्ति ऊँची होती है ये देश निर्धनता के कुचक (vicious circle of poverty) में फँसे हुए हैं । अत: विकसित राष्ट्रो से भिन्न दशा हैं ।

(3) **अर्द्ध-विकसित देशों की वास्तविक समस्या आर्थिक विकास करना है ।** केन्ज ने विकसित देशों में आर्थिक अस्थिरता (economic stability) की समस्या का अध्ययन किया है जबकि अर्द्ध-विकसित देशों की सबसे बड़ी समस्या आर्थिक विकास की गति बढ़ाना है । इसके लिए विनियोग अथवा पूँजी-निर्माण में वृद्धि करना आवश्यक है । यह

तभी सम्भव हो सकता है जब बचत को बढ़ाया जाय । यदि बचत नहीं की जाती है तो पूँजी-निर्माण नहीं हो पाता है और आर्थिक विकास का क्रम रूक जाता है । इस प्रकार आप समझ गये होगें कि केन्ज का बचत में कमी से सम्बन्धित सुझाव अर्द्ध-विकसित देशों के लिए हानिकारक होगा, लाभदायक नहीं ।

(4) **अर्द्ध-विकसित देशों ने आर्थिक विकास के लिए नियोजन का तरीका अपनाया है ।** इसके विपरीत, केन्ज द्वारा पूँजीवाद का ही समर्थन किया गया था । केन्ज ने उपभोग वृद्धि का समर्थन किया था, जबकि अर्द्ध-विकसित देशों में उपभोग को नियन्त्रित करने के उपाय अपनाये जाते हैं । विनियोग का विस्तार सरकारी नीति के अन्तर्गत किया जाता है । आय के वितरण में असमानताएँ कम करने के भी प्रयास किये जाते हैं । स्पष्ट है कि आर्थिक विकास की तकनीक एवम् अवधारणा में भारी अन्तर पाया जाता है ।

(5) **सुलभ मुद्रा-नीति अर्द्ध-विकसित देशों के लिए उपयुक्त नहीं होती है ।** रोजगार में वृद्धि के लिए केन्ज ने सुलभ मुद्रा-नीति (cheap money policy) अपनाने का सुझाव दिया है, ताकि विनियोग के लिए साधन प्राप्त हो सकें । वास्तव में, अर्द्ध-विकसित देशों में समस्या मुद्रा की कमी की नहीं है, बल्कि वास्तविक पूँजी की कमी की समस्या है । इस समस्या का उपचार बचत की मात्रा बढ़ा कर ही किया जा सकता है । मुद्रा का अनियन्त्रित विस्तार करने पर तो कीमतें और भी बढ़ जायेंगी । आर्थिक स्थितियों विकास के मार्ग में एक बहुत बड़ी बाधा बन सकती है ।

(6) **केन्ज के सिद्धान्त की मान्यतायें (assumptions) अर्द्ध-विकसित देशों के लिए यथार्थपूर्ण नहीं हैं ।** केन्ज द्वारा अपनायी गयी मान्यताएँ दो प्रकार की हैं (i) अल्पकालीन विश्लेषण से सम्बन्धित तथा (ii) गुणक **(multiplier**) की धारणा से सम्बन्धित । अल्पकाल विश्लेषण में केन्ज की यह मान्यता है कि उत्पादन के लिए पूँजी-सामग्री, उत्पादन की तकनीक, प्रबन्ध या संगठन, श्रमिकों की संख्या तथा उनकी कार्यकुशलता में कोई परिवर्तन नहीं होता है । इसके विपरीत, अर्द्ध-विकसित देशों के लिए तो इन्हीं तत्वों को बदलने की आवश्यकता होती है और इसके लिए वे प्रयत्नशील रहते है । गुणक के द्वारा कार्य करने के लिए केन्ज ने ये मान्यताएँ अपनायी है कि (i) बेरोजगारी अनैच्छिक (involuntary) है, (ii) वस्तुओं तथा सेवाओं की पूर्ति लोचपूर्ण है, (iii) उपभोग पदार्थो के उधोगों में अतिरिक्त उत्पादन क्षमता विद्यमान है, तथा (14) कार्यशील पूँजी (अर्थत् कच्चे माल आदि) की पूर्ति भी लोचपूर्ण है । स्पष्ट है कि ये मान्यताएँ अर्द्ध-विकसित देशों की वास्तविक परिस्थितियों से सम्बन्ध नहीं रखती हैं । इन देशों में बेरोजगारी बहुत अधिक है परन्तु यह केन्ज द्वारा बतायी गयी अनैच्छिक बेरोजगारी से भिन्न है । कृषि लोगों का मुख्य व्यवसाय है और अधिकतर लोग स्वयं अपने कार्य में लगे हुए (self employed) है । अदृश्य बेरोजगारी के कारण गुणक के कार्य में बाधा उत्पन्न होती है । इस प्रकार श्रम की पूर्ति लोचपूर्ण नहीं होती है । माँग बढ़ने पर वस्तुओं तथा सेवाओं की पूर्ति बढ़ाना भी सरल नहीं होता, क्योंकि उत्पादन का एक बड़ा भाग, मुख्यतया कृषि-क्षेत्र में, बिक्री के लिए नहीं, बल्कि

अपने उपभोग के लिए होता है । केश्व द्वारा अपनायी गयी अन्य दो मान्यताएँ भी अर्द्ध-विकसित देशों से सम्बन्धित नहीं है । परिणामस्वरूप, अर्द्ध-विकसित देशों में जब माँग बढ़ती है तो पूर्ति उस अनुपात में नहीं बढ़ पाती, और कीमतें बढ़ने लगती हैं । गत वर्षो में भारत में करोड़ों रूपये की राशि का विनियोग किया गया है । इसका आय तथा रोजगार पर कोई गुणक प्रभाव नही पड़ा है, परन्तु कीमतें निरन्तर बढ़ती गयी हैं।

निष्कर्ष

केन्ज द्वारा प्रतिपादित रोजगार-सिद्धान्त त्रुटिपूर्ण है और सभी प्रकार की अर्थ-व्यवस्थाओं पर समान रूप से लागू नहीं होता है । परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि केन्ज का सिद्धान्त पूर्णतया बेकार है । केन्ज ने जो आधारभूत धारायें प्रस्तुत की हैं, विश्लेषण के यन्त्रों (tools of analysis) के रूप में बड़ी उपयोगी है । इस आधार पर आप यह निष्कर्ष निकाल सकते हो कि केन्ज का सिद्धान्त भले ही क्रान्तिकारी न हो, परन्तु अर्थशास्त्र के अध्ययन के लिए इसने एक नवीन प्रणाली अवश्य प्रस्तुत की है । भले ही केन्ज दुर्गम पहाड़ की चोटी तक पहुँचने में असफल रहा हो, परन्तु उसने चोटी तक पहुँचने का प्रयास अवश्य किया

15.8 रोजगार का प्रतिष्ठित सिद्धान्त केन्ज के सिद्धान्त के प्रमुख विचलन

अब आपकों अन्तिम चरण में प्रतिष्ठित सिद्धान्त एवम केन्ज के सिद्धान्त के बीच प्रमुख विचलनों की विवेचना को समझना चाहिए यह संकेत पहले ही कर चुके हैं कि केन्ज प्रारम्भ में एक क्लासीकल अर्थशास्त्री थे और उन्होनें आगे चलकर क्लासीकल अर्थशास्त्र के स्वीकृत सिद्धान्तों में अनेक मौलिक परिवर्तन स्थापित किये, इसलिए क्लासीकल सिद्धान्त से विचलन स्थापित हुऐ जो इस प्रकार है ।

(1) **प्रतिष्ठित विचारों का सम्पूर्ण ढॉचा अबन्ध-नीति Laissez-faire policy)** पर आधारित हैं जिसमें अर्थव्यवस्था बिना राज्य-हस्तक्षेप के अपने-आप समायोजित हो जाती हैं जबकिः केन्ज ने आर्थिक जीवन में सरकारी हस्तक्षेप की नीति का समर्थन किया जो अधिक सार्थक प्रतीत होता है ।

(2) **प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री दीर्धकालीन सन्तुलन (long-term equilibrium)** पर बल देते थे। इसके विपरीत, केन्ज ने अल्पकालीन सन्तुलन (**short-term** equilibrium) को अधिक महत्व दिया । केन्ज के विचारानुसार, "दीर्धकाल में तो हम सभी मर जाते हैं" (In the long-run we all are dear) । इसलिए दीर्धकालीन विवेचना अधिक उपयोगी नहीं हो सकती हैं । वास्तव में, केन्ज का प्रतिष्ठित अर्थशास्त्र से यह ऐसा मौलिक विचलन था जिसने अर्थशास्त्र को एक अधिक यथार्थ विज्ञान में महत्वपूर्ण सहायता दी है ।

(3) **प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री बचत तथा मितव्ययता (Thrift)** को पूँजी-निर्माण के लिए आवश्यक मानते थे । परन्तु केन्ज के अनुसार मन्दी-काल में बचत करने के बजाय

व्यय करना चाहिए । व्यय करने से प्रभावपूर्ण माँग में वृद्धि होती है तथा रोजगार बढ़ता है, जबकि बचत करने से उपभोग में कमी होती है जिसके परिणामस्वरूप माँग तथा रोजगार में कमी हो जाती है इसलिए केन्ज ने व्यय करना समाज के लिए एक अच्छाई माना ओर बचत करना एक बुराई ।

(4) **बेरोजगारी की समस्या हल करने के लिए प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने मजदूरी-कटौती का विचार प्रस्तुत किया था ।** केन्ज ने इस विचार का विरोध किया और बताया कि बेरोजगारी की समस्या माँग वृद्धि करने से हल की जा सकती है, न कि मजदूरी-कटौती से मजदूरी कटोती किसी एक उद्योग विशेष में रोजगार को बढा सकती हैं । सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था में रोजगार में वृद्धि इस उपाय से सम्भव नहीं है ।

(5) **प्रतिष्ठित सिद्धान्त पूर्ण- रोजगार की मान्यता पर आधारित था ।** केन्ज मे बताया कि वास्तविक स्थिति यह है कि पूर्ण-रोजगार कभी नहीं होता उसमें थोड़ी कमी अवश्य रह जाती है । इस स्थिति को केन्ज ने न्यून-रोजगार सन्तुलन (under employment equilibrium) की संज्ञा दी ।

(6) **पूर्ण-रोजगार की मान्यता के आधार पर प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने रोजगार का एक अलग सिद्धान्त अनावश्यक समझा ।** दूसरी ओर केन्ज ने रोजगार का एक अलग सिद्धान्त आवश्यक समझा और इसे प्रतिपादित किया ।

(7) **प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों की व्याख्या का स्वरूप व्यष्टि-भावात्मक (micro) था**. क्योंकि इसका सम्बन्ध किसी एक फर्म अथवा किसी विशेष उद्योग से होता था । इसके विपरित, केन्ज ने समष्टि-भावात्मक (macro) व्याख्या प्रस्तुत की और सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था से सम्बन्ध स्थापित किया ।

(8) **प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का आर्थिक विश्लेषण स्थैतिक (Static) था**. जबकि केन्ज ने विभिन्न आर्थिक क्रियाओं से सम्बन्धित प्रावैगिक (dynamic) विश्लेषण प्रस्तुत किया है । हेन्सन के अनुसार 'जनरल थ्यौरी से हमें अर्थशास्त्र पर स्थैतिक के बजाय प्रावैगिक –ष्टिकोण से विचार करने में सहायता मिली है ।''

(9) **प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने मूल्य के सामान्य सिद्धान्त (general theory of value)** को मुद्रा-सिद्धान्त (general theory of value) से अलग रखा था । केन्ज ने इन दोनों को एक साथ मिला दिया है । केन्ज अर्थशास्त्र में मौलिक सिद्धान्त आय तथा रोजगार सिद्धान्त का एक अनिवार्य अंग बन गया है ।

(10) प्रतिष्ठित अर्थशास्त्र पूँजीवाद का विश्लेषण मात्र है, जबकि केन्ज अर्थशास्त्र पूँजीवाद के सुधार (reformation) से सम्बन्धित है । केन्ज ने पूँजीवाद का विरोध नहीं किया, परन्तु उसने इसका सुधार करना चाहा ताकि बदली हुई परिस्थितियों में भी यह कार्य कर सके । क्लासीकल अर्थशास्त्रियों तथा केन्ज में एक अन्य अन्तर भी है । वह यह है कि केन्ज ने अपने सिद्धान्त में उन गतिशील तत्वों विशेषकर आशसाओं को सम्मिलित कर लिया था, और ये आशसाएँ पूँजी की सीमान्त उत्पादकता (marginal efficiency of capital) के निर्धारण में महत्वपूर्ण योग देती हैं ।

(11) प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के विपरीत- केन्ज ने अपने सिद्धान्त को सार्वजनिक नीति (public policy) के लिए उद्देश्यपूर्ण बनाने का प्रयास किया है । प्रो. रॉबिन्सन के अनुसार, केन्ज का सबसे बड़ा योगदान यह है कि उसने शैक्षिक अर्थशास्त्र को सरकारी अर्थशास्त्र से सम्बन्धित किया है । केन्ज के सिद्धान्त ने सरकार की आर्थिक नीतियाँ निर्धारित करने में सहायता दी है । केन्ज का सिद्धान्त केवल सैद्धान्तिक ही नहीं वरन् व्यावहारिक महत्व का भी हैं । उपर्युक्त विवेचना से आप अच्छी तरह समझ गये होंगें कि केन्ज का अर्थशास्त्र प्रतिष्ठित अर्थशास्त्र का एक विकसित अथवा परिष्कृत रूप ही नहीं है, बल्कि यह उससे सर्वथा भिन्न है । यह भी कहा जा सकता है कि केन्ज द्वारा प्रस्तुत की गयी व्याख्या प्रतिष्ठित व्याख्या की अपेक्षा 'अधिक यथार्थपूर्ण है आपको यहा यही भी नोट करना चाहिए कि केन्ज ने न केवल प्रतिष्ठित सिद्धान्त की आचोचना की, अपितु एक क्रमबद्ध रोजगार सिद्धान्त प्रतिपादित किया और विश्लेषण हेतु कुछ नयी धारणाओं को स्थापित किया जो विश्लेषण के आवश्यक यन्त्रों (tools of analysis) के रूप में स्वीकार की जाने लगी हैं ।

15.9 निष्कर्ष

केन्ज के रोजगार सिद्धान्त की सम्पूर्ण विवेचना रो अब आप इस निष्कर्ष पर पहुँच गये होंगें की यह एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त जिसने रोजगार वृद्धि एवम उसमें स्थिरता बनाये रखने के लिए महत्वपूर्ण उपकरणों की विवेचना की हैं । लेकिन सिद्धान्त की उपयोगिता इंगलैड जैसे पूंजीवादी राष्ट्रो के लिए ही है । इसलिए यह कहा जाता हे कि ' 'यदि केन्ज के रोजगार सिद्धान्त रूपी पौंधे को इंगलैड की भूमि पर उगाया जाये तब वह अधिक तेज गति से फलता फूलता है एवम इसी पौंधे को विकासशील राष्ट्रो की भूमि पर लगाया जाता हे तब शीध्र ही मुरझा कर मर जाता है । "

15.10 व्यापार चक्र की अवधारणा विशेषताएँ

पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण लक्षण है कि इसमें समय-समय पर समृद्धि (तेजी) एवं मन्दी का आना जाना होता रहता है, इसे व्यापार-चक्र कहते हैं । व्यापार-चक्र एक बहुत ही जटिल समस्या है । वस्तुत: व्यापार चक्र की कोई उचित परिभाषा देना सरल कार्य नहीं हैं । व्यापार-चक्र के अन्तर्गत उत्पादन, कीमतों, रोजगार जैसी देश की आर्थिक क्रियाओं में व्यापक उच्चावचन होते रहते है ।

आखिर व्यापार-चक्र क्या होता है ? इसे जानने के लिए व्यापार चक्र की उपयुक्त परिभाषा को समझना आवश्यक है । **प्रो. डब्लू. सी. मिचैल (W.C. Mitchell)** के शब्दों में, "व्यापार-चक्रों" से अभिप्राय संगठित समुदायों की आर्थिक क्रियाओं में होने वाले उच्चावचन की श्रंखला से होता है । ' चूँकि यह 'व्यापार-चक्र है, अत: इसका अभिप्राय उन क्रियाओं में होने वाले उच्चावचनों से है जो व्यापारिक आधार पर संचालित की जाती है । किन्तु व्यापार-चक्र के अन्तर्गत के उच्चावचन सम्मिलित नहीं

किये जाते जिनकी पुरावृत्ति नियमित नहीं होती । अत: प्रो. मिचैल इस बात पर जोर देते हैं कि चक्रीय उच्चावचनों में नियमितता (regularity) का होना आवश्यक होता है।

प्रो. केन्ज के अनुसार "एक व्यापार चक्र बढ़ती हुई कीमतों तथा कम प्रतिशत बेरोजगारी वाले अच्छे व्यापार के समय के पश्चात् बेरोजगारी की ऊँची प्रतिशत तथा गिरती हुई कीमतों वाले बुरे व्यापार की अवधियों के अस्तित्व से बनता है । '

संक्षेप में, व्यापार-चक्र किसी देश की समस्त आर्थिक क्रियाओं में विस्तार एवं संकुचन का नियमित क्रम 'होता है । इस प्रकार देश की कुल आर्थिक क्रियाओं में होने वाले उच्चावचनों को कुल राष्ट्रीय उत्पाद, औद्योगित उत्पादन, रोजगार एवं आय जैसे सूचकों से मापा जाता है । आपको यहा यह ध्यान रखना होगा कि ये चक्रीय उच्चावचन साधारणतया राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के किसी एक खण्ड में नहीं, बल्कि सभी खण्डों में एक-साथ घटित होते है । लेकिन कभी-कभी ये उच्चावचन अर्थ व्यवस्था के व्यक्तिगत खण्डों अथवा व्यक्तिगत उधोगों तक ही सीमित रहते हैं । ऐसी परिस्थिति में चक्रीय उच्चावचनों को विशिष्ट चक्र कहा जाता है । व्यापार चक्र एक नियमित क्रिया होती है। अर्थात तेजी मंदी का कम चलता रहता है ।

व्यापार चक्र की विशेषतायें

उपर्युक्त परिषाओं के आधार पर व्यापार चक्र की निन्नाकिंत विशेषताए जा सकती हैं ।

1. व्यापार चक्र पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की मूल विशेषता होती हैं ।
2. व्यापार-चक्र से उत्पन्न होने वाले उतार-चढ़ाव का स्वरूप चक्रीय होता है । अर्थात ये उतार चढ़ाव बार बार होतें हैं । तेजी मंदी का क्रम चलता रहता हैं ।।
3. व्यापार चक्रों की गति लहरों के समान होती है । कुछ लहरें अधिक शक्तिशाली होती हैं और कुछ कम परन्तु प्रत्येक लहर की प्रकृति एक दूसरे से काफी मिलती-जुलती होती है।
4. तेजी मंदी की समय अवधि-नियमित अथवा निश्चित तो नहीं होती हैं, परन्तु यह निश्चित है कि तेजी और न ही मन्दी की स्थिति अनिश्चित काल के लिए बनी रह सकती है ।
5. व्यापार चक्र के प्रभावों को सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था में देखा जा सकता है । अर्थात संक्रियता पाई जाती है ।
6. व्यापार-चक्रों का सम्बन्ध मूलत: रोजगार, उत्पादन व कीमत स्तर से होता है ।
7. व्यापार-चक्र अर्थ व्यवस्था में मौद्रिक तत्वों को प्रभावित करते हैं ।
8. अर्थ व्यवस्था में सभी क्षेत्र व्यापार-चक्र से समान रूप में प्रभावित नहीं होते हैं ।
9. वर्तमान आर्थिक जीवन का स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय होने के कारण एक देश में व्याप्त मन्दी अथवा तेजी की समस्या अन्तर्राष्ट्रीय समस्या बन सकती है ।

15.11 व्यापार चक्र की अवस्थाए -

भिन्न भिन्न अर्थशास्त्रियों ने व्यापार चक्र की अपने अनुरूप अवस्थाओं को गिनाया है, लेकिन आपको उन उपयुक्त अवस्थाओं का ज्ञान होना चाहिए जिसे सर्व मान्य रूप में स्वीकार किया। हो ।

एक सार्वलाक्षणिक व्यापार-चक्र की पाँच विभिन्न प्रावस्थाएँ (phrases) होती है । ये, इस प्रकार हैं मन्दी (depression) पुनरूत्थान (recovery or revival) समृद्धि (prosperity), पूर्ण रोजगार (full employment), अभिवृद्धि अथवा तेजी (boom) अथवा पूर्ण से अधिक रोजगार (overfull employment) तथा प्रतिसार (recession)।

मन्दी (depression) यह व्यापार-चक्र की प्रथम अवस्था होती है । इसमें देश की व्यावसायिक क्रियाओं का स्तर सामान्य से नीचे गिर जाता है । इस अवस्था की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं-उत्पादन में अत्यधिक कमी, व्यापक बेरोजगारी, निम्न रोजगार गिरती हुई कीमतें, गिरते हुए लाभ, गिरती हुई मजदूरियाँ, साख-संकुचन व्यावसायिक असफलताओं की ऊँची दर, और अन्त में सर्वव्यापक निराशावादिता जब उत्पादन में ह्रास होता है तो रोजगार की मात्रा में भी कमी हो जाती है । मन्दी के दौरान सभी निर्माण-कार्य लगभग ठप हो जाते हैं । खाद्य, कपड़े जैसे उपभोग-वस्तु उद्योग बेरोजगारी से इतने अधिक प्रभावित नहीं होते जितने आधारभूत पूंजीगत उद्योग होते हैं । निर्मित वस्तुओं की कीमतें गिरती हैं, अत: निर्माणकर्ताओं को भारी वित्तीय क्षति सहन करनी पड़ती हैं । संचित क्षतियों (losses) के कारण अनेक फर्मे बन्द हो जाती है ।

कीमतों की गिरावट के कारण सापेक्ष कीमत-संरचना विकृत (distorted) हो जाती है । कृषि एवं कच्चे पदार्थो की कीमतें निर्मित वस्तुओं की कीमत की अपेक्षा अधिक अनुपात में नीचे गिरती हैं । निर्माताओं की अपेक्षा किसान लोग मन्दी से अधिक पीड़ित होते हैं । अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की मात्रा में अधिक कमी हो जाती है । सर्वत्र गहन निराश छा जाती है ।

अमरीका के आर्थिक इतिहास में दो सबसे बड़ी मन्दियॉ इस प्रकार थीं- (1) सन् **1873- 1879** की मन्दी । इसकी मियाद **65** महीने थी । (2) सन् **1 929- 1933** की मन्दी । इसकी मियाद 45 महीने थी ।

पुनरूत्थान - मन्दी के निम्नतम बिन्दु के उपरान्त साधारणतया पुनरूद्धार की स्थिति आती है । आर्थिक व्यवस्था में कुछ ऐसी परिस्थितिया उत्पन्न हो जाती है कि व्यापारिक क्रियाएं बढ़ने लगती हैं । प्रारम्भ में

व्यावसायिक क्रियाओं में तनक-सा सुधार होता हैं । धीरे-धीरे औद्योगिक उत्पादन में अभिवृद्धि होने लगती है । रोजगार की मात्रा भी बढ़ने लगती हैं । कीमतों में धीमी किन्तु निश्चित वृद्धि होती है । लाभ की मात्रा में भी तनिक वृद्धि होने लगती हैं ।

मजदूरियॉ भी बढ़ने लगती हैं, यद्यापि वे उस अनुपात में नही बढ़ती जिसमें कीमतें बढ़ती हैं । बढ़ते हुए लाभ से आकर्षित होकर निवेशकर्ता पूँजीगत वस्तु- उधोगों में नये-नये निवेश करते है । बैक साख का विस्तार करते है । माल की सूचियाँ धीरे-धीरे बढ़ना शुरू हो जाती है । पूर्वगामी काल की निराशावादिता के स्थान पर सर्वव्यापक आशावादिता की लहर छा जाती है । इस प्रकार व्यापार चक्र की इस अवस्था में नई आशा का होता है और पूर्ण अर्थव्यवस्था का पहिया उपर की और गतिमान हो जाता है । ऐसा देखा गया है कि पुनरूत्थान की दर पूर्वगामी मन्दी से प्राय प्रत्यक्षत: सम्बन्धित होती है । जितनी मन्दी अधिक प्रचण्ड होती है, उतनी ही पुनरूत्थान की गति अधिक तेज होता है । पुनरूत्थान काल के बारे में निश्चित रूप में कुछ भी नहीं कहा जा सकता । यह तो उन शक्तियों के बल पर निर्भर करता है जो पुनरूत्थान का सुत्रपात करती हैं । नवप्रवर्तनों, सरकारी व्यय, उत्पादन प्रविधियों के परिवर्तनों, नये प्रदेशों में किये गये निवेशों शक्ति के नये स्त्रोतों के शोषण आदि से पुनरूत्थान का सुत्रपात किया जा सकता है ।

समृद्धि / पूर्ण रोजगार - व्यापार की यह अवस्था एक अति उ्रम तथा आदर्शअवस्था है। पूर्ण रोजगार की स्थिति को प्राप्त करना प्राय: सभी देशों की राष्ट्रीय आर्थिक नीतियों का लक्ष्य होता हैं । इस प्रावस्था की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार है

(i) विनियोग में लगातार वृद्धि, (ii) उत्पादन में लगातार वृद्धि, (iii) रोजगार तथा आय में लगातार वृद्धि, (iv) आर्थिक क्षेत्र में बढ़ता हुआ उत्साह, विश्वास व आशा, (v) बढ़ते हुए लाभ, मजदूरी व कीमतें (vi) बैक ऋण में निरन्तर वृद्धि, और (vii) सट्टों के बाजार में बढ़ती हुई क्रियाशीलता । उत्पादन-वृद्धि, आधारभूत उद्योगों में पूंजी के अधिकाधिक निवेश, बैंक-साख का विस्तार, ऊँची कीमतें, ऊचे लाभ, नये-नये व्यवसायों की स्थापना, एवं पूर्ण रोजगार इत्यादि । व्यवसायियों एव उद्योग-पतियों में आशावादिता की सामान्य भावना फैल जाती है । इस अवस्था में यद्यपि अनैच्छिक बेरोजगारी का अभाव रहता है तथापित कुछ कुछ धर्षण बेकारी, संरचनात्मक बेकारी हो सकती है । सन् 1923 से 1929 तक संयुक्त राज्य अमरीका में निरन्तर समृद्धि-काल जारी रहा, यद्यपि सन् 1924 में उसमें तनिक-सी मन्दी भी आयी थी ।

अभिवृद्धि अथवा तेजी काल-पुनरूद्धार की दशाएँ सदैव पूर्ण रोजगार की दशायें उत्पन्न नही करती वरन् इससे अभिवृद्धि की दशा उत्पन्न होती है । इस प्रावस्था में व्यवसाय में बड़ी तेजी से विस्तार होता है । वस्तुओं की कीमतें बढ़ जाती है । लाभ की दर में वृद्धि, हो जाती है । रोजगार पूर्ण रूप से. भी अधिक बढ़ जाता है । साहसी ऐसी दशा में प्रत्येक वस्तु के सम्बन्ध में अत्यधिक आशावादी हो जाता हैं ।

समृद्धि से अभिवृद्धि अथवा तेजी का जन्म होता है । पूर्ण रोजगार की प्रावस्था के उपरान्त जब निवेशों का किया जाना जारी रहता है तो इससे कीमतों की स्फीतिक वृद्धि होने लगती हैं । इससे व्यवसायियों एवं उद्योगपतियों के बीच अनावश्यक आशावादिता फैल जाती है । इसी के प्रभाव के अन्तर्गत वे अर्थ-व्यवस्था की विभिन्न शाखाओं में

अधिकाधिक निवेश करते चले जाते हैं । इससें उत्पादन के साधनों पर अतिरिक्त दबाव पड़ता है क्योंकि वे पहले से ही पूर्णत: काम पर लगे होते हैं । परिणामत: उनकी कीमतों में तीव्र वृद्धि हो जाती हैं । शीघ्र ही अर्थ-व्यवस्था में एक ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है जिसमें नौकरियाँ की संख्या उपलब्ध श्रमिकों की संख्या से भी अधिक हो जाती हैं । इस स्थिति को पूर्ण से अधिक रोजगार (overfull-employment) की स्थिति कहते हैं । लाभ चरम सीमा पर पहुँच जाते हैं । बढ़ते हुए लाभ से आकर्षित होकर व्यवसायी एवं उद्योगपति पूंजीगत निवेशों में और अधिक वृद्धि कर देते हैं । यह आग में थी का काम देता हैं समूचे देश में सरपट स्फीति फैल जाती है । कीमतें आकाश को चूमने लगती हैं । तेजी का गतिक्रम शिखर पर पहुँच जाता है। समूची अर्थ-व्यवस्था में अनावश्यक आशावादिता फैल जाती हैं । लेकिन इस बढ़ती हुई तेजी में स्व-विनाश (self destruction) के बीज़ भी विद्यमान रहते हैं । अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न खण्डों में कठिनाइयाँ उत्पन्न होने लगती है । उत्पादन-साधन दुर्लभ हो जाते हैं और उनकी कीमतों में और अधिक वृद्धि होने लगती है । व्यवसायियों एवं उद्योगपतियों की । लागत-सम्बन्धी गणनाओं में गडबडी हो जाती है । जल्दबाजी में स्थापित कुछ नयी-नयी फर्मे धराशायी हो जाती है । इसका परिणाम यह होता है कि व्यवसायी एवं उद्योगपति आवश्यकता से अधिक सावधान हो जाते हैं । नयी-नयी व्यावसायिक परियोजनाओं से वे अब मुँह फेर लेते हैं । यही तक कि वे वर्तमान इकाइयों का विस्तार करने से भी हिचकिचाते हैं । इससे आगामी प्रावस्था का अधार तैयार हो जाता है । तेजी के बाद अनिवार्य रूप में मन्दी आती है । पूर्वगामी अवधि की आशावादिता के स्थान पर अब व्यवसायियों में धोर निराशावादिता फैल जाती है उनमें डर की भावना व्याप्त हो जाती है और वे असमंजस में पड़ जाते हैं । कुछ व्यवसायों के फेल हो जाने से उनमें आतंक छा जाता है । बैंक भी आतंकित होने लगते हैं और घबराकर व्यवसायियों से अपने ऋण वापस माँगने लगते है । इसका परिणाम यह होता है कि और अधिक व्यवसाय फेल होने लगते हैं । कीमतें गिरने लगती हैं और व्यवसायियों के विश्वास को बहुत बड़ा आधात पहुँचता है । निर्माण-कार्य धीमा पड़ जाता है और आधारभूत पूंजीगत उधोगों में बेरोजगारी फैल जाती है । यह प्रारम्भिक बेरोजगारी धीरे-धीरे अन्य उधोगों में भी फैल जाती है । इस बेरोजगारी से आय, व्यय, कीमतों एवं लाभ की दर में कमी हो जाती है । आपको ध्यान रहना चाहिए कि प्रतिसार का संचयी प्रभाव पडता हैं जब एक बार प्रतिसार प्रारम्भ हो जाता है तो धीरे-धीरे उसका संवेग बढ़ता चला जाता है । अन्ततः यह मन्दी का रूप धारण कर लेता है । स्मरण रहे, मन्दी से ही व्यापार-चक्र का श्रीगणेश होता है । व्यापार-चक्र अब पूर्ण हैं ।

अवरोध या प्रतिसार- अभिवृद्धि की दशा में ही पूर्व गामी अवधि की आशावादिता के स्थान पर अब व्यवसायियों में गहरी निराशावादिता फैल जाती है । इसके बीज अभिवृद्धि की दशा में पड जाते है । इसमें (i) बढ़ी हुई मजदूरी तथा अधिकाधिक उत्पादन करने के लिए अकुशल ' को काम पर लगानेआदि कारणों से मजदूरी की लागत बढ़ जाती है (ii) पुरानी मशीन की प्रतिस्थापन। के कारण तथा कच्चे मालों की

कीमतों के बढ जाने के कारण उत्पादन की लागत बढ़ जाती है (iii) ब्याज की दरें ऊँची हो जाने तथा बैंको के ऋण देने की नीति में कठोरता के कारण पूंजी लागत बढ जाती है (iv) भविष्य के प्रति लोग सन्देहात्मक दृष्टि से देखने लगते हैं जिससे व्यापार-चक्र का अन्तिम चरण, अवरोध काल आ जाता है, जिसकी निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :- (i) व्यवसाय घटने लगता हैं । (ii) उत्पादन, आय विनियोग, रोजगार घटने लगता हैं । (iii) व्यावसायिक क्षेत्र में भविष्य के प्रति निराशा हो जाती है । (iv) कीमतें, मजदूरी तथा लागतें घटने लगती हैं । (v) ऋण की कठोर शर्तो पर बढ़ती हुई ब्याज दर के कारण बैंकों द्वारा दिये जाने वाले ऋण में कमी आने लगती है । संयुक्त राज्य अमरीका में सन् **1957-58** में जो प्रतिसार घटित हुआ था, वह वास्तव में बहुत ही कम था ।

व्यापार-चक्र की विभिन्न प्रावस्थाओं को रेखाकृति द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है :

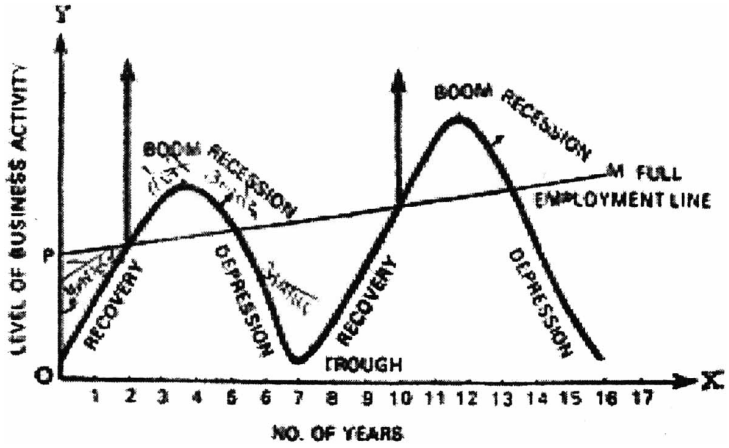

रेखाचित्र 152,

इस रेखाकृति में पी एम पूर्ण रोजगार रेखा है । इस रेखा के ऊपर व्यापार-चक्र की दो प्रावस्थाएँ प्रदर्शित की गयी है-तेजी (boom.), तथा प्रतिसार (recession) । इस रेखाकृति से नीचे भी व्यापार-चक्र की दो प्रावस्थाएँ हैं-पुनरूत्थान (recovery) एवं मन्दी (depression) जैसा कि रेखाकृति में प्रदर्शित किया गया है, व्यापार-चक्र की पाँच प्रावस्थाएं हैं । व्यापार-चक्र मन्दी से प्रारम्भ होता है उसके बाद पुनरूत्थान, समृद्धि तेजी एवं प्रावस्थाओं की प्रावस्थाएँ हैं । अन्त में, पुन: अर्थ-व्यवस्था में मन्दी छा जाती है ।

एक सार्वलाक्षणिक व्यापार-चक्र की पाँच प्रावस्थाएँ होती है लेकिन आपको यह नहीं समझ लेना चाहिए कि प्रत्येक व्यापार-चक्र इन पाँचों प्रावस्थाओं में इसी क्रम में से होकर गुजरता है । सम्भव है कि पुनरूत्थान-प्रावस्था के बाद तुरन्त ही प्रतिसार-प्रावस्था आ जाये । दूसरे शब्दों में, यह सम्भव है कि व्यापार-चक्र समृद्धि एवं तेजी की प्रावस्थाओं में प्रविष्ट ही न हो । वास्तव में, सन् 1937 में अमरीका में ऐसा ही हुआ था । पुनरूत्थान-प्रावस्था के तुरन्त बाद प्रतिसार-प्रावस्था प्रारम्भ हो गयी थी । इसी

प्रकार, व्यापार-चक्र की विभिन्न प्रावस्थाओं की मियाद (duration) के बारे में भी निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता । संभव है कि मन्दी प्रावस्था लम्बी पड़ जाय और उसके बाद पुनरूत्थान की गति तीव्र हो जाय । यह भी सम्भव है कि मन्दी संक्षिप्त हो लेकिन पुनरूत्थान लम्बा पड़ जाय ।

15.12 केन्ज का व्यापार चक्र का सिद्धान्त

अब आपको यह जानना है कि व्यापार चक्र किन सिद्धान्तों पर आधारित होते हैं । वस्तुत: व्यापार चक्र के गैर-मौद्रिक एवम् मौदिक अनेक सिद्धान्त प्रतिपादित होते हे, लेकिन इस अध्याय में केवल केन्ज के व्यापार चक्र सिद्धान्त की ही विवेचना की जा रही है ।

केन्ज ने अपनी पुस्तक सामान्स सिद्धान्त (General Theory) में आय, उत्पादन तथा रोजगार के स्तर की व्याख्या की है अर्थात् यह बताया है कि किसी देश में आय रोजगार में कैसे उतार-चढ़ाव आते हैं यद्यपि केन्ज ने अलग से कोई व्यापार-चक्र का सिद्धान्त प्रतिपादित नहीं किया हैं । परन्तु केन्ज ने अपनी पुस्तक में जो आय तथा रोजगार के बढ़ाने की व्याख्या की है उससे व्यापार-चक्र अथवा आर्थिक उतार-चढ़ाव का पता चल जाता है, क्योंकि आर्थिक उतार-चढ़ाव (व्यापार-चक्र) भी एक प्रकार से आय रोजगार का उतार-चढ़ाव है ।

सिद्धान्त की व्याख्या- पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था में, जहा उत्पादन लाभ के उद्देश्य पर होता है तब प्रत्येक फर्म उतने ही श्रमिकों को रोजगार पर लगाती है जिससे उसे अधिकतम लाभ होता है केन्ज के अनुसार रोजगार का स्तर 'प्रभावपूर्ण मॉग पर निर्भर करता है । प्रभावपूर्ण मॉग कुल व्यय के बराबर होती है । कुल व्यय उपभोग पर व्यय और विनियोग पर व्यय का जोड़ होता है । कुल व्यय (अर्थात् प्रभावपूर्ण माँग) बढ़ने पर रोजगार बढ़ता है और कुल व्यय घटने पर रोजगार घटता है । कभी तो कुल व्यय इतना बढ़ जाता है कि सभी संसाधनों की पूर्ण रोजगार मिल जाता है और कभी कुल व्यय इतना कम हो जाता है कि विशाल बेरोजगारी फैल जाती है । अत: यहा आपको यदि व्यापारिक क्रियाओं अथवा रोजगार स्तर में उतार-चढ़ाव के कारणों को जानना हो तो इसके लिए उन कारणों का अध्ययन करना पड़ेगा जो कुल व्यय (अर्थात् प्रभावपूर्ण माँग) को प्रभावित करते है । चूँकि कुल व्यय उपभोग व्यय और विनियोग व्यय के योग के बराबर होता है, इसलिए कुल व्यय में परिवर्तनों के कारणों की खोज के लिए हमें उन घटोकों का विश्लेषण करना पड़ेगा जो कि उपभोग व विनियोग को निर्धारित करते है ।

उपभोग पर किया गया व्यय समाज की आय और समाज को उपभोग प्रवृति पर निर्भर करता है । आय का वह भाग जो उपभोग पर व्यय किया जाता है काफी स्थायी रहता है । क्योंकि उपभोग पर व्यय, जो उपभोग की आदतों, कर-प्रणाली, आय का वितरण इत्यादि बातों पर निर्भर करता है, में अल्पकाल में कोई परिवर्तन नहीं होता । इसके अतिरिक्त जैसे-जैसे आय बढ़ती है उपभोग पर व्यय बढ़ जाता है परन्तु जिस अनुपात

में आय में वृद्धि होती है उसी अनुपात में उपभोग पर व्यय नहीं बढ़ता है । दूसरे शब्दों में, आय बढ़ने के साथ-साथ आय और उपभोग पर व्यय अधिक होगा और रोजगार को उच्च स्तर पर कायम रखने के लिए अधिक मात्रा में विनियोग करने की आवश्यकता पड़ेगी । चूंकि विकसित देशों में औसत-उपभोग-प्रवृति शत-प्रतिशत नहीं होती इसलिए आय और उपभोग के अन्तर को पूरा करने के लिए विनियोग की आवश्यकता पड़ती है। अन्य शब्दों में, बिना विनियोग में वृद्धि किये रोजगार में वृद्धि नहीं की जा सकती । यही प्रभावपूर्ण मॉग का स्तर है ।

आपको पूर्व में यह समझाया गया था कि उपभोग पर व्यय लगभग स्थिर रहता है इसलिए विनियोग की मात्रा में होने वाले उतार-चढ़ाव ही आर्थिक उच्चावचन के मुख्य कारण हैं । विनियोग की मात्रा दो तत्वों पर आधारित रहती है (1) ब्याज की दर, और (2) पूंजी की सीमान्त उत्पादकता (Marginal Efficiency of Capital) । विनियोग उस बिन्दु तक किया जाता है, जहाँ पर पूंजी की सीमान्त उत्पादकता ब्याज की दर के बराबर हो जाती है । व्याज की दर जो मुझ की मात्रा और द्रवता पसन्दगी (Liquidity Preference) पर निर्भर करती है, कम से कम अल्पकाल में तो स्थायी रहता है इसलिए अतिरिक्त क्रियाओं के उतार-चढ़ाव में इसका कोई महत्वपूर्ण हाथ नहीं रहता । अत: पूंजी की सीमान्त उत्पादकता ही विनियोग की मात्रा का वास्तविक निर्धारक है और पूंजी की सीमान्त उत्पादकता के उतार-चढ़ाव ही विनियोग की मात्रा में उतार-चढ़ाव उत्पन्न करते हैं । अत: केन्ज के शब्दों में, 'व्यापार -चक्र का आवश्यक स्वभाव विशेषकर समयातर की नियमितता ही ऐसे लक्षण हैं जिनके कारण व्यापार को एक चक्र कहा गया है । इस चक्र की गतिशीलता का मुख्य कारण पूंजी की सीमान्त उत्पादकता ही होती है । पूंजी की सीमान्त उत्पादकता में जिस भांति उतार-चढ़ाव आते हैं व्यापार-चक्र भी उसी भांति चलता है । मेरा विचार है कि पूंजी की सीमान्त उत्पादकता के चक्रीय परिवर्तनों के ही कारण व्यापार-चक्र क्रियाशील होता है । '

पूंजी की सीमान्त उत्पादकता दो तत्वों पर निर्भर रहती हैं- (ई) भावी आय, और (ii) पूंजी सम्पत्ति की पूर्ति कीमत । पूंजी सम्पत्ति की पूर्ति कीमत अल्पकाल में स्थिर मानी जा सकती है, इसलिए 'भावी आय' में होने वाले परिवर्तनों द्वारा ही पूंजी की सीमान्त उत्पादकता निश्चित होती है । चूंकि भावी आय की सम्भावनाएँ बदलती रहती हैं, पूंजी की सीमान्त उत्पादकता भी बदलती रहती है, जिससे आर्थिक उतार-चढ़ाव होता रहता है । पूंजी की सीमान्त उत्पादकता को वृद्धि विनियोग में वृद्धि करती है तथा उसके परिणामस्वरूप अर्थ-व्यवस्था में अधिक रोजगार, उत्पादन एवं आय फलित होती है । इस प्रकार संवृद्धि काल का जन्म होता है । पूंजी की सीमान्त उत्पादकता की गिरावट विनियोग की मात्रा को घटाती है जिसके परिणामस्वरूप बेरोजगारी फैलती है और उत्पादन एवं आय का संकुचन होता है । इस प्रकार पूँजी की सीमान्त उत्पादकता के चक्रीय परिवर्तनों के ही कारण व्यापार-चक्र क्रियाशील होता है । व्यापार चक्र की क्रियाशीलता को निम्नाकिंत चार्ट द्वारा आपकों अच्छी तरह से समझाया जा सकता है।

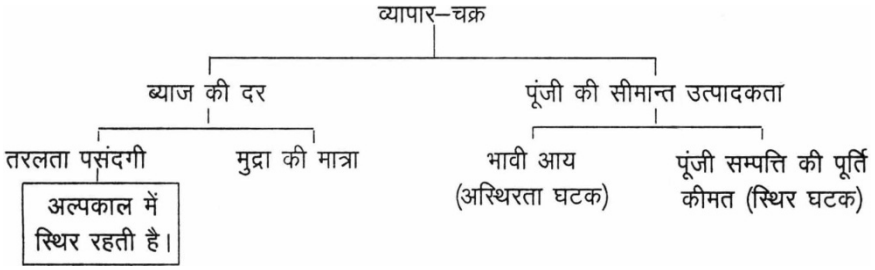

उपयुर्क्त तत्वों की क्रियाशीलता के कारण अर्थ व्यवस्था में तेजी मंदी का चक्र चलता रहता है । इन चक्रों की गति एवम अवधि अनेक तत्वों पर निर्भर करती हैं ।

केन्ज के व्यापार-चक्र सिद्धान्त की आलोचनायें

आलोचकों ने केन्ज द्वारा प्रतिपादित व्यापार चक्र विचारों की कदु आलोचना की है । प्रो. हैजलिट ने प्रो. केन्ज की आलोचना इस आधार पर की है जहा प्रो. केन्ज ने आर्थिक संकटों का कारण पूंजी की सीमान्त उत्पादकता की आकस्मिक गिरावट बताया है । लेकिन प्रो. हैजलिट का के अनुसार MEC नाम का शब्द अति अस्पष्ट है और उसके अनेक सम्भव अर्थ हो सकते है । यदि इस शब्द का अर्थ केवल व्यावसायिक लाभ की भावी संभावनायें(अथवा विश्वास की अवस्थाएँ) ही है तो प्रो. हैजलिट के अनुसार केन्ज का उपर्युक्त कथन पूर्ण रूप से असंगत नहीं है क्योंकि विश्वास की कभी आर्थिक संकट का अभिन्न अंग होती है, किन्तु यही प्रश्न यह है कि आखिर उत्पन्न ही क्यों होता है । और पूंजी की सीमान्त उत्पादकता अकस्मात् ही क्यों गिर जाती है यदि पूंजी की सीमान्त उत्पादकता शब्द का अर्थ पूंजी-परिसम्पत्ति की वर्तमान भौतिक उत्पादकता से ही है तो यह स्पष्ट है कि पूँजी-परिसम्पत्ति की भौतिक उत्पादकता कारण अथवा परिणाम के रूप में संकट के समय समाप्त नही हो जाती और यदि अन्त में पूंजी की सीमान्त उत्पादकता का अर्थ उन वस्तुओं के वर्तमान मौद्रिक मूल्य से है जिनके उत्पादन में पूंजी साज-सज्जा का प्रयोग किया जाता है तो उस मौद्रिक मूल्य की गिरावट पूंजी की सीमान्त उत्पादकता की गिरावट का कारण बन सकती है । किन्तु पूंजी की सीमान्त उत्पादकता की गिरावट के कारण उन वस्तुओं के मूल्य में गिरावट नहीं आती जिनका उत्पादन पूंजीगत साज-सज्जा द्वारा उत्पादित वस्तुओं के मौद्रिक मूल्य में होने वाली गिरावट ही पूंजी की सीमान्त उत्पादकता की गिरावट का कारण बनती है । इसी आधार पर प्रो. हैजलिट इस परिणाम पर पहुँचें हैं कि "प्रो. केन्ज ने पूंजी की समाप्त उत्पादकता की अकस्मात् गिरावट को ही संकट कहा है । संकट की यह व्याख्या या तो असत्य है या एक स्पष्ट भूल है । '

1. **सस्ती मुद्रा नीति-** केन्ज ने सस्ती मुद्रा नीति अथवा नीची ब्याज दरों को आर्थिक संकट का उपचार माना है । परन्तु प्रो. क्राउथर का कहना है कि नीची ब्याज दर साहसी को विनियोग के लिए तैयार नहीं कर सकता । क्राउथर ने ब्याज की नीची दर को पानी से तथा साहसी की घोड़े से उपमा देते हुए लिखा है, घोड़े को तालाब तक ले जाना सुगम है परन्तु उसको पानी पिलाना सुगम नहीं है ।

2. **मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के निकट-**केन्ज के अनुसार पूंजी की सीमान्त उत्पादकता सबसे महत्त्वपूर्ण कारण है, जो साहसी के विनियोग की मात्रा को निश्चित करता है और आर्थिक उतार-चढ़ाव को उत्पन्न करते हैं । परन्तु यह तत्व किस पर आधारित हैं ? केन्ज के अनुसार यह विनियोगकर्त्ता की मनोवृति पर ही आधारित है । यदि यह ठीक है तो केन्ज का सिद्धान्त प्रो. पीगू द्वारा प्रतिपादित मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के बहुत निकट है ।
3. **सरकार नियंत्रित विनियोग नीति-**मन्दी एवं बेरोजगारी से लड़ने के लिए केन्ज ने सरकार-नियंत्रित विनियोग नीति का समर्थन किया है, परन्तु आलोचकों का कहना है कि यदि इस नीति कर लिया जाय तो समूची अर्थ-व्यवस्था उन सरकारी अधिकारियों के हाथों में चली जाएगी पूर्णत: विवेकशील होते हैं, न उन्हें ज्ञात ही होता है । ग्रेट ब्रिटेन के केन्ज के इस उपचार का प्रयोग किया गया था, जिसके कारण उसे भारी हानि उठानी पडी थी ।
4. **व्यापार-चक्र का आगमन-**केन्ज का सिद्धान्त यह बताने में असमर्थ है कि व्यापार-चक्र बार-बार एक नियत समय पर हो क्या आते हैं तथा उनका एक नियत मार्ग क्यों बना हुआ है ।
5. **केन्ज का गुणक सिद्धान्त व्यापार चक्र की गति की व्याख्या नहीं कर पाता है ।** गति की व्याख्या त्वरक सिद्धान्त द्वारा होती है जिसकी और केन्ज ने कोई ध्यान नहीं दिया है ।

   इस सिद्धान्त की विवेचना से आप यह निष्कर्ष निकालने में समर्थ हो गये होंगें कि अन्य सिद्धान्तों की भाँति केन्ज के व्यापार-चक्र सम्बन्धी विचार भी त्रुटिपूर्ण है । पूर्वक देखा जाय तो केन्ज का सिद्धान्त पीगू के मनौवैज्ञानिक सिद्धान्त के बहुत निकट आ जाता हैं । वस्तुत: इसमें कोई मौलिकता नही है, केवल प्रस्तुत करने का ढंग भिन्न है।

15.13 निष्कर्ष

उपयुक्त विवेचना से स्पष्ट हो गया कि व्यापार-चक्र पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की मूल विशेषता होती है तेजी एवम् मंदी का चक्र सतत रूप से आता रहता हे । लेकिन इसकी अवधि एवम् गति के बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा, सकता है । व्यापार चक्र के क्रियाशीलता अनेक कारण होते है जिनका सामुहिक प्रभाव व्यापार-चक्र पर पड़ता है । विकासशील राष्ट्रों में व्यापार चक्र की मूल विशेषताए नहीं पाई जाती है । इन अर्थव्यवस्था में एक चक्र सतत् रूप से चलता है वह है मुद्रा प्रसार कीमत स्तर में सतत् रूप से वृद्धि होती रहती है । लेकिन उत्पादन उसी अनुरूप नहीं बढता है एवम् बेरोजगारी में वृद्धि होती रहती है ।

15.14 शब्दावली

1. **प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री-** मार्क्स ने रिकार्डो तथा जेम्स मिल और उनके पूर्णवर्ती अर्थशास्त्रियों को प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री की संज्ञा दी थी ।

2. **'से' का नियम-** "पूर्ति ' अपनी मांग स्वयं उत्पन्न कर लेती हैं "
3. **प्रभाव पूर्ण मांग-** यह उस सम्पूर्ण खर्च अथवा व्यय को व्यक्त करती है जो रोजगार के किसी सन्तुलन-स्तर पर किये गये सम्पूर्ण उत्पादन पर किया जाता है
4. **पूंजी की समान्त दर-** यह वह दर होती है जिस पर किसी पूँजी-परिसम्पत्ति की भावी प्राप्ति में से बट्टा काटकर उसको पूर्ति-कीमत के समतुल्य बनाया जाता है ।
5. **उपभोग- प्रवृति -** उपभोग-प्रवृत्ति या क्रिया आय तथा उपभोग के बीच फलनीय सम्बन्ध को व्यक्त करती है । आय के भिन्न-भिन्न स्तरों पर कुल आय तथा उपभोग व्यय के बीच फलनीय सम्बन्ध को व्यक्त करने वाला विवरण उपभोग-प्रवृति अनुसूची कहलाता हैं ।
6. **गुणक-** विनियोग-परिवर्तन के कारण आप में होने वाले परिवर्तन के अनुपात को गुणक कहते हैं ।
7. **त्वरक-** उपभोग की मात्रा में होने वाले परिवर्तनों से विनियोग की मात्रा पर पड़ने वाले प्रभावों की माप हरक द्वारा की जाती है ।

15.15 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. प्रतिष्ठित रोजगार सिद्धान्त का प्रमुख आधार क्या हैं ?
2. कींस के रोजगार सिद्धान्त के प्रमुख उपकरणों की विवेचना कीजिए ।
3. कींस के रोजगार सिद्धान्त की चार प्रमुख आलोचनाए बतलाइये ।
4. व्यापार चक्र को परिभाषित कीजिए एवम् इसकी पाँच प्रमुख विशेषताए बतलाइये ।
5. व्यापार चक्र की प्रमुख अवस्थाओं की विवेचना कीजिए ।

15.16 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. मौद्रिक अर्थशास्त्र - एम.एल.सेठ
2. मौद्रिक अर्थशास्त्र - टी.टी सेठी
3. मौद्रिक अर्थशास्त्र - वी.सी. सिन्हा, पुष्पा सिन्हा
4. समष्टि अर्थशास्त्र - वी.सी.सिन्हा

ISBN No. : 13/978-81-8496-161-4